मूल्य और मूल्यांकन

मूल्य और मूल्यांकन

[उच्च कक्षाओं के उपयुक्त समीक्षात्मक साहित्यिक निबन्ध]

रामरतन भटनागर एम० ए०, डी०, फिल०
हिन्दी-विभाग
सागर विश्वविद्यालय, सागर

१९६२

भारती साहित्य मन्दिर
फव्वारा — दिल्ली

भूमिका

मूल्य और मूल्यांकन की समस्या साहित्य की नई समस्या नहीं है क्योंकि प्लेटो और वाल्मीकि के समय से यह चर्चा का विषय है परन्तु आधुनिक युग में जब मानव-मन ग्रहग्रस्त और बुद्धिगर्वी हो गया है इस समस्या ने विषम रूप धारण कर लिया है। १९२३ में इलियट ने एक निबन्ध लिखकर यह दिग्दर्शित किया था कि साहित्य का रसास्वादन ही अभिप्रेत नहीं है, उसकी शास्त्रीय पीठिका भी उतनी ही, या अधिक, महत्त्वपूर्ण है। फलस्वरूप नए-नए शास्त्रों का आधार लेकर साहित्य और कला का मूल्यांकन करने की प्रथा चली और साहित्य के मूल्य उसके भीतर नहीं, बाहर प्रतिष्ठित हुए। इसे जीवनवादी पश्चिम की प्लेटो और अरिस्टाटिल की परम्परा की परिणति ही कहा जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ऑरनाल्ड ने काव्य को जीवन-समीक्षा कहकर जिस बहिरंगी मूल्यांकन का सूत्रपात किया था उसने रसात्मक संवेदना को पीछे डाल कर समीक्षा को शास्त्रों की भूलभुलैयों में इकेला छोड़ दिया और वह दिग्भ्रांत और चमत्कृत होकर रह गई। इसी समय आई० ए० रिचर्ड्स ने मूल्यों की बात स्पष्ट रूप से उठाई और बड़े विस्तार से उनकी विवेचना की। इलियट ने अपने नये ग्रन्थ 'पोएट्री एण्ड पोएट्स' (१९५२) में प्रत्यावर्त्तन किया है और काव्य तथा साहित्य की शास्त्रीय व्याख्याओं को परिक्रमा मात्र मान कर फिर एक बार रसास्वादन अथवा विशुद्ध साहित्यिक मूल्यांकन का आग्रह किया है। इस प्रकार मूल्य और मूल्यांकन की समस्या लौट-फिर कर वहीं आ गई है जहाँ से इलियट ने उसे उठाया था।

इस सम्बन्ध में कुछ कठिनाइयाँ स्पष्ट हैं। एक तो यह कि हम धर्म और नीति जैसे महत्त्वपूर्ण परम्परागत जीवन-मानों को अस्वीकृत कर चुके हैं और जीवन को उसके सहज, भावनात्मक एवं रसाग्रही रूप में ग्रहण ही नहीं करना चाहते। शास्त्रीय और वैज्ञानिक बनने के लोभ को छोड़ना हमारी शक्ति से बाहर की चीज है। काव्य और साहित्य से तादात्म्य को हम ने महत्त्व देना छोड़ दिया है और उसके स्थान पर तादात्म्य की व्याख्या को ही सब कुछ मान लिया है। तादात्म्य की अनुभूति नहीं, उसका विश्लेषण, तत्सम्बन्धी ऊहापोह और अन्वेषण ही हमारी चेतना पर छा गया है। दूसरी बात यह है कि हम सहृदय पाठक को अखण्डित इकाई नहीं मानते। हमने उसके खण्ड-खण्ड कर लिये हैं। धर्म, नीति, शास्त्र और सौन्दर्यबोध को हमने अलग-अलग खानों में डाल दिया है और इन सब को भी जीवन-व्यवहार से एकदम अलग और स्वतन्त्र मान कर अखण्ड जीवन-चेतना को बहुमुखी और क्षणजीवी बना दिया है। काव्य, साहित्य और कला शाश्वत जीवनधर्म के वाहक न होकर क्षणिक उत्तेजना में सिमट आए हैं और उनमें विशुद्ध सौन्दर्य के आयाम खोजे जाने लगे हैं। 'आर

पोएट्री' (विशुद्ध काव्य) का फ्रांसीसी आन्दोलन इसी प्रकार का प्रयत्न है। काव्य की इस विशुद्धता को प्रतीक और भाषा में बन्दी मान लिया गया है और प्रतीकात्मक एवं भाषात्मक अध्ययन की बाढ़ आ गई है।

स्पष्ट ही यह स्थिति मूल्यों के संकट की ओर निर्देश करती है। संकट काव्य और कला के क्षेत्र में ही नहीं, जीवन के क्षेत्र में भी है। वास्तव में बदलती हुई जीवन-चेतना ही जीवन के साथ काव्य और कला के क्षेत्र मे भी संकट उत्पन्न कर रही है। शताब्दियों के जीवन-मान अग्राह्य हो रहे हैं और सम्पूर्ण मानव-चेतना का प्रतीक साहित्य बुद्धि की चोटों से खण्डित और क्षत-विक्षत है। धर्म और मोक्ष तिरस्कृत है, अर्थ और काम ही जीवन की भाँति साहित्य और कला में भी असंतुलित विस्तार प्राप्त कर रहे है। प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) और प्रयोगवादी (प्रतीकवादी) साहित्य-चेतनाएँ हमारे खण्डित पुरुषार्थ को ही व्यंजित करती है। वर्ग-संघर्ष के साहित्य में जहाँ दैन्य का वैभव है वहाँ यौनमूलक साहित्य अन्तश्चेतना के वैचित्र्य और कामकुण्ठा के अवसाद को ही सब कुछ मान कर चलता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह होता है कि आखिर मनुष्य का पुरुषार्थ ही क्या है, या उसके जीवन को यों अलक्षित छोड़कर क्या हम श्रेष्ठतम साहित्य और कला की सृष्टि भी कर सकते हैं। क्या साहित्य और कला को हम अभिव्यक्ति का कौशल मात्र मान लेंगे और इस बात से एकदम दृष्टि हटा लेंगे कि उनमे मनुष्य की विकृति का चित्रण है या स्वास्थ्य का ? नया होना ही एकमात्र जीवन, साहित्य और कला की सार्थकता होगी ? या हम मूल्यों के संकट के इस युग में उन्हें फिर निश्चित मूल्यों की ओर मोड़ेंगे ?

समीक्षा के नए मूल्यों की खोज करते समय हमें उसके ऐतिहासिक विकास की ओर ध्यान देना होगा। आरम्भ में समीक्षा सतही या वायवी प्रश्नों से अपना मन बहलाती रही है। उसके समाधान बहुधा शिल्पगत रहे हैं,—साहित्य अथवा काव्य की विभिन्न कोटियाँ और उनके भेद-प्रभेद, पिंगल, अलंकारशास्त्र, गुणरीति और वक्रोक्ति। पश्चिम मे भी ग्रंथों, ग्रंथकारों और पात्रों के सम्बन्ध में अनेक दिलचस्प बातों का समावेश साहित्य के इतिहास और समीक्षा में हुआ है जिसके फलस्वरूप समीक्षा सर्जनात्मक साहित्य पर परजीवी मान ली गई है। उन्नीसवीं शताब्दी मे पश्चिम में समीक्षा मूल ग्रंथ की विषय-वस्तु की प्रकारान्तरीय विचारणा बनकर "असफल कवि आलोचक बन जाता है" उक्ति की चरितार्थता बनी। प्राचीन भारतवर्ष में रस और ध्वनि को लेकर और पश्चिमी साहित्य-जगत में आस्वकीय आनन्द की बात को लेकर साहित्य के अन्तरंगी मूल्यों की ओर भी दृष्टिपात किया गया परन्तु अधिकतः वह रचनाओं से असंपृक्त विशुद्ध सैद्धांतिक ऊहापोह मात्र रह गया। २०वीं शताब्दी में ही समीक्षा अपने स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण अस्तित्त्व की स्थापना कर सकी है परन्तु निश्चित मूल्यों के अभाव में उसका मूल्यांकन अनिर्दिष्ट और असार्थक रहा है।

इस पृष्ठभूमि में समीक्षा की आज को स्थिति पर विचार करना उपयुक्त होगा। आज हम सांस्कृतिक संक्रांति के युग में जी रहे हैं। सांस्कृतिक विघटन के युगों में सांस्कृतिक परम्परा या परम्पराओं की ओर आकर्षित होना अनिवार्य बात है परन्तु हमारे दुर्भाग्य से परम्परा से साक्षात्कार का एक ही मूलाधार हमारे पास रह

गया है वह है साहित्य और कला। पुरातन युगों और संस्कृतियों की अभिव्यक्ति जितनी पूर्णता से साहित्य मे होती है उतनी कलाओं में भी नही। अत साहित्य हमारी सांस्कृतिक परम्पराओ को उजागर ही नहीं करता, वह उनमे अन्तर्निहित जीवन-सत्यो की ओर इंगित करता है। प्रश्न यह है कि क्या ये जीवन सत्य धर्म, दर्शन और नीति का स्थान ले सकते हैं और हमारी सौन्दर्यचेतना के विकास तथा पोषण मे ये कहाँ तक उपादेय हैं। यह स्पष्ट है कि साहित्य हमारी अखण्ड जीवन चेतना की अभिव्यक्ति है और उसमे खण्ड दर्शनो तथा एकांगी नैतिक स्थापनाओ से कहीं बड़े सत्य की प्रतिष्ठा होती है। अतीत के अध्ययन से हम यह जानना चाहते हैं कि क्या चला गया और भविष्य के लिए वह कहाँ तक हमारा पथ प्रदर्शन करता है। सांस्कृतिक इतिहास मानव जीवन के परिपूर्ण उत्कर्ष के लिए उत्तरदायी उपसर्गों की ओर इंगित कर सकता है और काव्य तथा साहित्य मे अभिव्यक्ति के अन्य स्वरूपों की अपेक्षा सांस्कृतिक इतिहास के कहीं अधिक पक्ष या परिपार्श्व उद्घटित होते हैं। केवल अन्तरंग ही नहीं, बहिरंग भी हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है क्योकि शैली शैलीकार को ही अभिव्यक्त नहीं करती, युग को भी उतना ही अभिव्यक्त करती है। शैलीगत और अर्थगत मनोवैज्ञानिक अध्ययन युग की अवचेतनीय आकांक्षाओ और परोक्ष चेतनाओं पर भी प्रकाश डालते हैं। कवि और लेखक का जीवन के प्रति दृष्टिकोण वक्तव्य मे ही नही, शैली मे भी अन्तर्निहित रहता है। व्यक्ति और समाज को ठीक सदर्भ देकर और उन्हें सांस्कृतिक इतिहास के विभिन्न आयामो से जोड़कर हम विकासमान मानवात्मा के स्पन्दनो तथा परिवर्त्तनों का सूक्ष्म अध्ययन कर सकते हैं और इन अनित्य एव परिवर्तनशील तत्त्वो मे नित्य तथा चिरतन का अनुमान लगा सकते हैं।

साहित्य के इस सांस्कृतिक और समग्रस्त अध्ययन के लिए हमें प्रज्ञात्मक ज्ञान या अन्तर्ज्ञान की आवश्यकता है और उसमे धर्म, नीति, दर्शन तथा सौन्दर्य का समावेश अनिवार्य है, परन्तु वह शास्त्रगत न होकर साहित्यगत (या काव्यगत) होगा। परम्परा के सामग्रिक परिचय का एकमात्र साधन आज साहित्य ही रह गया है और परम्परा की साहित्यिक अभिव्यक्ति के भीतर से हमे अन्तर्ज्ञान के द्वारा चिरतन सत्य के मोती लाना है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि यह अन्तर्ज्ञान क्या नैतिक, धार्मिक या आत्मिक दृष्टिकोणो से भिन्न चीज है? अन्तर्ज्ञान का मापदण्ड क्या होगा? आधुनिक समीक्षक 'धर्म' शब्द को बचा जाना चाहता है परन्तु उसके जीवन-मूल्य निश्चितरूप से उस परम्परागत धर्म के अवशेषो से भरे-पूरे हैं जिनके संस्कारो से वह अभी अपने को मुक्त नहीं कर पाया है। ऐसी स्थिति मे समीक्षक की धार्मिक और नैतिक भावनाएँ अनजाने ही उसके मूल्य और मूल्यांकन में घुस जायेंगे। जो हो, यह स्पष्ट है कि धर्मनिरपेक्ष जीवन-चेतना के इस युग में भी धर्म हमारी चेतना से बहिष्कृत नहीं हो सका है और साहित्यिक अन्तर्दृष्टि नए नाम से उसी का स्थान ग्रहण कर रही है।

काव्य या साहित्य मे लेखक की सफलता या असफलता उसके अभीप्सित लक्ष्य को लेकर है परन्तु इस लक्ष्य की सार्थकता तथा महत्ता का मापदण्ड भी तो होना चाहिए। यह मापदण्ड क्या होगा? इसे जीवन-चेतना का सूक्ष्मतम स्वरूप कह

सकते हैं जो धर्मदृष्टि का ही पर्यायवाची है। साहित्य समीक्षा में विशुद्ध सौन्दर्यात्मक या रसात्मक मापदण्ड असम्भव कल्पना है क्योंकि उसमें भाव-सौन्दर्य और अभिव्यक्ति सौन्दर्य के साथ विषय-वस्तु की महत्ता और प्रज्ञा की गम्भीरता भी अन्तर्निहित रहती है। विषय-निर्वाह और प्रज्ञादृष्टि से ही प्रौढ़ता के विभिन्न स्तरों की सृष्टि होती है और इन दोनों का साहित्यकार के परिपूर्ण व्यक्तित्व और अन्तश्चेतनीय जीवन से अन्यतम सम्बन्ध है। गहरे जाकर काव्य और साहित्य की इसी अन्तरंगी जीवन-चेतना को श्रेष्ठतम मूल्य मान कर उसे हमें अपने मूल्यांकन का आधार बनाना है। चाहे स्वरक्षा के लिए ही हो, हमें अपनी साहित्यदृष्टि को धर्मदृष्टि का स्थानापन्न बनाना होगा। हमारी समीक्षा ध्वंसात्मक न होकर निर्माणात्मक हो और वह तर्कवाद के स्थान पर उस प्रज्ञात्मक दृष्टि का उपयोग करे जो इतिहास को भेदती हुई चली जाती है और मानव-जीवन के लक्ष्य तथा प्रकृति के सम्बन्ध में हमारी मूल धारणाओं को ही बदल देती है। सतही दृष्टि से न देखकर हम काव्य और साहित्य को गम्भीर और संश्लिष्ट जीवन-चेतना के भीतर से देखें और सिद्धान्त-वाद के कवच को तोड़कर सर्जनात्मक कल्पना के मर्म में प्रवेश करें। संक्षेप में, हमारी समीक्षा-दृष्टि ऋषिदृष्टि हो जो सीधे मंत्र के मर्म में उतर सके।

काव्य और साहित्य सांस्कृतिक चेतना (इतिहास) के भीतर से हमें 'धर्मदृष्टि' से सम्पन्न करते हैं, भले ही चाहें हम उसे कोई दूसरा नाम दें, या कोई नाम भी न दें। हम यह नहीं कहते कि साहित्य-समीक्षक को धर्म की टेक चाहिए क्योंकि तब प्रश्न उठ सकता है कि अनेक धर्मों में से कौन धर्म हो, परन्तु साहित्य के भीतर से हम वह सत्य चाहते हैं जो बिना किसी तर्कवाद या सिद्धान्तवाद के व्यापक रूप से मानवीय अनुभूति का सत्य बन सकता है। विश्वात्मा के रहस्य तर्क, विज्ञान या दर्शन से नहीं खुलते। इसी तरह कवि की मानसी मूर्त्ति तक पहुँचने के लिए हमें प्रभावोन्मुखता और संवेदनात्मकता चाहिए। हम अपनी संवेदनाओं को आन्दोलित होने दें और कवि की कल्पना तथा भावना जिस ओर हमें ले जाती हों उसी ओर बहने के लिए अपने को उन्मुक्त छोड़ दें। जीवन के अर्थ जैसे जीकर ही खुलते हैं, उसी प्रकार काव्य और साहित्य के अर्थ उसी समय खुलेंगे जब हम उन्हें जियेंगे, अर्थात् कवि अथवा साहित्यकार की संवेदना को अपनी अनुभूति का चरम बिन्दु बना लेंगे। तर्कशास्त्र और दर्शनशास्त्र का युग बीत गया,—हमें एक नई पीठिका की आवश्यकता है जिस पर खड़े होकर हम अपने चारों ओर के संसार को आत्मिकता के सूत्रों में बांध सकें। इसीलिए आज साहित्य और कला का महत्त्व बढ़ गया है और अर्थविज्ञान, प्रतीकविधान, प्रतिमान और देवकथाओं ('मिथ') के अध्ययन से हम विशृंखलित हो गए जगत को अपने लिए एकान्वित और सार्थक बनाना चाहते हैं। हमें बौद्धिकता की नहीं, हार्दिकता की आवश्यकता है। बुद्धिगर्भित दार्शनिक व्यवस्था ने आज तक मानव-मन को पूर्ण तोष नहीं दिया है, परन्तु कालिदास, शेक्सपिअर, गेटे और तुलसीदास की रचनाओं के अनुभूति-बंध हमें परिपूर्ण तोष देते हैं और उनकी महान् कृतियां हमारी जीवन-दृष्टि का ही परिष्कार नहीं करतीं, हमारी जीने की शक्ति को भी तीव्र करती हैं। निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि रसास्वादन

की प्रक्रिया में ही साहित्य और कला के मूल्य अन्तर्निहित हैं परन्तु कृति के रसास्वादन के मूल में सहानुभूति, प्रेम और आत्मीयता के चरम विकास का तत्त्व भी स्थापित है। ऋषि जिसे ब्रह्मानुभूति या आत्मरमण कहते हैं वही काव्य और कला मे प्रेम का तत्त्व है जो जीवन का अखण्ड, समग्रगत और अनन्वयी रूप मे ग्रहण और आस्वादन करना है। श्रेष्ठतम मूल्य वही है जो हमारे मन को अनुभूति के व्यापकतम और गहनतम आयामो के प्रति पूर्णत उन्मुक्त कर सके और वही दर्शन सत्य है जो जीवन को अधिकाधिक बिन्दुओ पर स्पर्श करे। कलाकृति को हम धार्मिक, राजनीतिक अथवा अर्थशास्त्रीय मानदण्डों पर नही आकें जो उसकी सौन्दर्य-चेतना के बाहर पडते हैं, न बलात् इन बौद्धिक चेतनाओ से उसका सम्बन्ध स्थापित करें। हम तद्वत् रूप मे ही उसका ग्रहण, आस्वादन तथा व्याख्यापन करें। सब शास्त्रीय सम्बन्धो से मुक्त कर कृति को उसकी अन्तरात्मा की गहराई मे ले जाकर देखना गम्भीरतम प्रज्ञात्मक दृष्टि का कार्य है क्योंकि वहाँ उसके विविध और विरोधी उपकरण इकाई मे समीकृत हो जाते हैं। वहाँ कृति चित्तवृत्ति की अभिव्यक्ति-विशेष या कलाकार की अनुभूति-समष्टि बन जाती है। वह एक होकर भी अनेक दुनियाओ को सपुटित करती है। अन्तर्बोधी, उदार और सर्वग्राही दृष्टि से ही उसे स्वसवेद्य बनाया जा सकता है। हमे रचनाकार की अन्तर्दृष्टि की विशेषता, तरलता और सूक्ष्मता को देखना होगा और जानना होगा कि वह मानवीय अनुभवो के प्रति किस सीमा तक सवेदनाशील है। इसके लिए हमे अतत अपनी ही अन्तर्दृष्टि को मापदण्ड बनाना होगा। श्रेष्ठतम कलाकृतियाँ हमे यह अन्तर्दृष्टि दे सकती हैं और नई रचनाओं की परख से हम अपनी अन्तर्दृष्टि को निरन्तर मूल्यवान, सुसस्कृत तथा तीक्ष्ण बनाए रख सकेंगे।

हिन्दी विभाग,
सागर विश्वविद्यालय
वसन्त पचमी, १९६२

—राम रतन भटनागर

विषय-सूची

१

मूल्य

: १

रस-सिद्धान्त और केथारसिस

रस-सिद्धान्त और केथारसिस दोनों का जन्म नाटक के क्षेत्र में हुआ। रंगमंच पर उपस्थित नाट्य प्रेक्षक में किस प्रकार अथवा किस कोटि की अनुभूति उत्पन्न करता है, उस विशिष्ट संवेदन का मूल स्रोत एवं स्वरूप क्या है, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के प्रयत्न ने यूनान और भारतवर्ष में दो विभिन्न सिद्धान्तों को जन्म दिया। भारतीय आचार्यों ने 'रस' के रूप में एक लोकोत्तर, विशिष्ट और सूक्ष्म अनुभूति की कल्पना की, जिसे उन्होंने 'ब्रह्मानन्द सहोदर' (विश्वनाथ), बतलाया और जिसे उन्होंने सर्वमुख सर्वोत्तम माना। इस रस की प्रतिष्ठा नाटककार में है, या नट में, या सहृदय में, इस सम्बन्ध में भी विचार हुआ और भरत के प्रसिद्ध सूत्र 'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' की अनेक प्रकार से व्याख्या हुई। रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया के विषय में चार महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का जन्म हुआ। इनमें भट्ट लोल्लट का सिद्धान्त मीमांसकों के मत पर आधारित है, शंकुक का आधार न्याय शास्त्र है, भट्ट नायक का सांख्य और अभिनवगुप्त का अलंकार-मत। वास्तव में साहित्य के 'रस' और दर्शन के 'आनन्द' तत्त्व का एकीकरण हो जाने के कारण दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रवेश अनिवार्य हो गया था। फल यह हुआ कि लगभग सभी प्रचलित दर्शनों के आधार पर रसवाद की व्याख्या हुई।

रस-सिद्धान्त यद्यपि मूलरूप में नाट्य सिद्धान्त था और नाटक के भावात्मक दृष्टिकोण को सामने रखकर उसकी योजना हुई थी, परन्तु कालान्तर में काव्य के क्षेत्र में भी उसका प्रवेश हुआ। आरम्भ में कदाचित् काव्य में 'अलंकार' का प्राधान्य था और काव्य शास्त्र को अलंकार-शास्त्र कहा जाता था परन्तु पश्चात् रस काव्य का प्रमुख अंग बन गया और कालान्तर में 'रसवत् अलंकार' में अलंकार को रसवाद में ही अन्तर्भुक्त कर लिया गया। ४०० ई० के लगभग मूर्तिकला के क्षेत्र में व्यंजना के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई और बौद्ध दार्शनिक बुद्धघोष में उसका प्रारम्भिक स्वरूप मिलता है। परन्तु नवीं शताब्दी में जब ध्वनिकार और अभिनवगुप्त के द्वारा साहित्य के क्षेत्र में 'ध्वनिवाद' की स्थापना हुई तो रसवादियों ने 'रसध्वनि' की कल्पना के द्वारा अपने सिद्धान्त को इतना व्यापक बनाया कि ध्वनि का सिद्धान्त उसका अंग मात्र बन गया। इस प्रकार नाटक के संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकल कर 'रस' काव्य और कला के सभी क्षेत्रों में सम्मान्य हुआ। भारतीय दृष्टि से साहित्य-संगीत-कला के समस्त क्षेत्रों में आज रस सिद्धान्त का प्रसार है और उसके द्वारा भारतीय कलादृष्टि को निःसन्देह एकान्विति प्राप्त हुई है। व्यापकता और गम्भीरता

की दृष्टि से रस-सिद्धान्त केथारसिस-सिद्धान्त से कहीं उत्कृष्ट और सफल जान पड़ता है। जहाँ केथारसिस-सिद्धान्त नाट्य क्षेत्र से बाहर निकल कर 'काव्य' के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सका है, वहाँ अन्य कलाओं के क्षेत्र में उसकी उपयोगिता की बात ही नहीं उठती।

एक तरह से केथारसिस-सिद्धान्त केवल एक विशिष्ट रस (करुण रस) तक सीमित रह जाता है। भारतीय रस-दृष्टि जीवन के संपूर्ण "सरगम" पर दौड़ती है। उसमें रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय आठ स्थायी भावों की सम्पूर्ण अवस्थिति है। यही स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से पुष्ट होकर 'रस' की पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं और क्रमशः शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत रस का रूप धारण करते हैं। रस-सिद्धान्त की सबसे मौलिक सूझ तैंतीस व्यभिचारी भावों की कल्पना है जो देश, काल और परिस्थिति के अनुरोध से नाट्य प्रयोग के समय विभिन्न स्थायी भावों को समृद्ध करते हैं और फलस्वरूप विशिष्ट-विशिष्ट रस-निर्मिति में सहायक होते हैं। रसज्ञ का अंतस् भावालोड़ित 'रसार्णव' कल्पित किया गया है जिसमें सार तत्व है स्थायी भाव। संचारी भाव-तरंगें इस स्थायी भाव को समृद्ध कर उसे रसस्थिति पर पहुँचा कर उसी में लीन हो जाती हैं और नयी परिस्थितियों के अनुरोध से नये आलोड़न का जन्म होता है और अन्त में रस-दशा का स्वरूप बदल जाता है। इस प्रकार समस्त सौन्दर्य-संवेदन या रागात्मिक (भाव) सृष्टि के मूल में निर्विशेष रस-तत्व की उसी प्रकार प्रतिष्ठा हो जाती है जैसे तत्व-दर्शन में ब्रह्म ही चिन्मय सृष्टि का केन्द्र है। रस-सिद्धान्त में जिन तैंतीस संचारियों की योजना है उन्हें मनोशास्त्री 'इमोशन्स' (भावना) का ही विविध स्वरूप मानते हैं और शारीरिक अवस्था, ग्लानि, भय, श्रम, आलस्य, जड़ता, मोह, निद्रा, अपस्मार, सुप्ति, प्रबोध, व्याधि, उन्माद, मरण, प्राथमिक भावना, शंका, अमर्ष, त्रास, गर्व, साधित भावना, औत्सुक्य, दैन्य, विषाद, हर्ष, धृति, चिन्ता, निर्वेद, संमिश्र भावना, व्रीड़ा, असूया, भाव-तीव्रता, चपलता, आवेश, उग्रता और ज्ञानात्मक मनोवस्था, मति, वितर्क, अवहित्थ, स्मृति, के अंतर्गत रखते हैं। इसमें संदेह नहीं कि रस-शास्त्र आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों पर पूरा उतरता है और उसमें मानवीय संवेदनाओं की भूमिका पर सौन्दर्यानुभूति अथवा रागानुभव की व्याख्या बड़े सुन्दर रूप में हुई है। रस-निष्पत्ति और रसास्वाद के सम्बन्ध में भले ही मतभेद रहे हों, 'रस' की वास्तविकता और उसकी विशिष्टता के सम्बन्ध में भारतीय मनीषा एकमत है। पश्चिम को दुःखानुभूति की रम्यता की व्याख्या करने के लिए अरिस्टाट्ल के समय से आधुनिक काल तक बराबर परिश्रम करना पड़ा है और वह सम्भवतः सर्वमान्य और संपूर्ण व्याख्या अभी तक उपस्थित नहीं कर सका है। परन्तु भारतीय रस-सिद्धान्त साधारणीकरण-सिद्धान्त के विकास के द्वारा रसास्वादन को लोकोत्तर और तटस्थ स्थापित कर इस समस्या का सम्यक् समाधान प्रस्तुत कर सका है।

रस, रसास्वादन-प्रक्रिया और साधारणीकरण को आधुनिक मनोविज्ञान-शास्त्र की मान्यताओं से पुष्टि ही प्राप्त होती है। वरनान ली के मतानुसार रसा-स्वादन-प्रक्रिया सहानुभवमूलक है। इस सहानुभव के लिए उसने 'एस्थेटिक सिमपेथी'

शब्द का उपयोग किया है, परन्तु एक दूसरा काव्य-समीक्षक सी० जी० शा इसे 'स्प्रिचुग्रल सिमपेथी' कहता है। रसास्वादन प्रक्रिया के मूल में प्रेक्षक का तटस्थ भाव है जिसके कारण उसमें प्रखर सहानुभूति का विकास होता है और जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों की भावना के आकलन में सफल एवं समर्थ होता है। सहानुभूति-पूर्ण तादात्म्य ही वह विधान है जिसके द्वारा अनेक व्यक्तियों की भावना का स्वारस्य सम्भव है। यह प्रक्रिया बहुत अंशों में 'कल्पना' से भिन्न नहीं है और इस प्रकार पूर्ण तादात्म्य मानवी भावनाओं पर आधारित होने के कारण पशु पक्षियों और वनस्पतियों पर भी आक्षेपित हो सकता है। मनोविज्ञान के अन्तर्गत हम इसे 'एम्पथी' के अन्तर्गत रख सकते हैं। वास्तव में जिसे आचार्यों ने साधारणीकरण कहा है उस काव्यास्वाद-प्रक्रिया को हम 'कल्पनाशक्ति द्वारा निर्मित तादात्म्य' या 'स्वायत्तत्व-तादात्म्य' कह सकते हैं। यद्यपि 'स्वायत्तत्व' और 'तादात्म्य' की प्रक्रियाएँ परस्पर विरोधी हैं परन्तु रसास्वादन की सविकल्प समाधि की स्थिति में इस विरोध का परिहार हो जाता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि रस-सिद्धांत में सार्वभौमिक कला-सिद्धान्त बनने की अपूर्व क्षमता है और उसमें एक ओर योगदर्शन का सार आ जाता है तो दूसरी ओर आधुनिक मनोवैज्ञानिक खोजों से उसकी पुष्टि होती है। उसमें केवल मात्र 'करुण' भाव की आस्वादन प्रक्रिया के ही विवेचन का प्रयत्न नहीं है, जैसा कैथारसिस-सिद्धान्त में है। हम करुण भावनाओं की आस्वादन प्रक्रिया को अन्य भावनाओं की आस्वादन-प्रक्रिया से भिन्न क्यों मानें। फलस्वरूप रस सिद्धांत की व्यापकता उसके उत्कर्ष का पग बन जाती है।

'कैथारसिस' की व्याख्या करते हुए अरिस्टाट्ल ने स्पष्ट कर दिया है कि करुण-नाट्य के प्रेक्षक में अनुकम्पा और भय की भावनाओं को विकसित कर देने से इन दोनों भावनाओं का विरेक (विरेचन) हो जाता है। लगभग २५०० वर्षों से इस कैथारसिस-सिद्धान्त की व्याख्या होती रही है, परन्तु निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि अरिस्टाट्ल का मूल मन्तव्य क्या था। टीकाकारों ने अपने युग की साहित्य विषयक चिन्ता प्रणाली को अरिस्टाट्ल पर आरोपित किया है और फल-स्वरूप इस सूत्र को लेकर अनेक प्रकार की खींचातानी ही हुई है। सत्रहवीं शताब्दी के साहित्य विचारकों के अनुसार ट्रैजडी के करुण और भीषण दृश्यों को देखने से भावक में इन भावनाओं को सहन करने की सामर्थ्य विकसित होती थी। मनुष्य स्वभावतः करुणा और भय की भावनाओं के प्रति संवेदनशील है। इन भावनाओं के कारण ही वह भावुकता और मानसिक दौर्बल्य का शिकार हो जाता है। ट्रैजडी के दर्शन से प्रेक्षक व्यावहारिक रूप से दुःख-सहन के लिए अपने मन को सशक्त बनाने में सफल होता है। फ्रेंच कवि और साहित्य शास्त्रकार कार्नें, (१६०६-१६८४) ने एक दूसरी तरह कैथारसिस की व्याख्या की है। जब हम ट्रैजडी में किसी विशेष प्रकार के कर्तृत्व द्वारा नायक को पथ-पतित होकर विनष्ट होते देखते हैं तो उसकी तुलना में अपनी दुर्बलता और असमर्थता का अनुभव करते हुए नायक की परिस्थिति स्वयं पर आरोपित कर अपनी ही भयंकर दशा की अनुभूति से भीतर भीतर

विचलित हो उठते हैं। इस प्रकार नाटक के करुणोत्पादक प्रसंग में प्रेक्षक स्वयं अपने भवितव्य के विषय में शंकाकुल रहता है। नायक के अध:पतन के साथ प्रेक्षक की उद्रिक्त एवं प्रक्षुब्ध भावना शांत होती है और इस भावशमनता से उसे आनन्द की उपलब्धि होती है। जर्मन-कवि गेटे के अनुसार नाटकांतर्गत करुण और भीति की भावनाएँ प्रेक्षक की तत्सम्बन्धी अतिशयता का शमन करती हैं और फलस्वरूप उसके भावोद्रेक में कमी हो जाती है। इस मत के अनुसार इस प्रक्रिया में भावना का शुद्धिकरण सम्पन्न होता है। प्रक्षुब्ध भावना के क्षणों में करुण दृश्य के प्रेक्षण से दृष्टा की मन:प्रवृत्ति स्थिर और शांत होती है और उसके भीतर किंचित् शांत रस का प्रादुर्भाव होता है। नाटक में करुणा और भय की भावनाओं का आविष्करण मन की स्थिरावस्था के निर्माण में सहायक होता है।

परन्तु इस शुद्धिकरण का क्या अर्थ है। इस शुद्धिकरण का स्वरूप और प्रक्रिया क्या है। 'केथारसिस' शब्द का मूलार्थ वैद्यक-शास्त्र में विरेचन या विरेक है जिसे अंग्रेजी में 'परगेशन' कहा गया है। विरेचन चूर्ण के सेवन से शरीर के अतिरिक्त पदार्थ का निष्कासन होता है, इसी प्रकार केथारसिस में क्षुब्ध भावना या अतिरिक्त भावना के निष्कासन की कल्पना है। नाटक में भावना-परिष्कार के द्वारा यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है, ऐसा अरिस्टाट्ल का मत है ? ट्रेजिक नाटक की करुण घटना के अवलोकन से प्रेक्षक के मनोविकार का अग्राह्य भाग नष्ट होता है और फलस्वरूप उसका शुद्धिकरण एवं उन्नयन होता है श्री एफ० एल० ल्यूकस की स्थापना है कि भावना के उद्रेक द्वारा अतिरेक भावना का निष्कासन हो जाता है और मन 'मर्यादा' को प्राप्त होता है, ऐसा ही अरिस्टाट्ल का अभिप्रेत है। 'उत्तर रामचरित' के तीसरे अंक में राम को दण्डक वन की पर्णकुटी में पहुँचा कर भवभूति उन्हें वासन्ती के सामने खुल कर रुदन करने का मौका देते हैं। अदृश्य सीता को यह असह्य होता है, परन्तु राम का असहनीय दुःख इसी प्रकार हल्का हो सकता है तमसा सीता को समझाती है कि इस समय अश्रुमोचन ही एकमात्र उपाय है, नहीं तो राम का हृदय विदीर्ण हो जाएगा :

> कर्तव्यानि खलु दुःखितैर्दुःखनिर्वापणानि।
> पूरोत्पीड़े तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
> शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरवधार्यते॥ (३।२९)

ल्यूकस की स्थापना भवभूति की इस स्थापना से भिन्न नहीं है। अरिस्टाट्ल के भाष्यकार प्राक्लस ने भी इसी प्रकार की व्याख्या उपस्थित की है। जिस भावना का दमन शक्य नहीं है, उसे खुल कर मार्ग देने में ही क्षेम है। नाटक में भय और करुणा के प्रसंगों के दर्शन से प्रेक्षक के दमित मनोविकारों को क्षोभ से मुक्ति प्राप्त होती है और वे सुसह्य बनते हैं। प्राक्लस के विवेचन का सार यही है कि भावनोद्रेक को मर्यादित करने का एक उत्कृष्ट साधन ट्रेजडी है।

वास्तव में प्राक्लस की यह स्थापना तत्कालीन ग्रीक जीवनदर्शन से उद्भूत है। जिस प्रकार भारत का रस-सिद्धान्त भारतीय जीवनदृष्टि की उपज है जो

नानात्व के तल में एकत्व की कल्पना करती है और समस्त सृष्टि को उस लीलामय का आनन्द-विग्रह मानती है, उसी प्रकार कैथारसिस का मूल हमें ग्रीक मनोवृत्ति और जीवनमूल्यविषयक विचारणा में मिलता है। ग्रीक विवेक-बुद्धि को प्रधानता देते थे। दया (करुणा) और भय की भावनाएँ विवेक को क्षुब्ध करती हैं, अत अग्राह्य हैं। इन भावनाओं के विरेचन द्वारा प्रेक्षक विवेकशील, अत स्वस्थ नागरिक बनने में समर्थ होगा, ऐसी तत्कालीन ग्रीकों की धारणा जान पड़ती है। प्लेटो कवि को अपने आदर्श राज्य में इसीलिए स्थान देना नहीं चाहता कि उसमें भावना का प्राधान्य है। अरिस्टाट्ल ट्रेजडी और ट्रेजडीकार की सामाजिक उपयोगिता की स्थापना करते हुए उसके द्वारा विवेक पर जीवन के सगठन का आदर्श देता है। इस प्रकार अरिस्टाट्ल का कैथारसिस-सिद्धान्त प्लेटो की मान्यताओं का ही विकास है और उसमें तत्कालीन ग्रीक चिन्ता की स्पष्ट छाप है जो विवेक को मूर्धन्य स्थान देना है। परन्तु जहाँ प्लेटो भावोद्दीपन को विवेकनाशक मानता है, वहाँ अरिस्टाट्ल भावविरेचन द्वारा विवेक-साधन को पुष्ट करता है।

आधुनिक जीवनदृष्टि बदली हुई है। उसमें विवेक-बुद्धि का विरोध स्पष्ट रूप से लक्षित है। आज हम भावना के विरेचन के लिए दुखान्त नाटक नहीं देखते, भावना के उद्दीपन और सवर्द्धन के लिए हम रगशाला में प्रवेश करते हैं। ट्रेजडी का कार्य भावना-जाग्रति, भावनोद्दीपन है, आज इस विषय में किसी को भी शका नहीं है। सभव है, कुछ प्रेक्षक नायक से अपना भावनात्मक तादात्म्य कर लें और उसके दुख को एक प्रकार से स्वय भोग कर मानवीय जीवन के मर्म से अधिक परिचित हो लें अथवा नाटक-दर्शन के बाद अपनी मानसिक ग्रन्थियों को केन्द्रित कर स्वास्थ्य-लाभ करें। किसी भीषण दृश्य में भावनोद्रेक के द्वारा करुण भाव का आस्वादन कर शान्त रस में पर्यवसित होना भी सभव है, परन्तु भावना का विरेचन आज ट्रेजडी का सत्य नहीं माना जा सकता।

वास्तविक जीवन में करुण रस के प्रसग आने पर चित्तवृत्ति मलिन हो उठती है, परन्तु नाटक के अन्तर्गत उसी प्रकार का दृश्य देख कर चित्त उल्लसित हो उठता है। इस उल्लसित अवस्था को अग्रेजी में 'एक्जाल्टेशन' कहा गया है। ट्रेजडी-दर्शन का अन्तिम परिणाम यही उल्लास है। अरिस्टाट्ल के अनुसार कैथारसिस भी सुखोत्पादक व्यापार है, परन्तु चित्त की उल्लसित अवस्था से उसका सम्बन्ध नहीं है। आचार्य विश्वनाथ ने करुण रस से जिस आनन्दानुभूति की चर्चा की है, वह इस उल्लास के अधिक निकट है यद्यपि उसका स्वरूप भिन्न है। इस प्रकार आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि रसवाद की समर्थक है। कैथारसिस को यह समर्थन प्राप्त नहीं हो सका है। आज साहित्य का ध्येय आत्माविष्कार माना जाने लगा है। वे स्मरण-मूलक पुनप्रतीति द्वारा प्रेक्षक अपने भीतर लौटता है और अपने भीतर सोई भावनाओं को जाग्रत पाकर देश काल पात्रनिर्विशेष आनन्द की प्राप्ति करता है। यह स्थापना 'रस' की कल्पना से बहुत भिन्न नहीं है।

सक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि कैथारसिस एकागी और प्रतिवादीय सिद्धान्त है जो ग्रीक मनोवृत्ति और जीवनदृष्टि का प्रसार-मात्र है। उसे आधुनिक

मनोविज्ञान से समर्थन नहीं प्राप्त हो सका है। भारतीय रसदृष्टि समस्त रसों को एक ही प्रकार आस्वाद्य और आनन्दनीय मानती है। यद्यपि भवभूति ने "एको रसः करुणएव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रय ते विवर्त्तनाम,' (उत्तर रामचरित, ३/४७, अपने प्रसिद्ध श्लोक में करुण रस को एक मात्र रस मानकर उसी प्रकार के अतिवाद का परिचय दिया है जिस प्रकार अरिस्टाट्ल ने। निःसन्देह ही ट्रेजडी द्वारा हमारी जीवनानुभूति का विस्तार होता है और यह आत्मविस्तार आनन्दमयी प्रक्रिया है, परन्तु अन्य रसों द्वारा जीवनानुभूति के विस्तार से यह किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। वास्तव में निर्विशेष आत्मोपलब्धि का आनन्द ही ट्रेजडी का आनन्द है। ट्रेजडी की क्यों, समस्त साहित्य संगीत-कला का मूलाधार यही आत्माविष्कार है। देश-काल-पात्रनिरपेक्ष होने के कारण यह अनुभूति विलक्षण अथवा 'लोकोत्तर' कही गई है और इसे 'रस' की संज्ञा दी गई है। रसनिर्मिति में 'अहंकृति' और 'योग' अथवा 'समाधि' की कल्पना और अभिव्यक्ति-पक्ष में व्यंजना या ध्वनि के सिद्धान्त द्वारा रस-सिद्धान्त को ऐसी पूर्णता, व्यापकता और सूक्ष्मता प्राप्त हुई है जिससे कैथारसिस का सिद्धान्त नितान्त वंचित है। फल यह हुआ है कि काव्य और अन्य कलाओं की व्याख्या के लिए पश्चिम को नित्य नवीन 'वादों' का आविष्कार करना पड़ा है। अन्त में यह कह देना होगा कि यूरोप में ग्रीक और भारत में आर्य अपनी-अपनी विशिष्ट मनोवृत्ति और जीवनदृष्टि के द्वारा ही अपने साहित्यिक मानदण्ड स्थापित कर सके हैं और उनके पीछे दो विभिन्न जीवन-भूमियाँ हैं। ये तत्त्व ही इन साहित्यिक मानदण्डों की सीमाएँ भी हैं। इन सीमाओं के रहते हुए भी रससिद्धान्त की आपेक्षित व्यापकता और सर्वांगीणता में संदेह नहीं किया जा सकता। प्लेटो के 'आइन' के सूक्ष्म अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो रस-सिद्धान्त के मूल तत्वों से परिचित था परन्तु वह उसे साहित्य क्षेत्र में कोई स्पष्ट रूप नहीं दे सका। इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि ग्रीक-प्रकृति भारतीय प्रकृति से भिन्न थी और अपनी प्रकृति का अतिक्रमण करना किसी भी जाति या जन-समाज के लिए असम्भव बात है। सच्चिदानन्द स्वरूप चिन्मय सत्ता की कल्पना करने वाले ब्रह्मवादी भारतवर्ष के लिए 'रस' के रूप में ब्रह्मानन्द-सहोदर का आविष्कार उतना ही सरल था जितना बुद्धिवादी ग्रीस के लिए 'कैथारसिस' का अविष्कार। इस भूमिका पर ही हम दोनों साहित्य-सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करके उनके साथ न्याय कर सकेंगे।

• २ •

सौन्दर्य—चेतना और नीति

सौन्दर्य-चेतना और नीति का द्वन्द्व कला के क्षेत्र का एक प्रमुख प्रश्न है जो प्लेटो के समय से आज तक बराबर चला आ रहा है परन्तु आज भी जिसका समाधान नहीं हो सका है। कारण यह है कि सौन्दर्य चेतना की प्रकृति, उसके स्वरूप और जीवन-परिष्कार में उसके योगदान के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है और 'नीति' के सम्बन्ध में भी यह निश्चय नहीं हुआ है कि उसका कोई समाज निरपेक्ष व्यक्तित्व है भी या नहीं। सौन्दर्य और नीति अन्योन्याश्रित अथवा परस्पर पूरक न माने जा कर विरोधी और स्वतन्त्र तत्त्व मान लिए गए हैं। फल यह हुआ है कि जहाँ एक ओर प्लेटो और सैंट आगस्टाइन कला को यौनचेतनमूलक और निन्दनीय मानते हैं, वहाँ दूसरी ओर वाल्टर पीटर जैसे कला-समीक्षक नीति को कला के क्षेत्र से बहिष्कृत करने को तैयार हैं। इस तरह कला और नीति को लेकर दो विरोधी अखाड़े हो खड़े हो गए हैं जिनमें समझौता असम्भव जान पड़ता है।

सौन्दर्यमूलक आनन्द की प्रकृति क्या है, सौन्दर्य व्यक्तिगत है या व्यक्तिनिरपेक्ष, कला-संवेदन का स्वरूप और उसकी प्रेरणा क्या है, ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो सौन्दर्य-शास्त्र से सम्बन्धित हैं। इनके साथ ही प्रश्न उठता है कि असुन्दर और अकलात्मक क्या है और कलाश्रेष्ठता के मापदण्ड क्या हों। यह मान लिया गया है कि कला में मनुष्य की 'क्रीडा प्रवृत्ति' स्वरूपान्वित होती है और मनुष्य के कामकाजी जीवन से इस प्रवृत्ति का कोई सम्बन्ध नहीं है। फलस्वरूप कला को इन्द्रियगत और कल्पना विजड़ित बना कर लक्षित किया गया है क्योंकि मनुष्य के दैनन्दिन कार्यव्यापार में भावना और कल्पना का सम्यक् मूल्य आँका नहीं जा सका है। व्यावहारिक मनुष्य ने कलासंवेदना को निरर्थक भावोन्मोचन और उत्पादनशून्य कुशलता समझा है। उसे पलायनशील कहा गया है। राजनीतिज्ञ, मत और धर्मप्राण कला सम्बन्धी सौन्दर्य-चेतना को बराबर अग्राह्य मानते और संदेह की दृष्टि से देखते रहे हैं।

परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से यह मालूम होगा कि कलानुभव और कलाजन्य आनन्द के मूल में अव्यभिचारी जीवन की वही सात्त्विकता अन्तर्हित है जो मत और धर्मप्राण का उपजीव्य है और उसमें उसी कौशल की पराकाष्ठा है जो व्यावहारिक मनुष्य का लक्ष्य है। कल्पना के योग से कला में सार्थकता का प्रवेश होता है। कल्पना के द्वारा ही कला महार्घ और महिमामयी बनती है। कदाचित् कल्पना के इसी महत्त्व को ध्यान में रखते हुए शैली ने कविता को मानव जाति का नियामक

माना है। (पोइट्री इज द अनएक्नालेज्ड लेजिस्लेटर आव मेनकाइण्ड) परन्तु कलासंवेदन के पीछे भावना के जो तार बजते हैं उनसे ज्ञानी त्रस्त भी रहे हैं क्योंकि कलाकार जन-मन के भावुक तारों को छूकर प्रथित मान्यताओं, परंपराओं, तर्क-संगतियों और बौद्धिक संहिताओं को झकझोर सकता है। इसी से कवि के उन्मुक्त गीतों और नाटककारों के स्वच्छंद भावविलास के राजधर्मियों का बराबर विरोध रहा है। प्लेटो ने अपने आदर्श राज से संगीत, साहित्य और कला को निर्वासित कर दिया है और आज भी यह प्रश्न अबूझा खड़ा है कि साहित्य और कला पर सरकारी नियंत्रण का क्या रूप हो और इस नियंत्रण की सीमा क्या हो।

नीतिवादी और सौन्दर्यशास्त्री दोनों इस बात से अभिज्ञ हैं कि कला सम्बन्धी सौन्दर्य-चेतना इन्द्रियजन्य और इन्द्रियग्राह्य है। प्लेटो और टाल्सटाय जैसे नीतिवादी कला को इसीलिए संशय की दृष्टि से देखते हैं। इन्द्रियजन्य वासनाओं पर आधारित मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना क्या उसे पतन के गर्त्त में नहीं ढकेल देगी। मनुष्य की वासनाओं की क्या कोई सीमा निश्चित की जा सकती है। स्वस्थ बौद्धिक चेतना के लिए क्या भावविस्फोट घातक सिद्ध नहीं होंगे। नीति और कला के द्वन्द्व का यह स्वरूप मनुष्य की जाग्रत चेतना मे निरंतर क्षोभ उत्पन्न करता रहा है। फ्राइड के यौनचेतनामूलक मनोविश्लेपण-शास्त्र के जन्म से बहुत पहले ही नीतिवादियों ने यह घोषित कर दिया था कि मनुष्य की पंचेन्द्रियों पर यौनसंवेदना का सूक्ष्म और तरल आवरण चढ़ा हुआ है और इन्द्रियजन्य आनन्द से संवेदित होने का अर्थ है यौनजन्य आनन्द से संवेदित होना। इसमें संदेह नहीं कि कलात्मक सौन्दर्य-चेतना की चमक-दमक बहुत कुछ यौनचेतना की देन है। टाल्सटाय ने अपनी जीवनानुभूति से इस रहस्य को समझा था और बड़ी शक्ति तथा मुखरता के साथ कला की वासनामूलकता का उद्‌घोष किया था। उनके अनुसार कलाकार ख़तरनाक व्यक्ति है क्योंकि उसकी रचना से पाठक के अंतर्संयोजित और आत्मविश्वासी व्यक्तित्व का विघटन होता है। मध्ययुग के मर्मी और प्लेटो जैसे नीतिवादी भी यही बात कहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान और मनोविश्लेपण-शास्त्र ने इस तथ्य को पुष्टि की है। कला-सवेदन के पीछे मन का अर्द्धचेतन, अर्द्धस्फुट तथा परोक्ष यौनसंवेदन अंतर्निहित है और कलाकार के विषय, प्रतीक और अभिव्यंजनात्मक उपकरण उसके मन की यौन-क्रीड़ा मात्र हैं, ऐसा अब सिद्ध हो गया है। यौन-प्रतीक किस सरलता से कला-प्रतीक बन जाते हैं, यह किसी भी श्रेष्ठ कलाकार की रचना में देखा जा सकता है यदि हम उसके अंतर्मन में झांक सकें।

मध्ययुग के लिए नीति और कला का द्वन्द्व जितना महत्त्वपूर्ण था उतना महत्त्वपूर्ण वह आज नहीं है। मध्ययुग परलोकवादी और परोक्षजीवी था और वासनाओं के दमन पर ही उसका समस्त जीवनदर्शन आधारित था। परन्तु आज हम जीवन की इहलोकमूलता के प्रति विश्वासी हैं। मनुष्य ही आज हमारा देवता है। ऐसी स्थिति में कला को यौनचेतनामूलक कहना आज कोई लांछा की बात नहीं है। जीवनानुभूति की विविधता, तरलता और व्यापकता से हम श्रेष्ठतर मानव-संस्कृति के निर्माण की बात आज सोच रहे हैं। कलाएँ हमारी जीवनानुभूति को तीव्र बनाती

हैं और हमारे जीवन को अधिक सप्राण करती हैं। रंग-रूप भरे इस संसार के प्रति जो जितना अधिक भावुक और चेतन होगा, उतना ही अधिक वह संसार को सुन्दर बनाने में योग देगा। यदि ऐसा है तो आज यौनचेतना को लांछनीय नहीं कहा सकेगा।

सच तो यह है कि नीति और सौन्दर्य दो एकदम विभिन्न और स्वतंत्र स्तरों की चीज़ें नहीं हैं। भावना, व्यवहार और कल्पना का परिष्कार ही नैतिकता का लक्ष्य है और इस परिष्कार का आरम्भ इन्द्रियजन्य संवेदना के संस्कार से ही होगा। कला द्वारा हमारे इन्द्रियजन्य संस्कार ही परिष्कार को प्राप्त होते हैं। अतः मूल रूप में कला हमारी जीवन-चेतना की संवर्द्धक है और सूक्ष्म तथा सौन्दर्यमयी जीवन चेतना ही 'नीति' है। क्या हम ऐसी मानव-संस्कृति की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें ऐन्द्रिक सौन्दर्यचेतना, भावुकता और बौद्धिकता का स्वरूप संगीत के श्रेष्ठतम और ऊर्ध्वगामी तत्त्वों के अनुरूप हो। क्या कलाएँ नैतिक संयम का प्रेरणा-स्रोत और माध्यम नहीं बन सकतीं।

कला के सामाजिक दायित्व की बात भी बराबर उठती रही है, परन्तु इस दायित्व को नीतिवाद (कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य अथवा पाप पुण्य) के संकीर्ण घेरे में बाँध कर हम कलाकार के महत्त्व और उसकी कृति के प्रभाव को छोटा ही करेंगे। कला का उद्देश्य है अतीन्द्रिय आनन्द जिसे भारतीय परिभाषा में 'रस' कहा गया है। परन्तु यह आनन्द हमारे आध्यात्मिक आदर्शों की अभिव्यंजना-मात्र है। कलाकार इस आनन्द के द्वारा समष्टि से अपना सम्बन्ध जोड़ता है। कृति का आनन्द ही कलाकार का आत्मदान है और यह आत्मदान अतःस्फूर्त होने पर भी निष्प्रयोजन नहीं है। सच्ची कला का प्रयोजन नैतिक होता है, परन्तु यह प्रयोजन अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म होता है। उसके द्वारा संतुलन, संयम, साहस, न्याय अथवा धर्म का ही प्रसार होता है। कलाकार किसी प्रबुद्ध भावना या विचार को इस प्रकार अभिव्यञ्जित करता है कि उसे अनायास ही सामाजिकता की उपलब्धि हो जाती है। समाज के अनेक प्रबुद्ध प्राणियों में कलाकार की संवेदना प्रतिध्वनित हो उठती है। कला सामाजिक चेतना के प्रसार का एक प्रमुख और शक्तिशाली साधन है और इस क्षेत्र में उसके आनन्ददायी तत्वों और संदेशवाही उपकरणों में कोई विरोध नहीं है। श्रेष्ठ कलाकार की सौन्दर्यचेतना 'नीति' को पुष्ट करती है और 'नीति' सौन्दर्यचेतना द्वारा कलात्मक अभिव्यंजना को प्राप्त होती है। निचले स्तर की कलाकृतियों में नीति और कला का द्वंद्व इसलिए सामने आता है कि उनमें कलाकार का व्यक्तित्व अंतर्योजन और ऋद्धिदृष्टि को प्राप्त नहीं होता। कलाकार यदि अपने प्रति उत्तरदायी हैं तो वह जीवन के प्रति अनिवार्यतः उत्तरदायी है। इस प्रकार कलाकार के अपने व्यक्तित्व और उसकी कलासाधना में सौन्दर्य की अंतरंगी माँग और समाज की बहिरंगी माँग का गठबंधन हो जाता है। कला में व्यक्तिगत और (समष्टिगत अथवा सामाजिक) अंतर्द्वन्द्वों का एक साथ और एक ही स्तर पर समाधान संभव है। परन्तु कलाकार यदि हमारी जीवानानुभूति को सूक्ष्म और तीव्र ही बनाता है तो भी वह सामाजिक दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। कला द्वारा हमारी बिखरी हुई जीवनानुभूति गहनता और स्पष्टता को प्राप्त होती है क्योंकि जीवन तथ्य-मात्र है, गति मात्र है। उसमें अपनी ओर से न कोई सार्थकता है, न उसे

कोई निजी दिशा प्राप्त है। कलाकार बहिर्जगत की दुर्ग्राह्य अनेकरूपता और निरर्थक गतिशीलता को अंतरंगी रूप-रंग देकर महार्घ बनाता है। कवि, चित्रकार और मूर्त्तिकार वस्तुओं को और कथाकार तथा नाटककार घटनाओं को अपनी अनुभूतियों में रंग कर ऐसी एकान्विति देते हैं कि उनका रूप ही बदल जाता है। विधाता की सृष्टि से होड़ करने वाला कलाकार वस्तुओं और घटनाओं को नयी वास्तविकता प्रदान करता है। कला को पलायनशील कहा गया है, परन्तु यह पलायनशीलता उस तटस्थता में सन्निहित है जो कलात्मक प्रेरणा का मूल स्वरूप है। कला हमारे दैनंदिन जीवन से बाधित नहीं है, उसमें शाश्वत और चिरतन क्षण मूर्त्तिमान किये जाते हैं अथवा कला के द्वारा हमारे सामान्य और चिरपरिचित अनुभव को चिरंतनता की उपलब्धि होती है। इसमें कला की पराजय नहीं, विजय है। भावना, कल्पना और सौन्दर्यचेतना के द्वारा कलाकार जीवन को गहन, सुस्पष्ट और विचारणीय बनाता है। कला जीवन की व्याख्या है और इसी व्याख्या में पुनर्निर्माण के तत्त्व भी छिपे हैं। यह व्याख्या अनिवार्यतः नीतिमूलक है और यह पुनर्निर्माण आदर्शप्राण है। परन्तु स्थूल अथवा उपदेशात्मक नीतिमत्ता और थोथे आदर्शवाद से यह भिन्न है। 'हेमलेट' और 'अन्नकरीना' में हमें मानव-जीवन की सुपरिचित वास्तविकताओं का गहन, तरल और केन्द्रित स्वरूप दिखलाई पड़ता है। इसी गहनता, तरलता और केन्द्रवर्त्तिता में वह सूक्ष्म जीवनबोध छिपा रहता है जो साधारण परिभाषा में नीतिमत्ता कहा जाता है। इस प्रकार श्रेष्ठ कलाकृतियों में सुन्दरम् और शिवं के विरोध का परिहार हो जाता है। श्रेष्ठ कला आदर्शवादी रहती है चाहे उसके उपकरण वस्तुवादी ही क्यों न हों क्योंकि वस्तुवादी अनुभूतियाँ कला के द्वारा सुव्यवस्था, चिरंतनता और प्रेक्षणीयता प्राप्त कर भविष्यत् का दर्पण बन जाती हैं। उसमें मानव-जीवन अपने परिवेश से मुक्त होकर संभावनाओं में केन्द्रित हो जाता है।

यह कहा जाता है कि 'कला कला के लिए है', अर्थात् कलाकार की अनुभूति स्वयं अपने में पूर्ण है, उसे मूल्यगत चेतना पर आधारित करना कला का अपमान करना होगा। परन्तु मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि हमारा कोई भी अनुभव संवेदन मात्र नहीं है क्योंकि प्रत्येक संवेदन के साथ निष्कर्ष और मूल्य स्वतः आ जाते हैं। मानवीय चेतना दैहिक संवेदनाओं और प्रेरणाओं को मूल्यों से मंडित करने में समर्थ है। फलस्वरूप कला के रूप, रंग, शब्द, भाव, जीवनचित्र महत्त्वपूर्ण और व्यंजनायुक्त बन जाते हैं। कला में जीवन की अनुरूपता जीवन की व्याख्या अथवा समीक्षा बन कर ही सार्थक होती है। परन्तु श्रेष्ठ कलाकार की रचना में जीवनचित्रण जीवन-समीक्षा बन कर ही सामने आता है। इसके लिए उसे स्वतंत्र रूप से कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। उसकी अंतर्दृष्टि में वस्तुजगत मूल्यों से मण्डित कला के प्रति उसके दायित्व में जीवन के प्रति उसका दायित्व आप ही आ जाता है और उसकी रचना सुन्दर होने के साथ मूल्यगर्भित भी बन जाती है। वस्तु-जीवन के बदलते परिवेश में चिरंतन मूल्यों की खोज श्रेष्ठतम कलाधर्म है, और चिरंतन मूल्य जीवन की दैनंदिन संवेदना में ही खोजे जा सकते हैं। यह हम जान लें तो कलाचेतना और युगचेतना का विरोध समाप्त हो जाय और हमारी कलाकृतियों को युगधर्म का श्रेष्ठ संबल प्राप्त हो।

• ३

यथार्थवाद की विभिन्न भूमियाँ

(१)

यथार्थवाद का आन्दोलन मुख्यत कथा-क्षेत्र का आन्दोलन है यद्यपि चित्रकला के क्षेत्र मे भी उसका व्यापक रूप से उपयोग हुआ है। सामान्यत यथार्थवाद को आदर्शवाद का विरोधी माना जाता है और इन दोनों पारिभाषिक शब्दो को दो दार्शनिक विचारधाराओ से जोडा जाता है यद्यपि साहित्यिक क्षेत्र के सदर्भ दार्शनिक क्षेत्र के सदर्भों से नितात भिन्न हैं। आदर्शवादी दर्शन वस्तु-जगत को मन अथवा आत्मा का प्रतिबिम्ब मानता है और उसे अतत सूक्ष्म एव चेतन कल्पित करता है। इसके विपरीत प्रकृतिवादी दर्शन है जो जड अथवा भौतिक को ही प्रामाणिकता देता है। यहाँ 'प्रकृति' का तात्पर्य है देशकाल मे घटित घटनाओ की सहृति अथवा वह सब जो वैज्ञानिक प्रक्रियाओ से जाना जा सकता है। प्रकृतिवादी अतिप्राकृतिक देवताओं, तत्वो और नैतिक तथा सौन्दर्य सम्बन्धी मान्यताओ मे विश्वास नही रखता परन्तु उसे हम जडवादी (मेटिरियलिस्ट,) और अहवादी, (ईगोइस्ट) नहीं कह सकते। यद्यपि कुछ प्रकृतिवादी शक्तिमत्ता, विजिगीषा, अथवा आत्मरक्षा को ही मूल मे मानते हैं। यह स्पष्ट है कि आदर्शवादी और प्रकृतिवादी, एव यथार्थवादी साहित्यकारो के जीवनदर्शन मे गहरा अन्तर है परन्तु इस मतभेद को दार्शनिक परिभाषाओ का पर्याय नही माना जा सकता। आरम्भ मे ही यह आवश्यक है कि हम दर्शन तथा साहित्य के क्षेत्र मे इन शब्द-प्रयोगो के अन्तर को पहचान लें।

पहले प्रकृतिवादी रचनाओ की प्रकृति को लें क्योकि यथार्थवादी रचनाओ से उनके भेद की स्थापना उसी समय हो सकती हैं जब हम प्रकृतिवादी रचनाओ के स्वरूप को भली-भांति पहचान लें। प्रकृतिवादी रचनाओ मे हम जोला, हाप्टमां, ड्रजर और फॅरल की रचनाएँ रखते हैं। इन लेखको की रचनाएँ निराशावादी, भौतिकदृष्टि-सम्पन्न तथा नियतिवादी हैं। इन रचनाओ मे सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश के द्वारा मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण दिखलाया गया है अथवा मानवीय बुद्धिवाद और नैतिक उत्तरदायित्व को वशानुक्रमिक तथा अवचेतनीय शक्तियो द्वारा कुठित चित्रित किया गया है। ये लेखक जीवन को पतनोन्मुख चित्रित करते हैं और उनकी कथा मृत्यु अथवा पलायन पर समाप्त होती है। वे मानवीय क्रिया कलापो को पशुत्व के स्तर पर से देखते हैं और मन को स्वाभावगत अथवा मायामय मानते हैं। वे 'आहार-निद्रा भय मैथुनादि' पाशविक प्रवृत्तियो को महत्व देकर प्रवृत्तिमूलकता पर बल देते हैं। पशु-पक्षी जगत के अनेक प्रतीको का उन्होंने अपनी रचनाओ मे

उपयोग किया है और गर्हित, वर्जनीय, वीभत्स और नग्न को कला का क्षेत्र बनाया है। विपण्ण, कुंठायुत एवं घृणित होने के कारण यह विचारधारा मानववादी विचार-धारा के स्पष्ट विरोध में पड़ती है। आदर्शवादी और मानववादी लेखकों का इससे गहरा विरोध है क्योंकि इसमें उदात्त जीवन-मूल्यों का वैपरीत्य स्पष्ट रूप से परिलक्षित है।

यथार्थवाद का एक रूप वह है जिसमें विस्तृत विवरण को सज्जा के रूप में उपयोग में लाया जाता है। वास्तव में इसे यथार्थवाद न कह कर यथार्थ-चित्रण कहा जा सकता है। साहित्य के सभी युगों में यथार्थ-चित्रण की परम्परा रही है और ग्रीक प्रहसनों में निम्नवर्गीय चरित्रों के अंकन में, देश-काल-चित्रण मे अथवा सामान्य अनुभूति का जीवंत विवरण प्रस्तुत करने के लिए उसका उपयोग हुआ है। शेक्स-पिअर, बेनजान्सन, स्मॉलेट और वर्ड्सवर्थ में चारित्रिक वास्तविकता अथवा युग-चित्रण की भूमि पर यथार्थ का भूरि-भूरि उपयोग हुआ है। इस कोटि का 'यथार्थ-वाद' 'वाद' नहीं कहा जा सकता।

यथार्थ का दूसरा रूप वह है जिसमें वह सम्पूर्ण साहित्य के लिए मूलभूति सिद्धान्त अथवा सौन्दर्यबोधमय लक्ष्य बन जाता है। इस रूप में यथार्थवाद वस्तून्मुखी चित्रण की प्रक्रिया है। यथार्थवादी लेखक वास्तविकता को हू-ब-हू उतार लाता है और व्यक्ति को उसके परिवेश के साथ ठीक-ठीक जोड़ कर प्रस्तुत करता है। घटनाओं के साथ चरित्रों के जीवन और व्यक्तित्व का सूक्ष्म योग उसके द्वारा आकलित होता है। यथार्थवादी कलाकार इन्द्रियगत संवेदनाओं में ही वस्तु को सीमित करने का पूर्वग्रही बन जाता है। विज्ञानमूलक प्रक्रियाओं से हम जो जान सकते है अथवा जिस सीमा तक अलक्ष्य का अनुमान कर सकते है, वही उसके लिए सब कुछ है। उसका विचार है कि इन वस्तुओं का सच्चा स्वरूप उनके ज्ञान में न रह कर स्वतंत्र है। फलतः वह वस्तुओं और घटनाओं के प्रति निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण ग्रहण करता है। वह तथ्य मात्र देता है, घटनाओं की चीरा-फाड़ी ही उसका उद्देश्य है। इस प्रकार की रचनाओं में लेखक की अपनी अनुभूतियों, धारणात्मक मूल्यों, दार्शनिक स्थापनाओं और उद्बोधनों को स्थान नहीं मिलता। अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण विवरण तथा समस्त परिवेश देकर वह वस्तु-जीवन में स्वयं भाग लेने का आभास देने लगता है। इसको हम यथार्थवादी दृष्टिकोण मात्र कह सकते हैं जिसमें जीवनाभास अथवा सत्यान्वेषण का आग्रह है और जीवन-खण्ड को उभारने का प्रयत्न है। इसे जीवन का प्रत्यक्षीकरण भी कह सकते है। यह कच्चे माल की तरह जीवन के एक टुकड़े को उठा कर सामने रख देना है।

इन दोनों अर्थों से भिन्न यथार्थवाद का एक तीसरा अर्थ भी है। इस अर्थ में यथार्थवाद उन्नीसवीं शति उत्तरार्द्ध के साहित्यिक आन्दोलन के रूप में सामने आता है। इस आन्दोलन के विभिन्न लेखकों तथा रचनाओं के द्वारा यथार्थ के विभिन्न रूप विकसित हुए हैं। फ्लाबेर से आज तक ऐसे अनेक लेखक हैं जिन्होंने अपने कर्तृत्व को 'यथार्थवाद' का नाम दिया है। इस प्रकार इस नए संदर्भ में यथार्थवाद का आन्दोलन सौ वर्ष पुराना हो गया है। इन सौ वर्षों के यथार्थवादी साहित्य में जो समानता है

वह यह कि उसमे परोन्मुखी दृष्टि का ही प्रसार है, तथ्य ही उसमे बोलते हैं, लेखक चुप रहता है तथा अनुभवो के साधारण पहलुओं पर ही बल दिया जाता है। यह अवश्य है कि कुछ यथार्थवादी कलाकार प्रतिदिन के अनुभवो के स्तर पर रहते हैं, कुछ रोमाचकता पसन्द करते हैं, कुछ जीवन-चरित्र-मूलक रचनाएँ प्रस्तुत करते हैं, कुछ अन्य किसी समस्या या द्वन्द्व को केन्द्र बना कर एक रेखाचित्र बनाते हैं। स्वच्छन्दवादी कलाकार जहाँ सृष्टा होने का दावा करता है और सर्जन को महत्त्व देता है, वहाँ यथार्थवादी कलाकार निरीक्षण और प्रामाणिकता पर बल देता है। यथार्थवादी रचनाओं मे अलकृति तथा काव्यात्मक शैली का वर्जन रहता है क्योकि इसमे समस्या का आकर्षण मन्द पड जाता है। यही मानव जीवन और मानवीय चरित्र के नग्न तथा स्पष्ट सत्य को वाणी देता है यथार्थवाद नित्य-नवीन विषय-वस्तु का सग्रह करता है और ऐसी जीवन स्थितियों को महत्त्व देता है जो धर्म तथा नीति द्वारा वर्जनीय हैं। भाषा में भी ग्रामीणता तथा जनवादिता का आग्रह है।

साहित्यिक आदोलन के रूप मे यथार्थवाद का विकास सुनिश्चित नही रहा है। फ्रास मे फ्लाबेर, जोला और मोपासा के प्रयत्नो से उसे प्रौढता प्राप्त हुई। इसके पश्चात् तुर्गनीव और टाल्सटाय के द्वारा उसका एक नया ही रूप रूस मे विकसित हुआ। रूसी यथार्थवाद मे फासीसी यथार्थवाद की अतिवादिता नष्ट हो गई है और उसके शिल्प मे भी परिवर्तन हुआ है। इगलैण्ड मे उसका इस सीमा तक विकास नही हुआ। अमेरिका मे हावेल के द्वारा व्यवहार और सिद्धान्त के क्षेत्र मे यथार्थवाद की स्थापना हुई और प्रथम महायुद्ध के बाद उसे बडी लोकप्रियता प्राप्त हुई। इस दिशा मे सबसे महत्वपूर्ण विकास मनोवैज्ञानिक यथार्थ के रूप मे हुआ जिसके मूलाधार दोस्तोवस्की की रचनाएँ और बीसवीं शताब्दी की मन विश्लेषण सबन्धी खोजें हैं। फ्राइड की प्रवर्तनीय स्थापनाएँ यथार्थ के इस आन्तरिक रूप के उद्घाटन में बडी दूर तक सफल हुई हैं। अब तक यथार्थवादी कलाकार सीधे बहिर्जगत से अपनी सामग्री इकट्ठी करते थे, परन्तु इस पद्धति से मन के व्यापारो की बहिरगी परीक्षा नही हो सकती। अत इस नए यथार्थवाद को हम वस्तु जीवन का लेखा जोखा नहीं दे सकेंगे। परतु यह अवश्य है कि पिछले युगो की यथार्थवादिता का स्थान मानवी प्रकृति के सर्वांगीण एव विस्तृत चित्रण ने ले लिया है। ज्वाइस का 'उलीसस' इसका प्रमाण है।

यथार्थवाद के सम्बन्ध मे यह शका प्रस्तुत की गई है कि वह हमे निराशावादी बनाता है, उसमे 'उदात्त' का कोई महत्व नहीं है और सामान्यो के आधार पर किसी श्रेष्ठ दु खान्त की रचना नही हो सकती। यह भी कहा जाता है कि उसमें वस्तु-सगठन शिथिल और निराकार होता है और उसके द्वारा सामान्य कोटि की ही सवेदना जाग्रत हो सकती है, 'रस' कोटि की वस्तु हमे नहीं मिलती। वह पत्रकारिता से ऊपर नही उठ पाता। फिर भी इसमें सदेह नही है कि यथार्थवाद साहित्य-क्षेत्र मे आज भी चलता सिक्का है और समकालीन कथा-साहित्य में उसका प्राधान्य है। सक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि यथार्थवाद प्रकृतिवाद से स्वतत्र एव विशिष्ट साहित्य सिद्धान्त है। रोमास से उसका तीव्र विरोध है परन्तु गोर्की जैसे कलाकार में

हम रोमांस और यथार्थ का गठबन्धन भी देखते हैं। प्रसाद की 'तितली' या प्रेमचन्द के 'गोदान' में गीतात्मक यथार्थ के भी दर्शन होते हैं। टाल्सटाय ने यथार्थवाद को आरम्भ में वैज्ञानिक अथवा फोटोग्राफिक भूमियों पर ग्रहण किया था परन्तु बाद में उन्होंने जीवनाभासी तत्वों को पीछे छोड़ कर विशुद्ध यथार्थ की सृष्टि की। १९३२ के बाद रूस में गोर्की के तत्वावधान में समाजवादी यथार्थ का जन्म हुआ। शोलोखव की रचनाएं इस वर्ग की प्रतिनिधि रचनाएं हैं। प्रेमचन्द स्वयं आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों भूमियों को ग्रहण करते हैं और रूसी यथार्थवाद, (टाल्सटायी यथार्थ) की परम्परा से बहुत कुछ लेते हैं, परन्तु सम्भवतः यथार्थ के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण 'कला क्या है ?' (१८९८) का दृष्टिकोण था। परन्तु जहां टाल्सटाय आस्थाप्राण हैं, वहां प्रेमचन्द अनास्थाप्राण और नास्तिक हैं। उन्होंने ईश्वर का स्थान मनुष्य को दे दिया है। एक प्रकार से प्रेमचन्द का यथार्थवादी दृष्टिकोण टाल्सटाय के दृष्टिकोण का ही विकास है और उनकी उपन्यास-कला का शिल्प भी उन्हीं की रचनाओं से अनुप्राणित है। मनोवैज्ञानिक यथार्थ को हमें एक नई ही श्रेणी देनी होगी क्योंकि उसमें यथार्थ का प्रसार दृश्य-जगत के समतल पर नहीं, लेखक की अन्तरंगी चेतना की गहराइयों में होता है। इसे हम एक दृष्टि से नए प्रकार का रोमांसवाद भी कह सकते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि यथार्थवाद की अपनी सीमाएं हैं और उपन्यासकारों का एक वर्ग उसे बहुत महत्व देने के लिए तैयार नहीं है। क्योंकि उपन्यासकार कलाकार है और कलाकार जीवन का अनुकरण नहीं करता, वह अपने लक्ष्य के अनुसार जीवन के विस्तृत प्रांगण से उपयुक्त सामग्री चुन लेता है और इस प्रकार उसे महार्घता देकर नए मूल्यों की सृष्टि करता है। चित्रकार तूलिका से चित्र बनाता है, उपन्यासकार के पास कथा और चरित्र की तूलिकाएं हैं और इन्हीं के द्वारा वह जाने-अनजाने अपने जीवन-दर्शन तथा व्यक्तित्व की अभिव्यंजना करता है। मानवीय कार्य-व्यापार ही उसके रंग हैं। अपने चित्रफलक और लक्ष्य के अनुसार ही वह इन रंगों का उपयोग कर सकता है। महान् कलाकारों ने वस्तुवाद या यथार्थवाद को बहुत महत्त्व नहीं दिया है। वे यथार्थ को सज्जा, जीवनानुभूति की पुष्टि अथवा कल्पना को व्यवस्थित करने के लिए उपयोग में लाते हैं। जब-जब चित्रकला और मूर्त्तिकला में यथार्थ के प्रति आत्यन्तिक आग्रह हुआ है, कला की हानि हुई है और कलाकारों ने जीवन के यथार्थ को किसी नई रूढ़ि, कल्पना, या भाव-संवेदना के द्वारा नवजीवन दिया है। साहित्य के क्षेत्र में भी यथार्थवाद, आदर्शवाद और रोमांसवाद के अनेक योगायोग प्रस्तुत होते हैं। लक्ष्यहीन यथार्थ वैचित्र्य मात्र की सृष्टि करेगा। जीवन को कला की व्यवस्था देकर ही हम उसके भीतर स्वरूप, अर्थ और आनन्द की स्थापना कर सकते हैं। जो हो, यह समझ लेना आवश्यक है कि यथार्थ जीवनाभास दे सकता है, जीवन की विशदता, अनगढ़ता तथा विविधता का स्थान नहीं ले सकता और उसकी अनेक तथा विभिन्न भूमियां हैं जिनका संतुलित उपयोग ही उपन्यास को कलात्मक रूप दे सकेगा। यथार्थवाद के ऐतिहासिक विकास तथा उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया तथा सीमा को जान कर ही हम यथार्थवादी

साहित्य का सम्यक् मूल्यांकन प्रस्तुत करने में समर्थ होंगे।

(२)

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में 'यथार्थवाद' शब्द का उपयोग प्रतिक्रियात्मक संदर्भ में हुआ। यथार्थवाद की कल्पना प्रमुखतः रोमांसवाद के विरोध में हुई। गोथिक रोमांस, विकारक साहसी घटनाएं और प्रतीकात्मक कल्पना कथाओं से ऊब कर यथार्थवाद के रूप में एक नया मार्ग प्रशस्त किया गया। रोमांसवाद के विरोध के साथ 'क्लासिक' रचनाओं के सौष्ठव एवं गांभीर्य तथा परंपरित नैतिकता के विरुद्ध भी यह आंदोलन विकसित है। चित्रकला के क्षेत्र में यह आंदोलन कोर्बे की प्रदर्शिनी (१८५५) में पहले-पहल सामने आया और साहित्य के क्षेत्र में १८५६ में फ्लाबेर के उपन्यास 'मैडम बोवेरी' के प्रकाशन के द्वारा उसकी नींव पड़ी। फ्लाबेर के मत में कथाकार के लिए अपनी सामग्री के मथयन में वैज्ञानिक तटस्थता तथा वस्तुमुखी जागरूकता आवश्यक है। फ्लाबेर की रचनाएँ सब कहीं प्राकृतिक वस्तुओं के वस्तुमुखी चित्रण पर सीमित नहीं रह जातीं, परन्तु वस्तु-संकलन में उसके अपार परिश्रम की सूचना हमें स्पष्ट रूप से मिल जाती है। अपने एक उपन्यास 'सलम्बो' (Salammbo) की प्राकृतिक पृष्ठभूमि के निरूपण के लिए उसने मिस्र देश की यात्रा की थी। कोर्बे के चित्रों में प्रकृति का तथ्यगत चित्रण है और उन्हें प्रकृति के हस्ताक्षर कहा गया है। सामान्य, क्षुद्र, समकालीन, गर्हित और निम्नतम को उसने अपने चित्रों में उभारा है। समाजशास्त्रीय परिभाषा में यह कहा जा सकता है कि उसकी संरचना में इहलौकिक, वर्तमान और जीवन के संघातों का ही चित्रण इस उपन्यास-रचना का ध्येय है। इसे यथार्थवाद के विपरीत स्वच्छंदतावाद का ही एक प्रकार कहना अधिक उचित होगा। औद्योगिक जीवन के विषाद चित्रण तथा मजदूर वर्ग के प्रति सद्भावना के कारण इन रचनाओं में समसामयिकता तथा सामाजिक मूल्यों का समावेश होता है और इन्हीं तत्वों के आधार पर ये यथार्थवाद की दावेदार हैं।

(३)

यथार्थवाद का एक नया स्वरूप हमें रूसी रचनाओं में मिलता है। उन्नीसवीं शती के मध्य में जारशाही रूस में उपयोगितावादी (अथवा नीतिवादी,) साहित्य-दर्शन का आरम्भ हुआ। तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों तथा सामाजिक संवेदनापूर्ण उपन्यासकारों की परम्परा ने इस दृष्टिकोण को विशेष रूप से विकसित किया। जर्मनी के इतिहास-लेखक और स्वच्छंदतामूलक राष्ट्रीयता के आदर्श ने रूसी समीक्षकों पर भी अपना प्रभाव डाला और साहित्य में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति महत्त्वपूर्ण समझी जाने लगी। बेलिनस्की (१८११-१८४८), चेरनेशेवस्की (१८२८-८९) दोब्रोल्योबाव (१८३६-६१), और दिमित्री पिसेरेव (१८४०-६८) इस नई यथार्थवादी-राष्ट्रीयतावादी नैतिक विचारधारा के अग्रणी हैं। उन्होंने पुश्किन, गोगल, लेरमोंतोव, तुर्गनेव, दोस्तोवस्की और टाल्सटाय की रचनाओं के आधार पर यथार्थ-

वाद की नई व्याख्या की और उसमें वस्तुगतता, ऐतिहासिक समकालीनता, सामाजिक और राष्ट्रीय आवश्यकता और साहित्य के जीवनगत उत्तरदायित्व पर बल दिया। उपन्यासकार के लिये यह वांछनीय समझा गया कि वह राष्ट्र के अन्तर्जीवन का प्रतीक बने और उसके चरित्र राष्ट्रीय चरित्र की ही अभिव्यक्ति करें। इन समीक्षकों का आग्रह था कि नये साहित्कार सामाजिक ढांचे के अनुरूप वर्गीय चरित्रों को जन्म दें क्योंकि वही साहित्य साहित्य है जो राष्ट्रीय जीवन के ऐतिहासिक विकास की अभिव्यक्ति हो और जिसमें राजनैतिक तथा अर्थनैतिक मूल्यों का द्वन्द्वात्मक रीति से चित्रण हो। इस विचारधारा के अनुसार महान् लेखक अपने युग के समाज तथा युगधर्म से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं और समकालीन मनुष्यों से ही प्रेरणा लेकर युग-जीवन की वास्तविकता और संभावना का मूल्यांकन करते हैं। दोब्रोल्योबाव का विचार है कि उपन्यासकार अज्ञात रूप से भी यह कार्य संपादित कर सकता है। इसी प्रकार समीक्षा का लक्ष्य यही है कि उसके द्वारा अन्तर्निहित सामाजिक अर्थों की पुष्टि हो। फलतः कृति का उत्तरदायित्व कलाकार पर नहीं, उसके युग पर ही डाला गया। इस दृष्टिकोण का स्वच्छंदतावाद (रोमांस), विशुद्ध कलावाद अथवा शृंगार-मूलकता से सीधा विरोध था। सौन्दर्य-शास्त्र को मनोविज्ञान और स्वास्थ्य-शास्त्र तक सीमित कर दिया गया और साहित्य विवरण-प्रधान, सामाजिक प्रजातन्त्रीय सत्य ही ग्रहीत हुआ है। यथार्थवाद के इस रूप का विशेष विकास 'प्रकृतिवाद' में मिलता है जिसका सबसे व्यापक उपयोग ज़ोला की रचनाओं में हुआ है। १९वीं शताब्दी में कथा-साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवाद और प्रकृतिवाद की धाराओं की ही प्रधानता रही और उन्हीं के द्वारा सामाजिक समस्याओं का उद्घाटन हुआ। प्रकृतिवादी उपन्यासकार स्वयं को समाजशास्त्री और मनोवैज्ञानिक मानता था और वैज्ञानिक की भांति वस्तु-स्थिति का विश्लेषण तथा समाधान अपना धर्म समझता था। वस्तु-जगत ही उसकी प्रयोगशाला था। समाज ही उसके लिये प्रयोग की वस्तु थी और वह उसके सम्बन्ध में सम्पूर्ण सत्य का उद्घाटन करना चाहता था। उसकी रचना में कल्पना को किंचित् मात्र भी स्थान नहीं था। जोला ने १८८० में 'ले रोमान एक्सपेरिमेन्टल' (Le Roman Experimental लिख कर अपने प्रकृतिवादी सिद्धान्तों को मूलबद्ध किया। उसके अनुसार कार्य-व्यापार की स्वच्छंद रूप से कल्पना हो, इस कार्य—व्यापार को वैज्ञानिक-उपन्यासकार धैर्यपूर्वक अध्ययन का विषय बनाए जिससे उसे ऐसे गंभीर सूत्रों का पता चले जिनके द्वारा व्यावहारिक रूप से समाज का उन्नयन हो सके। उपन्यासकार के लिये यह चरम ज्ञान इसलिये आवश्यक है जिससे वह समाज का अनुशासन कर सके और जीवन पर हावी हो। वास्तव में यह विज्ञानवाद का आग्रह है और इसमें कला की पराजय है। ज़ोला ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि वह विशुद्धतः प्रकृतिवादी, विशुद्धतः इन्द्रियवादी होने में ही अपनी कला की सार्थकता समझते हैं और वंशानुक्रम तथा पूर्वजवाद को उन्होंने पूर्ण रूप से स्वीकार किया है। वे वैज्ञानिक मात्र बने रहने के लिये तैयार हैं परन्तु घटनाचक्रों एवं चरित्रगत भूमियों के भीतर चलने वाले सूत्रों की खोज भी चलती रहेगी। परिवार के भीतरी यंत्र के आधार पर उसके जीवन-नियमों का उद्घाटन उनके लिये श्रेष्ठ कला-धर्म है। इस प्रकार ज़ोला

के यथार्थवाद मे जडवादी एव विज्ञानवादी दृष्टिकोण का प्राधान्य है। इस दृष्टिकोण को हम विज्ञानवादी यथार्थवाद कह सकते हैं। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में अमेरिका में हावेल्स के द्वारा इस 'वाद' का विशेष विकास हुआ। नोरिस की रचना 'रिस्पांसिबिलिटीज आव द नावलिस्ट्स'(१९०३)यथार्थवाद के सम्बन्ध में अमेरिकी दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करती है। स्वय नोरिस के उपन्यास में जोला की भाँति सूक्ष्मतम तथ्यो का सग्रह है, परिवेश को चरित्र-गठन का प्रमुख अग बनाया गया है और रोग शोक, हत्याकाड और हिंसा का व्यापक उपयोग है। परन्तु दुर्बलताओ और विपत्तियो के चित्रण के साथ औद्योगिक जीवन के विस्फोटक आन्दोलनों का भी चित्रण है। वास्तव मे इन रचनाओं मे जोला के विपरीत असामान्य जनो, भयकर घटनाओं और दैनंदिन एकरसता के विपरीत उद्वेगपूर्ण तथा रोमांचक का ही अधिक आग्रह है और कथा की समाप्ति रक्तपात तथा मरण मे ही होती है। सामती कथाओं की युद्धवीरता के स्थान पर व्यावसायिक और व्यापारिक मतव्य-मूलक तथा उपयोगितावादी बन गया। बेलेनेस्की ने रूसी उपन्यासकारो को 'नेचुरल स्कूल' के अतर्गत रखा है। यद्यपि बेलेनेस्की ने स्पष्ट रूप से नैतिकवाद एव उपयोगितावाद की घोषणा नहीं की थी परन्तु उसके शिष्यो ने समाज-सुधार और बलिदानमुखी क्रांतिवाद तथा सामाजिक आशावाद को विकसित करने के लिये नियतिवादी भौतिकवाद, नास्तिकतामूलक उपयोगितावाद और प्रजात्मक व्यक्तिवाद का भी सहारा लिया। इन आलोचकों की मान्यता मे कला वर्तमान-कालिक और समाजमुखी है तथा समसामयिक जीवन के प्रति ईमानदारी उसका सबसे बडा उपादान है।

टालसटाय के कला-सिद्धान्त इस शृखला की महत्त्वपूर्ण कडी हैं। 'कला क्या है ?' (१८९८) मे उन्होने अपनी मान्यताओं को शान्तिपूर्वक स्थापित किया। उनकी कृतियों और जीवन भूमियो की अस्वीकृति होने पर भी इन सिद्धान्तों को महत्त्वपूर्ण समझा गया। टाल्सटाय के इस ग्रन्थ का परवर्ती साहित्य चिन्ता पर गहरा और व्यापक प्रभाव है परन्तु इससे भी अधिक उनकी दो रचनाओं 'युद्ध और शान्ति' और 'अना-करीनन' का प्रभाव पडा है। जहाँ तक यथार्थवाद का सम्बन्ध है, टालसटाय की मान्यताएँ उसे एक नवीन और आध्यात्मिक रूप दे देती है। उनके यथार्थवाद को हम आध्यात्मिक, रसमूलक तथा उपयोगितावादी कह सकते हैं। उसमे जीवन के उदात्त, श्रेष्ठ और व्यापक सदर्भों का आकलन है। टाल्सटाय से कुछ पहले यूजीन वेरों ने करुणा, सहिष्णुता, नारीत्व और बाल-जीवन के प्रति सम्मान, मानवीयता तथा पशु-पक्षियो के प्रति प्रेम भाव को युग की मूल सवेदना मान लिया था। टालसटाय भी इसी सवेदनावाद की परम्परा मे आते हैं जिसकी शृखला पूर्व-युगों मे मिल के दर्शन तक पहुँचती है। उनके 'सक्रामक' सिद्धान्त ने अभिव्यजना तथा निवेदन के क्षेत्र मे कुछ अतीव नवीन मान्यताएँ दी हैं। उनका विचार है कि कला-चेतना रस सवेदना के आदान-प्रदान पर आधारित है और इस रस-सवेदना को उन्होने धार्मिक माना है। परन्तु 'धर्म' शब्द से टाल्सटाय बडा व्यापक अर्थ ग्रहण करते हैं। उसमे युग के उदात्ततम जीवनदर्शन अथवा जीवनानुभूति का उच्चतर स्वर समाविष्ट है। वे कला को मानव के सार्वभौमिक बन्धुत्व का प्रसारक मानते

हैं। उनकी मान्यता है कि श्रेष्ठ कला अपने युग की सर्वोच्च ग्रहीत धारणाओं को सबसे अधिक विस्तृत अर्थात् सार्वजनीन भूमि पर प्रकाशित करती है। श्रेष्ठ कला जनापेक्षित है, ऐसी टाल्सटाय की मान्यता है। उन्होंने अनुकरणमूलक आंचलिक, यथार्थमूलक, वैचित्र्यमूलक तथा आतंक-रहस्यमूलक मनोरंजनवादी कला का स्पष्ट विरोध उद्घोषित किया है। संक्षेप में, टाल्सटाय कलावाद ("कला कला के लिए" सिद्धान्त) के विरोधी और सामाजिक प्रगतिशीलता के प्रचार एवं संरक्षण में साहित्य के उपयोग के समर्थक हैं। उनके अनुसार कला का उद्देश्य जनजीवन का आध्यात्मिक उन्नयन तथा उसके द्वारा श्रेष्ठतम मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा है।

मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन रूसी समीक्षकों और टाल्सटाय की मान्यताओं को शास्त्र का रूप देता है और गत्यात्मक (द्वन्द्वात्मक) भौतिकवाद तथा वर्गवाद से उसका सम्बन्ध स्थापित करता है। यथार्थवाद की मार्क्सवादी व्याख्या प्लेख़ोनाव (आर्ट एण्ड सोसाइटी, १६१२-१३,) ट्राटस्की (लिटरेचर एण्ड रिवोल्यूशन, १६२३,) और काडवेल (इल्यूजन एण्ड रियलिटी, १६३७) की रचनाओं में हुई है। वर्गसंघर्ष और क्रान्तिमूलक नैतिकवाद तथा राष्ट्रवाद के आदर्श पर बल एवं साहित्य-कला के क्षेत्र में आर्थिक तथा सामाजिक वर्गीयता की दृष्टि मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन की विशेषताएँ हैं। १६३२ के लगभग गोर्की द्वारा यथार्थवाद की नई व्याख्या समाजवादी-यथार्थवाद के रूप में हुई और यथार्थ के इस नये आदर्श को सरकारी मान्यता प्राप्त हुई। मार्क्सवादी यथार्थवाद (या समाजवादी यथार्थवाद) का आग्रह है कि समाज की यथार्थ स्थिति का व्यापकतम उपयोग हो, जीवन की प्रगतिशीलता के सम्बन्ध में उपन्यासकार की निश्चित मान्यताएं हों, उसे पार्टी का अनुमोदन प्राप्त हो और सामाजिक योजना का सम्पूर्ण स्वरूप उपन्यासकार के सामने रहे। उसमें प्रगीतात्मक स्वर, व्यक्तिगत सम्बन्ध, व्यक्तिपरक प्रतीक और तटस्थ चिन्तन की गुंजाइश नहीं है। सामाजिक उत्तरदायित्व की अवहेलना करना मार्क्सवादी कलाकार का सबसे बड़ा अपराध है। उसे प्रगतिशीलता के मार्क्सवादी आदर्श का सम्पूर्ण रूप से निर्वाह करना होगा। कहना नहीं होगा कि सिद्धान्तों की इन बेड़ियों में जकड़ कर किसी भी श्रेष्ठ कलाकृति की रचना असंभव है और संभवतः इसीलिए रूसी क्षेत्र से कोई महत्त्वपूर्ण यथार्थवादी रचना पिछले २५ वर्षों में नहीं आई है। शोलोख़ोव की रचना में हम टाल्सटाय का प्रभाव ही अधिक देखते हैं और गोर्की की परवर्ती रचनाएं भी नई मान्यताओं को लेकर नहीं चलीं। इलिया एरेह्लवर्ग जैसे एक-दो लेखकों का नाम अवश्य लिया जा सकता है, परन्तु स्वयं इलिया ऐरेह्ल-वर्ग की नई रचना 'था' (Thaw, १६५४) में काफ़ी स्वतन्त्रता बर्ती गई है। उसे हम प्रचलित मान्यताओं एवं शास्त्रीय प्रतिबन्धों के विरुद्ध कलाकार का विद्रोह भी कह सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आज रूसी यथार्थवाद बन्द गली में पहुँच गया है और उसकी सृजन-शक्ति कुंठित हो गई है।

• ४

प्रतीकवाद : एक टिप्पणी

अधुनातन पश्चिमी कविता का इतिहास एक प्रकार से प्रतीकवाद के विकास का ही इतिहास है। साहित्यिक सम्प्रदाय के रूप में इस 'वाद' की घोषणा १८८६ ई० मे 'फिगरो' (Figaro) पत्र में हुई। लेखकों का यह वर्ग प्रारम्भ मे 'डिकेडेन्ट्स' कहलाता था, परन्तु बीस वर्ष बाद १६०६ ई० मे 'सिम्बालिज्म' शब्द प्रचलित किया गया जो अधिक लोकप्रिय रहा। इस वाद के प्रवर्त्तकों का अभिप्राय एक विशिष्ट अभिव्यंजना शैली से था जिसमे शब्दों के अर्थबोध, स्वरूपबोध और चित्रबोध के स्थान पर उनके द्वारा मन स्थितियों के प्रकाशन की अपेक्षा की गई। एक प्रकार से हम इसे प्रकृतवाद और वस्तुवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं जिनमें स्थूल सदर्भों और यथार्थ संवेदनाओं की प्रधानता थी। स्थूल के प्रति सूक्ष्म का यह विद्रोह सहसा किसी एक दिन उद्घटित नहीं हो गया। दर्शन और कला के व्यापक क्षेत्रो मे इसी दिशा मे अनेक हलचलें उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से मिलने लगती हैं। चित्रकला और सगीत मे प्रभाववाद (इम्प्रेशनिज्म) का जन्म इन्हीं दिनो मे हुआ और अवचेतन का एक सम्पूर्ण दर्शन ही खड़ा कर लिया गया जिसका अन्त बर्गसाँ के दर्शन मे होता है। उन्नीसवीं शती के अन्तिम वर्षों मे पश्चिमी दर्शन मे आदर्शवाद के रूप मे इसकी एक परिणति मिलती है। इस आन्दोलन को हम स्वच्छन्दतावाद की एक प्रशाखा भी कह सकते हैं और वस्तुत प्रतीकवादी काव्य में निरन्तर ही स्वच्छन्दतावाद की एक सूक्ष्म फल्गुधारा बहती रही है।

प्रतीकवादी धारा के पीछे यह दार्शनिक धारणा है कि यह वस्तु-जगत किसी रहस्यमय सूक्ष्म जगत की प्रतिच्छाया है और इसका प्रत्येक पदार्थ उस रहस्य-जगत के सूक्ष्म पदार्थ का प्रतीक है। यह धारणा प्लेटो से आरम्भ होती है, परन्तु बाद मे अलक्जेन्ड्रिया के नव-अफलातूनियो ने इसे शास्त्रीय रूप दिया और कूटस्थ बनाया। मध्य युग के रोमांसो मे भी एक प्रकार का अस्पष्ट रहस्यवाद मिलता है और उस पर, कदाचित् ईरान के 'मानी मत' का भी प्रभाव है जिसके अनुसार यह सृष्टि आध्यात्मिक स्वरूप में सृजित हुई थी परन्तु बाद मे अदेवो ने इसे भौतिक स्वरूप दे दिया जिसका फल यह हुआ कि इस जगत की स्थूल वास्तविकता एक विनष्ट आध्यात्मिक परिपूर्णता का प्रतीक-मात्र है। रेनेसा मे यह विचारधारा एक वर्ग-विशेष मे अग्रसर होती रही, परन्तु १८वीं शती मे उसको भूमि को पर्याप्त विस्तार मिला। इस प्रकार अन्त मे वह काव्योपयोगी बनी। आरम्भ में केवल कुछ ही वस्तुओं को प्रतीक के रूप में ग्रहण किया गया परन्तु १८वीं शती मे स्वीडेनवर्ग

ने 'परापरता के सिद्धान्त' (थ्योरी आव कारेस्पाण्डेन्सेस) के रूप में एक प्रतीक-शास्त्र को ही जन्म दे डाला। उन्नीसवीं शती के मध्य में बोदलेर ने अपनी 'ले कारेस्पाण्डेन्सेस' सानेट में इस मतवाद को प्रसिद्धि दी। इस मत के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु प्रतीक मानी जा सकती है। फलस्वरूप देवकथा (मिथ) और रूपक (एलाग्री) के स्थान पर प्रतीक-पद्धति का प्रचार बढ़ा। देवकथाओं और रूपकों में परम्पराबद्धता और बहिरूपता है, परन्तु प्रतीक व्यक्तिगत होने के कारण अन्तरानुभूति का प्रकाशन बन सकता है और उसमें निरन्तर नवीनता की योजना सम्भव है। इस प्रकार नव-अफ़लातूनी दर्शन-परम्परा सज्ञान रूप से साहित्यिक प्रतीक-पद्धति में विकसित की गई और एक नई गीतात्मक भाषा-शैली का निर्माण हुआ। बोदलेर की सानेट में सहबोध (सिनेस्थेसिया) के सिद्धान्त का भी उल्लेख था जिसके अनुसार रूपात्मक, रंगात्मक, ध्वनिमूलक और अन्य संवेदनाएँ परस्पर परिवर्त्तनशील हैं। जहाँ परापरता के सिद्धान्त के अनुसार समस्त भौतिक पदार्थ एक रहस्यमय और अन्तर्मुक्त इन्द्रियातीत एकता में लयमान हो जाते हैं, वहाँ सहबोध के सिद्धान्त से रूप, रंग, रस, गन्ध, स्पर्श परस्पर अविच्छिन्न, अखण्डित अन्तरंग सौन्दर्यबोध में परिणति पाते हैं। यह युग स्वच्छन्दतावादी गीतात्मकता के विरोध का युग था और प्रतीकों के पारस्परिक आरोप अथवा विरोध के द्वारा जिस वैचित्र्यमूलक व्यक्तिमत्ता का प्रसार प्रतीकवाद में होता था उसने काव्य के क्षेत्र में नई सम्भावनाओं की सूचना दी। फल यह हुआ कि प्रतीकवाद का आन्दोलन जड़ पकड़ने लगा और धीरे-धीरे उसमें नए पक्षों का आविर्भाव हुआ तथा उसे यूरोपव्यापी मान्यता प्राप्त हुई।

बोदलेर के बाद आर्थ रिम्बो ने प्रतीक-पद्धति में 'स्वप्न' का प्रवेश कराया। रिम्बो तात्कालिक तथा वास्तव का अतिक्रमण कर सत्य के उस मौलिक स्वरूप तक पहुँचना चाहता था जो देश-काल निरपेक्ष है। उसने कविता में आध्यात्मिकता का सन्निवेश किया और विच्छिन्न तथा अतर्कित स्वप्न-शृंखला द्वारा आत्मा के गूढ़ रहस्य-क्षणों को प्रकाश में लाने की चेष्टा की। उसकी अभिव्यंजना-शैली का विशेष विस्तार वर्लें में मिलता है। वर्लें के काव्य में व्यंग्यार्थ ही ध्येय है और शब्दों के द्वारा ही परिवेश के निर्माण का प्रयत्न किया गया है। वह स्पष्ट अर्थबोध का विरोधी है और गीतात्मकता के द्वारा आत्मानुभवी अन्तरंग लयमानता का पुनर्निर्माण चाहता है। स्वच्छन्दतावादी काव्य में जहाँ तात्कालिक संवेदना पर बल था, वहाँ वर्लें के काव्य में अनुभूति स्वप्न के धरातल पर ही स्थित रहती है और भाव की कोटि से आगे नहीं बढ़ती। बोदलेर के एक अन्य अनुगामी मेलार्मे ने वाक्य-विन्यास को अस्त व्यस्त कर प्रतीक-विरोध को उभारने की चेष्टा की और वैदग्ध्यमयी समानताओं और वैचारिक दुर्विन्यास के द्वारा अधमुन्दे-अधखुले प्रातिभासिक अनुभवों के गहन गर्त्त में उतरने का प्रयत्न किया। इससे काव्य कूट बन गया। उसने चित्रमय प्रतिमानों को एक साथ भावना-जाग्रति और दर्शन-बोध के लिए प्रयुक्त किया। इस प्रारम्भिक विकास के बाद प्रतीकवाद एक व्यापक आन्दोलन का रूप धारण कर लेता है। वर्लें और मेलार्मे दो भिन्न शैलियों के प्रतिनिधि बन जाते हैं। वर्लें के चरण-चिन्हों पर चलने वाले कलाकार मन की अस्पष्ट सूक्ष्म गतियाँ अथवा अवचेतनीय

धारणाओं को सरल और प्रत्यक्ष प्रतीकों द्वारा वाणी देने में ही काव्य की सफलता मानते हैं, यद्यपि उनका दृष्टिकोण अवसादवादी और विस्फोटमय है। मेलार्मे के अनुयायियों ने अधिक सजग, चेतनाबद्ध और समन्वयात्मक कला की सृष्टि की और रचना-विधान अर्थात् आरकिटैक्टानिक्स पर उनका विशेष आग्रह है। उन्हें 'हारमोनिस्टे' और 'वर्स लिब्रिस्ट' भी कहा जा सकता है।

यद्यपि इस प्रतीकवादी धारा का जन्म फ्रांस में हुआ परन्तु शीघ्र ही फ्रांस से बाहर अन्य देशों में भी व्यापक रूप से इसका प्रभाव पड़ा। इंगलैण्ड में 'डिकेन्डण्ट' वर्ग, अमेरिका में 'इमेजिस्ट' और 'सिम्बोलिस्ट', जर्मनी में रिल्के और स्टेफन जार्ज तथा स्पेनिश अमेरिका में 'माडर्नेस्टास' इसी धारा के अन्तर्गत आते हैं। कालान्तर में अनेक विचारधाराएँ और अभिव्यंजना-शैलियाँ प्रतीकवादी धारा में समाहित हो गईं। पाल वेलेरे ने संगीत से सूक्ष्मता ग्रहण की और गणित के सिद्धान्तों के आधार पर काव्य का स्वरूप निर्माण किया। पाल क्लादेल ने उसे धर्म का तत्त्व दिया और इमर्सन, मेटरलिंक, यीट्स, सिंज तथा पाल विन्सेण्ट केरेल में कैथोलिक प्रभावों का स्पष्ट रूप से इंगित किया जा सकता है। नाटक के क्षेत्र में चेखव, इयोजीन ओनील और फिलिप वेरी तथा उपन्यास के क्षेत्र में जूले रोमां इसी धारा के प्रभाव को सूचित करते हैं। समसामयिक काव्य में इलियट इस धारा के प्रभावों को आत्मसात करके ही आगे बढ़े हैं और उनके काव्य के विश्वव्यापी प्रभाव ने प्रतीकशैली को सार्वभौमिक बना दिया है। अभिव्यंजनावाद, सुररियलिज्म और अन्य अनेक व्यक्तिपरक प्रवृत्तियाँ प्रतीकवाद की ही शाखा प्रशाखा हैं और इन नए वादों के माध्यम से प्रतीकवाद आज भी साहित्य और कला के क्षेत्रों की एक व्यापक जीवन्त शक्ति है।

पीछे की ओर मुड़ कर देखें तो उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांस का प्रतीकवाद मूलतः रहस्यवादी आन्दोलन था और उसका जन्म विज्ञान के विरोध में हुआ। नए-नए आविष्कारों के कारण धर्म पर से श्रद्धा उठती चली जा रही थी और सत्य की खोज के लिए किसी नई दिशा की आवश्यकता थी। कला के क्षेत्र में उन दिनों ज़ोला के प्रकृतवादी यथार्थ का प्राधान्य था जिसमें सामयिक जीवन को दीर्घसूत्री विस्तार मिला था। उसमें रहस्य को किंचित् मात्र भी स्थान नहीं था। वस्तुमुखी कलाकारों का विश्वास है कि इस स्थूल जगत में ही सत्य की उपलब्धि संभव है। वे नव अफलातूनी दार्शनिकों की भाँति किसी अतीन्द्रिय लोकोत्तर जगत में आस्था नहीं रखते। ज़ोला का प्रकृतवाद विज्ञान के युग की ही देन था और उसे हम वैज्ञानिक यथार्थवाद कह सकते हैं। प्रतीकवादियों ने इस 'वाद' का विरोध किया और एक आदर्श संसार का पल्ला पकड़ा जो इस वास्तविक संसार से कहीं अधिक वास्तव था। इस रहस्यमूलक दृष्टि पर ईसाई मतवाद का प्रभाव भले ही हो, उसे ईसाई मतवाद नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टिकोण में धर्म का स्थान 'आदर्श सौन्दर्य' ने ले लिया था, परन्तु बोदलेर, वर्लें और मेलार्मे ने इस आदर्श सौंदर्य की व्याख्या अपने अपने ढंग पर की और उसे मूर्तिमान करने के लिए भिन्न भिन्न पद्धतियों को अपनाया। इन सभी लेखकों का ईसाई धर्मभाव विचलित हो चुका था और उन्होंने लोकोत्तर सौंदर्य की उपासना में ही नया धर्म खोज लिया। उनकी सौन्दर्य की खोज अतर्कनीय, आभ्यंतर,

गहन तथा अनन्य है। उन्होंने इन्द्रियों के वातायन के बाहर अनन्त सौन्दर्य-गर्भ में झांकने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार रहस्यवाद को हम रहस्योन्मुख सौन्दर्यवाद भी कह सकते हैं। इंग्लैंड में राजेटी, आस्कर वाइल्डी और पेटर द्वारा प्रवर्तित भावधारा (द एस्थेटिक मूवमेंट) इसी धारा का अपार रूप है परन्तु उसमें न उतना शास्त्रीय ऊहापोह है, न उतनी साधना, न उतना रहस्य जितना फ्रांस की प्रतीकवादी धारा में। मेलार्मे ने जिस सूक्ष्म तार्किकता से अपने सौन्दर्य-सिद्धान्तों का स्थापन किया वे राजेटी और पेटर में अलभ्य हैं। मेलार्मे ने कला सम्बन्धी एक प्रकार के रहस्यवाद को ही जन्म दे दिया।

इस रहस्यवाद का स्वरूप क्या था, इसे हमने आगे निबन्ध में बतलाने का प्रयत्न किया है। यहाँ यह कह देना काफ़ी होगा कि प्रतीकवाद का मूलाधार उसका आदर्श सौन्दर्य-जगत के प्रति आग्रह है—साथ ही यह आस्था भी कि कला के माध्यम से उस सौन्दर्य-जगत को आत्मसात करना संभव है। फलस्वरूप काव्य में पूजा-भाव और अन्तर्योग को महत्त्व मिला और योगी की निर्विकल्प समाधि के स्थान पर कलाकार की सविकल्प समाधि की कल्पना हुई जिसमें देश-काल, अस्ति-नास्ति और हर्ष-विषाद अखण्डित आनन्द में लयमान हो जाते हैं। सर्जनात्मक स्वप्न के क्षणों में कवि जिस ऊर्जस्विता का अनुभव करता है उसे ही एक मात्र लक्ष्य मान लिया गया और कवि नए युग का पैगम्बर बन गया। अपनी आत्मानुभूति को प्रगट करने के लिए कवि ने प्रतीकों का सहारा लिया परन्तु ईसाई धर्म के परंपरागत प्रतीक उसकी भावाभिव्यंजना में असमर्थ थे। फलस्वरूप, उसे अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर नए प्रतीक गढ़ना पड़े। इन प्रतीकों को उसी संदर्भ में ग्रहण करना कठिन था जिस संदर्भ में स्वयं कवि ने अपनी भावोद्रेक की स्थिति में उनसे साक्षात्कार किया था। जैसे-जैसे इस काव्यधारा का फाट चौड़ा होता गया, प्रतीकों की संख्या और उनके वैचित्र्य में वृद्धि होती गई। जिन सूक्ष्मतम अनुभूतियों के आधार पर प्रतीक खड़े किए गए, उनके लिए संध्याभाषा का ही प्रयोग हो सकता था। कवि के अन्तस्वंप्न में जिस लोकोत्तर आनन्द की प्रतीति थी, उसे प्रगट करने की होड़ लग गई और शब्द पीछे छूट गए। प्रतीकवादी काव्य की रेखाएँ धुंधली हैं तो इसीलिए कि कवि के भास्वर स्वप्न धरती की भाषा में बंदी नहीं हो पाए हैं, परन्तु इस धुंधलके में भी मुख्य-मुख्य वर्ण अद्‌भुत प्रखरता में उद्‌भासित हैं।

इस विशिष्टता ने ही प्रतीकवाद की सीमाएँ भी बाँध दीं। राजनीति, समाज, जनजीवन, इतिहास और आख्यान काव्य के विषय नहीं रहे। स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा में इनका दूर तक प्रसार था, परन्तु नई काव्यधारा संकीर्ण कूलों में बही। कला के विज्ञानवादी अथवा वस्तून्मुखी आदर्श को भी प्रतीकवादी बचा कर चले क्योंकि वे अपनी सूक्ष्मतम सौन्दर्य-साधना को मिट्टी का स्पर्श नहीं देना चाहते थे। परन्तु आदर्श के प्रति यह अनन्यता प्रतीकवाद का संबल भी बनी। इसमें उसे निरन्तर उत्कर्ष की प्रेरणा मिली और भावनाओं एवं संवेदनाओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म संस्कार का अवसर प्राप्त हुआ। वह असामान्य बन कर ही असाधारण बना। उसका पक्ष था 'सुन्दरम्'। इस लक्ष्य पर वह अटल रहा। इसी से प्रतीकवादी काव्य में न कविकर्म है, न ग्रामीणता,

न नीति न रणभेरी। उसके स्वर कोमलता और अभिजात्य के स्वर हैं। प्रारम्भ में प्रतीकवादी कवि निर्वैयक्तिकता पर आग्रही था, परन्तु धीरे-धीरे उसने सूक्ष्म वैयक्तिक तत्वों को अपनी कला में स्थान दिया और आत्मा के अंतरंगी वैभव को चित्र-विचित्र रूप प्रदान किया। प्रतीकवादियों का एक अन्य उपकरण था संगीत। उनके सामने वेगनर का अद्भुत संगीत था और उन्होंने कविता के क्षेत्र में उतनी ही कोमल, प्राणवान और सूक्ष्म मूर्च्छनाओं को जन्म देने की चेष्टा की। नए कवियों का यह विश्वास था कि कविता अभिचार से अभिन्न है और संगीत इस अभिचार का सबसे बड़ा अंग है। परन्तु संगीत निरर्थक है और कविता में सार्थक शब्दों का प्रयोग है। कविता को संगीत की झंकार बना डालना न संभव था, न वांछनीय। परन्तु इस नए आदर्श के पालन से नई भ्रांतियों का सृजन हुआ और अर्थबोध के स्थान पर अस्पष्टता पल्ले पड़ी। स्थापना यह थी कि कविता व्यंग्य हो, वाच्य न हो, उसमें वातावरण का निर्माण हो, समाँ पैदा हो, कुछ ऐसा हो जो रहस्यमय हो। परन्तु अधिकांश रचनाओं में यह रहस्यमयता आध्यात्मिकता का इन्द्रजाल बन गई। उसमें 'कहा' कम था, 'अकहा' अधिक था। बाद में कवियों का 'विशुद्ध कविता' के प्रति आग्रह कुछ कम हुआ और उन्होंने उसमें बोध पक्ष का भी योग दिया। उन्होंने यह स्वीकार कर लिया कि शब्दों के अर्थ होते हैं और कविता को बोधगम्य होना चाहिए। परन्तु कविता के जादू पर से उनकी आस्था एकदम हट नहीं गई। भावना और कल्पना का उद्रेक उनका लक्ष्य बन गया। स्टेफान जार्ज और अलेक्जेंडर ब्लाक जैसे पैगम्बर-कवि भी कविता के सम्बन्ध में इसी धारणा को लेकर चले। समाज बदलेगा तो गीत पहले बदलेगा। यही नहीं, कविता, गीत, संगीत और कला समाज को नया भाव-विन्यास देंगे और उनके द्वारा ही मानव नव्य जीवन में प्रवेश पा सकेगा। इस प्रकार परवर्ती प्रतीकवादियों ने अपने और समाज के बीच के व्यवधान को कुछ सीमा तक दूर किया। कवि की कला एक सूक्ष्म आभ्यंतर जीवन का निर्माण कर सकती है और वस्तुओं की सम्बन्धगत विशेषताओं का उद्घाटन उसके द्वारा संभव है। भावना और कल्पना का प्रवेश जहाँ है वहाँ विज्ञान का प्रवेश निषिद्ध है।

इस धारणा से कवि को केन्द्रीय स्थिति मिली। कवि अदृश्य की बीन बन गया। यह दावा किया गया कि कवि का व्यक्तित्व स्वतंत्र हो और उसे निजी अभिरुचियों के विकास की सुविधा मिले। उसका उत्तरदायित्व केवल अपनी अन्तरानुभूति के प्रति है। वह देश-काल निबद्ध प्राणी है। एक सीमा तक कवि के इस दावे को स्वीकार भी किया गया और रिल्के जैसे कवियों में इस कवि स्वातन्त्र्य का अपरिसीम विस्तार हमें मिलता है। यद्यपि इन कवियों ने कठोर यथार्थ के संस्पर्श के प्रति संकोची भाव से अपनी कविता का आरम्भ किया परन्तु उनकी 'सुन्दरम्' की उपासना उन्हें सामान्य जीवन और मानव-मात्र की गहनतम अनुभूतियों तक ले गई। अपनी निजी संवेदनाओं में ही उन्होंने सब के 'उर की डाली' देखी, व्यापक जीवन-स्पन्दन बाँधा। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि राजनीति भी काव्य का विषय बन सकती है यदि कवि घटनाओं में व्यक्तिपरता की स्थापना कर सके और उन्हें कला की चीज बना सके। व्यक्तित्व पर यह बल स्वच्छन्दतावादी काव्य में भी था, परन्तु

वहाँ कवि की वाणी अत्यधिक मुखर थी और उसमें आत्माभिव्यक्ति की अपेक्षा आत्मप्रकाशन की मात्रा ही अधिक थी। प्रतीकवादी कवियों ने अतिवादी भावनाओं को पीछे छोड़कर सामान्य और दैनंदिन के आधार पर अपनी अन्यतम बात कही। बड़ी ईमानदारी से और बड़े साहस से उन्होंने अपने अन्तरतम में प्रवेश किया और ऐतिहासिक तथा पौराणिक पात्रों के सहारे या प्रतीकों के द्वारा अपनी भावनाओं का सुविस्तृत आलेख उपस्थित किया। इस दिशा में उनकी उपलब्धि अप्रतिम रही है। अपने भीतर डूब कर कवि ने अनन्त विषय खोज निकाले और उसके अपने चित्रण में हमें अपना बोध मिला। अन्य दिशाओं में कविता की जो हानि हुई वह कवि की इस स्वोपलब्धि से पूरी हो गई और नए काव्य-क्षेत्रों का विकास हुआ।

वास्तव में प्रतीकवादियों ने अपनी काव्य की परिभाषा बड़ी ऊंची रखी थी और किसी एक दिशा में चरम विकास किसी अन्य दिशा में संकोच का सूचक बन जाता है। अभिव्यंजना-पक्ष के वैविध्य, विस्तार और वैशिष्ट्य के कारण उन्होंने सामान्य भाषा और बोलियों के शब्दों को 'ग्रामीण' माना और कविता में संगीत-तत्त्व की प्रधानता व्यंजक मात्र न रह कर सर्वोपरि बन गई। नई-नई लयों, धुनों और मूर्च्छनाओं की खोज में अर्थसिद्धि पीछे छूट गई। एकमात्र 'सुन्दरम्' की दृष्टि से जीवन को देखने का फल यह हुआ कि सामान्य के स्थान पर अस्पष्टता का ही सृजन कर सकी। जहाँ और आगे बढ़कर कवि व्याकरण के सामान्य नियमों का अतिक्रमण कर कूट लिखने लगा, वहाँ व्यंग चाहे जितना भी सूक्ष्म हो, कविता का साधारणीकरण असंभव था और उसमें रसास्वादन की क्षमता ही नहीं रह गई थी। यह अवश्य है कि मेलार्मे और वर्लें जैसे समर्थ कवि वैचित्र्य में भी सप्राण हैं, परन्तु कालान्तर में वैचित्र्य फ़ैशन बन गया। 'विशुद्ध काव्य' का यह आन्दोलन अन्त में काव्य ही नहीं रह गया। उसने चित्र-काव्य की सृष्टि कर डाली।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रतीकवाद के आन्दोलन ने कवि की आत्मानुभूति को काव्य की इकाई माना और संगीत को काव्यगत अभिव्यंजना का सबसे प्रबल उपकरण ठहराया परन्तु सामान्य मनुष्य के भावविलास से हट कर कवि के अपने गुह्य स्वप्नों और आभ्यन्तर सूक्ष्मताओं को महत्त्व देने से कविता की रस-सामर्थ्य का ह्रास हुआ। कविता व्यापक जीवन की वस्तु न रह कर कुछ विशिष्ट अतिसंवेदित प्राणियों का कला-विलास बन गई। उसमें जीवन-प्रेरणा नहीं रह गई क्योंकि उसने कर्म के स्थान पर स्वप्न और चिन्तन को अपना लिया। उत्तर में प्रतीकवादी काव्य में एक प्रकार का पलायनवाद स्पष्ट दिखलाई देता है जिसमें भागते स्वप्नों और तरल संवेदनाओं को पकड़ने की मरुमरीचिका है। इस पलायन के मूल में कवि का अभिजात्य गर्व और जन के प्रति घृणा का भाव अकड़ा बैठा है। इसमें संदेह नहीं कि कविता साधना है और उसमें अन्तर्योग तथा एकान्त का महत्त्व अनिवार्य है परन्तु जहाँ जीवन के यथार्थ को अपदार्थ और कल्पनात्मक अनुभूति को ही सब कुछ मान लिया गया हो, वहाँ कविता तथा जीवन में अन्तराल बढ़ाना अनिवार्य है। प्रतीकवादी काव्यधारा का इतिहास यह घोषित करता है कि जीवन के रस-स्रोतों को छोड़ कर कविता अपनी जीवन-शक्ति का ह्रास ही करती है। युगातीत को लक्ष्य बना कर युग-धर्म की

उपेक्षा करना हास्यास्पद ही नही, स्वास्थ्य और सतुलन के लिए घातक भी है। आज जब हिन्दी कविता मे प्रतीकवाद द्रुतगति से विकासमान है, इस ऐतिहासिक सत्य को प्रत्यक्ष रखना होगा।

यह आवश्यक है कि हम यूरोपीय प्रतीकवाद की सीमाओ और उपलब्धियो का सम्यक् ध्यान रखते हुए आगे बढें और विभिन्न पूर्ववर्ती कवियो के प्रयोगो से लाभ उठाएँ। प्रतीकवाद की कुछ सीमाओ का हमने ऊपर उल्लेख किया है। उसकी सबसे बडी सीमा यही थी कि उसमे कविता को वाद मान लिया गया था। कविता की एक सीमा है नीति या उपदेश, जिसमे वाच्यार्थ की प्रधानता है, दूसरी सीमा है अतीन्द्रिय प्रभाव की सृष्टि जिसमे व्यजना और रहस्य का प्राधान्य है। परपरावाद और स्वच्छन्दतावाद के इन दो छोरो म से प्रतीकवाद स्वच्छन्दतावाद के पक्ष मे है और उल्लेख की अपेक्षा भावनिर्मिति तथा सूचना के स्थान पर प्रभाव-योजना का अन्वेषी है। वास्तव में काव्य का सम्यक् सत्य इन दो दृष्टिकोणों के बीच मे मिलेगा और होमर, दाँते, शेक्सपियर, कालीदास और रवीन्द्रनाथ के काव्य में बोधपक्ष और भाव-पक्ष एक ही प्रकार महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु इन कवियो का युग आस्था का युग था और कवि के सम्बन्ध मे यह धारणा थी कि जीवन के अन्तरग मे उसका निर्द्वन्द्व प्रवेश है। ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ जब कवि का राज सिंहासन छिन गया तो उसने जादू का वेश अपना लिया। उसने यह दावा उपस्थित किया कि कविता के द्वारा दुनिया बदल सकती है। सत्ता को प्रबुद्ध करने के स्थान पर उसे क्षुब्ध और प्रसुप्त करने मे ही उसने काव्य-कला का चरम विकास देखा। कविता शब्दो, ध्वनियो और सपनो जीवन और दैनदिन अनुभवों का स्वाद ही नष्ट हो गया और इसमे अवसाद तथा निरानद का जन्म हुआ। फिर भी प्रतीकवादी कवियो को यह श्रेय मिलना चाहिए कि उन्होंने सर्जनात्मक कला को आकर्षक बहुरूपता दी और आज के सुसस्कृत मनुष्य की अनेक-सूत्री एव अनिर्दिष्ट चेतना मे प्रवेश कर उसमे ऐसी रहस्यगर्भिता का आविष्कार किया जिसे केवल प्रतीको और ध्वनिमूलक उपकरणो मे ही प्रकाशित किया जा सकता है। आज के वैज्ञानिक युग मे उन्होंने कविता की अनिवार्यता और अप्रतिद्वन्द्विता फिर एक बार स्थापित कर दी।

यह पूछा जा रहा है कि यूरोपीय प्रतीकवाद ने काव्य को क्या दिया और हिन्दी के काव्य-विकास के नाते प्रतीकवाद से क्या आशा की जा सकती है। पिछली कई शताब्दियो से काव्य निर्वैयक्तिकता और वैयक्तिकता के दो ध्रुवो के बीच मे झूमता रहा है और यूरोप मे प्रतीकवादी धारा के पश्चात् काव्य फिर एक बार निर्वैयक्तिकता की ओर लौटा है। इब्सन और फ्लावेर की वस्तुमुखी रचनाओं मे जिस प्रकार स्वच्छन्दतावाद की संवेदना और भाषा शैली घुलमिल गई थी, उसी प्रकार परवर्ती काव्यविकास मे प्रतीकवाद के स्वस्थ तत्त्व अवश्य ग्रहीत होगे। मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धो और समाजमुखी प्रेरणा सूत्रो को लेकर जो रचनाएँ कालान्तर में आएँगी, वे प्रतीकवाद के शिल्पविधान और उसकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से लाभान्वित होगी। पिछले कुछ वर्षों मे यूरोप मे एकेमिजम, फ्यूचरिजम, एक्सिसटेंशलिजम (अस्तित्ववाद), कन्स्ट्रक्टविजम आदि जो अनेक धाराएँ विकसित हुई हैं उनसे यह

स्पष्ट है कि अभी घड़ी का पैण्डुलम परम्परावाद से बहुत दूर है। परन्तु यह निश्चित है कि ऐतिहासिक विकास के साथ धीरे-धीरे परम्परावाद और स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्तियाँ पास आ रही हैं और यह भी सम्भव है कि सुदूर अनागत में काव्य और साहित्य का यह द्वन्द्व ही नष्ट हो जाए। यह वांछनीय भी है क्योंकि वैयक्तिक तथा निर्वैयक्तिक कला सम्बन्धी हमारी धारणाएँ भौतिकवाद और आदर्शवाद के उस भ्रामक विरोध से विकसित हुई हैं जिसके मूल में हमारी उन्नीसवीं शती की विज्ञान-बुद्धि है। वास्तव में द्वन्द्व का यह स्वरूप ही गलत है। परम्परावाद और स्वच्छन्दतावाद अथवा वस्तुवाद और प्रतीकवाद विरोधी तत्त्व क्यों हों। क्या ये तथाकथित विरोधी तत्त्व परस्पर पूरक बन कर हमारे मानव-जीवन की अधिक वैभवमय, अधिक सूक्ष्म और अधिक अन्तर्योजित झाँकी नहीं दे सकेंगे। निःसन्देह प्रतीकवादी कवियों ने कल्पना को नए पंख दिए हैं। उन्होंने जहाँ एक ओर स्थूल वस्तु-जगत की भौतिकता को छिन्न-भिन्न कर उसके भीतर आध्यात्मिकता के दर्शन कराए है, वहाँ दूसरी ओर अन्तश्चेतनामूलक अन्तर्बोध के द्वारा आत्मा की अतल गहराइयों में उतरने का साहस किया है। उनकी कृतियाँ भावी कवि-पीढ़ियों के लिए प्रकाशस्तम्भ का काम देंगी और जीवन के प्रति हमारी आसक्ति बढ़ाएँगी। विज्ञान और दर्शन की अधुना उपलब्धियों से कम कविता की उपलब्धि नहीं है—यह तो आज प्रमाणित ही हो चुका है। मानव-चेतना में जिस स्वर्णोदय का आभास आज मिलने लगा है उसके निर्माण में प्रतीकवादी काव्य-साधना का योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहेगा।

: ५ :

मनःविश्लेषण और काव्य-चिन्तन

(१)

मन विश्लेषण-शास्त्रियों के काव्य-चिंतन पर विचार करने से हमें मन-विश्लेषण की सीमा पर विचार करना उचित होगा।

पहली बात यह है कि मन विश्लेषण विज्ञान की नव्यतम उपलब्धि है जिसका जन्म फ्राइड की रुग्ण मानस सम्बन्धी खोजो से होता है। फ्राइड के समय मे ही एडलर, युंग और अन्य मन विश्लेषकों ने उनकी कुछ प्रपत्तियो से अपना गम्भीर विरोध घोषित कर दिया था और उनकी मान्यताओं के आधार पर कला एवं साहित्य सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोणो का जन्म हो चुका था। फलत काव्यचिंता सम्बन्धी मन विश्लेषणीय व्याख्या केवल फ्राइड तक सीमित नहीं रहती। उसके लिए हमे अन्य मन विश्लेषको तक पहुँचना होगा। इस प्रकार मन विश्लेषणीय व्याख्या बहुउद्देशीय और बहुरूपी होगी। यह भी स्मरण रखना होगा कि स्वयं फ्राइड नई खोजो के प्रकाश में अपनी मान्यताओं के स्वरूप और उनके विस्तार को बराबर बदलते रहे हैं और अन्त तक प्रयोगों तथा निष्कर्षों की यह शृंखला समाप्त नहीं हो पाई है। सच तो यह है कि कला-साहित्य सम्बन्धी फ्राइड की उत्तर स्थापनाएँ पूर्वतन प्रवृत्तियो से इतनी बदली हुई हैं कि दोनो मे अन्तर्विरोध उपस्थित हो गए हैं।

दूसरी कठिनाई यह है कि मन विश्लेषण और कला के सम्बन्ध मे विचार करते समय हम मन विश्लेषणात्मक विचारधारा को या तो सरल मान लेते हैं या अपने लिए उसका एक संक्षिप्त संस्करण तैयार कर लेते हैं। सामान्यत मन-विश्लेषण के लिए जिस जागरूकता और तत्परता की आवश्यकता है, कला और साहित्य के अध्ययन के लिए हम उससे कम से कम सन्तुष्ट हो जाते हैं। साहित्य जीवन से कम संश्लिष्ट, गहन और रहस्यमय नहो है और उसे मन विश्लेषण के किसी भी बीजमन्त्र में बाँध लेना असम्भव बात है। इस प्रकार का सरलीकरण भ्रामक भी हो सकता है। मन विश्लेषण के लिए विशिष्ट पारिवेशिक स्थितियों का निर्माण आवश्यक है, परन्तु साहित्य और कला का विश्लेषण करते हुए हम उस वास्तविकता को भुला देते हैं जिसमे साहित्यकार या कलाकार सृजन करता है। यह वास्तविकता कोई सरल इकाई नहीं है। कलाकार के सृजन क्षणों मे समस्या का क्या स्वरूप है, विकास के किन ऐतिहासिक कारणों ने उसकी कला की सीमाएँ निश्चित की हैं,— ये कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो कलाकार की अभिव्यंजना को निश्चित करते हैं और उसके

सृजन की सीमा बन जाते हैं। अतः जीवन की तरह साहित्य को भी किसी बंधी हुई धारणा के ढांचे में देखना हास्यास्पद है। न तो प्राणीशास्त्रीय व्याख्या ही साहित्य-प्रक्रिया को पूर्णतः विश्लेषित कर सकती है, न समाजशास्त्रीय व्याख्या ही। मन.विश्लेषक निरोधात्मक और कुंठात्मक संस्थानों पर बल देकर प्रवृत्तिमूलक प्रेरणाओं के क्षेत्र को संकुचित बना देते हैं और समाजशास्त्री साहित्यकार अथवा कलाकार को 'स्वयंभू' मानने के लिए तैयार नहीं हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम मन:विश्लेषण-शास्त्र को सतत प्रगतिशील, विकासमान और सार्वभौम मानें और श्रेष्ठ कृतियों द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों की अवहेलना न करें।

एक तीसरी कठिनाई कला और विज्ञान के अन्तर्सम्बन्ध की है। मन.विश्लेषण विज्ञान और कला के क्षेत्र में उसकी प्रपत्तियों का आरोपण या तो ऐतिहासिक पद्धति पर संभव है जिसमें संवेदक (कलाकार), सवेद्य (पाठक या श्रोता) और संवेदना (वस्तु या संदेश) के ढांचे में ही कलाकृति का अध्ययन संभव है। या हम कला-समीक्षा के क्षेत्र में मन:विश्लेषण का उपयोग केवल उसी सीमा तक करें जिस सीमा तक वह उपादेय रहे। कलाकृति के निर्माण में जिस मन:प्रक्रिया का उपयोग हुआ है, उसे हम कृति के माध्यम से ही जान सकते हैं। अतः मन:विश्लेषण कृति के 'विगत' या 'अतीत' से ही सम्बन्धित हो सकता है। जहाँ प्राक्तन कला और साहित्य से मन:विश्लेषणीय स्थापनाओं के समर्थन की चेष्टा की गई हैं, वहाँ भी यह ऐतिहासिक दृष्टिकोण हमें दिखलाई देता है। स्वयं फ्राइड ने यह लांछा दूर करने के लिए कि उनकी स्थापनाएँ रुग्ण मानस तक सीमित हैं, सांस्कृतिक प्रमाणों की खोज की और उनसे समर्थन प्राप्त किया। इस प्रकार मन:विश्लेषण को एक नया क्षेत्र साहित्य और कला की पूर्वतन उपलब्धियों के रूप में प्राप्त हुआ। तीन विभिन्न दिशाओं में खोजें शुरू हुईं : (१) देवगाथाओं और साहित्य के परम्परा में व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्वों की प्रतिच्छाया किस मात्रा में प्राप्त की जा सकती है। (२) कलाकार के मानसिक जीवन का उसकी कृति से क्या सम्बन्ध है। (३) कलाकार की कल्पना और सर्जनात्मक प्रतिभा तथा रुग्ण मानस में क्या समानताएँ हैं। इन तीनों प्रश्नों के कुछ उत्तर मनोशास्त्रियों को प्राप्त हुए हैं, परन्तु नई सामग्री के उपलब्ध होने पर ये समाधान क्या अन्तिम कहे जा सकेंगे, यह चिन्त्य विषय है।

चौथी कठिनाई यह है कि मनोवैज्ञानिक समाधान कला और साहित्य के सारे पक्षों को नहीं छूते और बहुत कुछ अव्याख्यायित ही रह जाते हैं। फ्राइड ने अवचेतन पर विशेष बल दिया था। अतः आरम्भ में अवचेतनीय अथवा कामवर्जनामूलक समाधान लागू किये गये। उदाहरण के लिये, हम फ्राइड के 'ऑडीपस काम्प्लेक्स' सिद्धान्त को लेते हैं जिससे ऑडीपस और हैमलेट जैसे पात्रों की द्विधा का समाधान किया गया है। परन्तु पिछले कुछ दिनों में अवचेतनीय मन:विश्लेषण का स्थान चेतनीय मन:-विश्लेषण ने ले लिया है और कलाकार के आंतरिक जीवन तथा सामाजिक जीवन-मूल्यों के अंतर्द्वन्द्वों के आधार पर इन द्विधाओं की व्याख्या हुई है। इस एक उदाहरण से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे बौद्धिक समाधानों की भी एक निश्चित सीमा है। आंतर और बाह्य संवेदनाओं को एक सूत्र में ग्रथित करना कठिन है और इन दोनों की

अपनी निजी सीमाएं भी हैं। कलाकार के अंतर्जगत को हम उधेड़ बुन सकते हैं परन्तु वर्जनाओं और कुंठाओं से यह सिद्ध नही हो सकता कि वह श्रेष्ठ कलाकार कैसे बन गया, अथवा उसकी कलाकृति मे उन वर्जनाओं-कुंठाओं का ऐसा उदात्तीकरण कैसे और क्यो सम्भव हुआ। सम्भव भी हुआ तो उसमें यह 'श्रेष्ठत्व' कहा से आया। इसी प्रकार कलाकार का उसके अभिव्यंजना व माध्यम से सम्बन्ध और विशिष्ट ऐतिहासिक स्थितियों मे इस माध्यम की सम्भावनाएं अभी अस्पष्ट ही हैं। वास्तव मे मन विश्लेषण अभी हमे ऐसे अस्त्र नही दे सका है जिनके द्वारा हम प्रतिभा के मूल स्रोतों तक पहुँच सकें। फ्राइड का शैशवीय वर्जनाओ पर आधृत काम-विज्ञान कलाकार तथा कलाकृति के अन्तर्द्वन्द्वों को प्रकाश मे अवश्य लाया, परन्तु यह ज्ञान अतिवादी और अधूरा रह गया। चेतनमूलक नई मनोदृष्टियों ने इस एकांगिता और अतिवादिता को एक अंश मे दूर किया है। आज हम यह नही मानते कि व्यक्तित्व-विकास के लिए अन्तर्द्वन्द्व अनिवार्य और प्रेरक तत्त्व हैं। इन द्वन्द्वो के समाधान में चेतन का योगदान भी आज महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है क्योंकि चेतन के द्वारा ही अन्तर्द्वन्द्वों का समाधान होता है। कलाकार के व्यक्तिगत उपकरण उसकी 'कृति' के निर्माण मे उपयोगी सिद्ध हुये हैं। यह व्यक्तित्वगत उपकरण अनुभवों से ही पुष्ट अथवा दमित नहीं होते, वे जीवनगत अनुभवों को प्रभावित भी करते हैं और चेतन को द्वन्द्वों से मुक्त कर किसी निश्चित और स्वतंत्र कार्य क्षेत्र मे उसे लगाते हैं। इन नई खोजो से कलाकार के मनोविज्ञान को नये अन्तर्योजन का स्वस्थ आधार मिला है।

कलाकार और उसकी कृति का मन विश्लेषणात्मक अध्ययन करते समय यह भी आवश्यक है कि हम उसके ऐतिहासिक परिवेश से परिचित हों और कृति को परम्परा के बीच स्थापित कर सकें क्योंकि कृति का निर्माण किसी संदर्भ के बिना असम्भव है और ये संदर्भ पूर्वतन कृतियाँ और कलाकार हैं। कलाकृति का जन्म शून्य मे नहीं होता। कोई भी कलाकार पूर्वजो और क्लासिकल कलाकृतियो के बंधनो से मुक्त नहीं हो सकता और स्वयं उसे किसी न किसी परम्परा की शृंखला बन जाना होता है। उसकी समस्या और अभिव्यंजना का क्षेत्र निश्चित रहता है और इस क्षेत्र के भीतर महार्घता प्राप्त करने पर ही उसे श्रेष्ठत्व मिलता है। परन्तु मन विश्लेषण या मनोविज्ञान के लिए इस क्षेत्र मे पदार्पण करना भी कठिन है क्योंकि अभिव्यंजना के तत्वों एवं शैलियों का मनोवैज्ञानिक आधार अभी सुस्पष्ट नहीं है। इस क्षेत्र में कोई भी स्थापना अत्यन्त संश्लिष्ट रहेगी क्योंकि उसमें समाज और रसिक समाज के पारस्परिक सम्बन्धो की अनेक अन्तप्रक्रियाएँ संयोजित रहेंगी।

कला के क्षेत्र मे मन विश्लेषण सिद्धान्तो की इन कठिनाइयों के साथ कुछ सीमाओ पर भी विचार कर लेना होगा। पहली बात तो यह है कि कला क्षेत्र मे अनुसंधानात्मक प्रक्रिया को कलाकोटि या साहित्य विधा के अनुरूप बदल कर चलना होगा। कलामीमांसा के क्षेत्रो मे 'वस्तु' और 'शिल्प' (अभिव्यंजना) को अलग-अलग और स्वतंत्र मान कर चलने की चाल है, परन्तु मन विश्लेषण से पता लगता है कि इन दोनों के अन्तरावलम्बन का कहीं अधिक महत्त्व है। केवल 'वस्तु' ही नहीं 'शिल्प' के मूल स्रोतों के लिये भी हमे कलाकार के मन के कोनों की खोज करनी होगी।

इस क्षेत्र में परम्परा और प्रयोग का सम्बन्ध स्थापित करने के बाद ही हम निश्चित रूप से कुछ कह सकेंगे। दूसरी बात कलाकार की कल्पना के अध्ययन से सम्बन्धित है। कलाकार की कल्पना का अध्ययन केवल प्रतीकों, प्रतिमानों और उपमानों के माध्यम से ही नहीं होगा, घटनाओं के चुनाव और पात्रों की मनःस्थिति में भी उसका प्रसार है। फ्राइड ने कलाकारों और साहित्यकारों की अन्तर्दृष्टि से अपने मतवाद के समर्थन में काफी सहारा लिया है परन्तु अभी स्वतंत्र रूप से उसका अध्ययन नहीं हो सका है। पिछले कुछ वर्षों में मनःविश्लेषण-प्रधान अन्तर्दृष्टि को प्रत्यक्ष रूप से साहित्य और कला के क्षेत्रों में उपयोग होने लगा है और सृजन-क्षणों के पुनर्निर्माण की चेष्टा की गई है। सुररियलिस्ट कला और साहित्य में अन्तर्मन के चेतनाप्रवाह-मूलक आलेखन का आग्रह स्पष्ट है। इस प्रकार कला-सृजन सीधे मनःविश्लेषण-शास्त्र से प्रभावित हो जाता है और कलाकार कीअन्तर्दृष्टि स्वतंत्र इकाई न रह कर अवचेतन सम्बन्धी स्थापनाओं से प्रभावित होने लगती है। साहित्य और जीवन के अवचेतनीय तत्त्वों में बहुत दूर तक साम्य है, परन्तु दोनों का एक मानना भ्रामक होगा। साहित्य और कला के अध्ययन में मनःविश्लेषण का योगदान जीवन के अन्य क्षेत्रों में उसके योगदान से कहाँ और कितना भिन्न है और उससे साहित्य-सृजन तथा मूल्यांकन में किस प्रकार सहायता मिल सकती है, यह जान कर ही हम रसानुभूसत के स्रोतों और उपकरणों पर सम्यक् रूप से विचार कर सकेंगे।

(२)

काव्य और कला का उद्गम क्या है? इस प्रश्न का सम्बन्ध कवि की प्रेरणा से है। साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में प्रेरणा की प्रकृति और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में निरन्तर विवेचना होती रही है। परन्तु मनःविश्लेषण ने इस विषय पर नये ढंग से विचार किया है। मनःविश्लेषण कवि अथवा कलाकार की प्रेरणा को प्रकृत्यः ऋषि, मंत्रवेत्ता (तांत्रिक) अथवा पैगम्बर की प्रेरणा से भिन्न नहीं मानते। प्रेरणा के क्षणों में वाग्प्रवाह अप्रतिहत रहता है और ऋषि, पैग़म्बर या कलाकार जिस आवाज़ से बोलता है, वह हमारी पहचानी हुई आवाज नहीं होती। यह आवाज अवचेतन की आवाज़ है जिसे कलाकार या पैगम्बर श्रोता तक पहुँचाता है और वह स्वयं श्रोता-वर्ग में जा बैठता है। सृजन के क्षणों में अवचेतन सर्वोपरि रहता है। अवचेतन के प्रमुख उपकरण संकल्प (विम) और विकल्प (फैन्टेसी) हैं। पैगम्बर और कवि अवचेतन के द्वारा समाज की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को समझ लेते हैं और संकल्प-विकल्प में गूँथ कर उन्हें भविष्यत् स्वप्न के रूप में श्रोता के सामने उपस्थित करते हैं। प्रत्येक भविष्य-वाणी के पीछे पिछली अनुभूति रहती है, वह भले ही व्यक्तिगत न होकर जातिगत हो। प्राक्तन युगों में कवि और ऋषि समानधर्मा थे। देव-गाथा उनका अपना क्षेत्र था जिसमें जाति के अतीत के आधार पर अवैध सम्बन्ध, हत्याओं और दुस्साहसों की चर्चा रहती। शैशव के प्रारम्भिक वर्षों में दिवास्वप्नों की यही विभीषिका चलती रहती है। यह अतीत-गाथा चेतन मन में सुरक्षित रहती है। प्लेटो ने प्रेरणा की परिभाषा देते हुए ठीक कहा है कि कवि प्रेरणा-क्षणों में

सामान्य जीवन के भावकोशों से ऊपर उठ जाता है। उसकी मन दशा मदपी जैसी हो जाती है। कोई जैसे उस पर जादू कर गया हो। वह गा उठता है। अपनी वाणी को वह ईश्वर की वाणी समझता है। वह किसी की वशी बन जाता है। विरोधी भावनाओं और कल्पनाओं को कलाकृति में वाणी मिलती है। जिस प्रक्रिया से कवि का अधिमानस सक्रिय होता है वह बहिर्प्रसारण (प्रोजेक्शन) और अन्तरा क्षपण (इण्ट्रोजेक्शन) के रूप में है। फलत जो अन्दर से आता है, वह बाहर से आता मान लिया जाता है। इस प्रकार अवचेतन की वाणी ईश्वर की वाणी बन जाती है। दोनों प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं। कवि-वाणी की दैवीयता उसे महाधना प्रदान करती है और एक नई स्फूर्ति का कवि के मन में सृजन होता है जिसमें अवचेतन चेतन की ओर सक्रमित हो जाता है और अन्त में चेतन का अंग बन जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि किसी बहिर्शक्ति ने चेतन अवचेतन की सीमा-रेखाएँ तोड़ दी हैं। अत हम कह सकते हैं कि प्रेरणा-सम्बन्धी धारणा में दो भाव-बोध समाहित हैं। ये दोनों इतने ग्रथित हैं कि उन्हें अलग-अलग करके देखना असभव बात है। इस प्रक्रिया में कवि या कलाकार के मन की अवचेतनप्रसूत सवेदनाएँ, आकाक्षाएँ और विकल्पनाएँ किसी अधिदैविक शक्ति का प्रसाद बन जाती हैं और उनके चेतनीय बनने की प्रक्रिया में उस शक्ति का प्रभाव और दबाव भी परिलक्षित रहता है। इसीलिए कवि और कलाकार प्रेरणा-क्षणों में निष्क्रिय बन जाते हैं। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि यह निष्क्रियता सृजन को दैवी अथवा ईश्वरीय वस्तु बना देती है जिससे लेखक को अहतृप्ति का आनन्द प्राप्त होता है और वह सामाजिक उत्तरदायित्व से छुटकारा पा जाता है। सरस्वती (ग्रीक म्यूज़) की कल्पना को मनोवैज्ञानिकों ने आदर्शीकृत माता की अधिदैवत कल्पना माना है, कवि या कलाकार अपने सृजन क्षण को अलौकिक और आध्यात्मिक मानता है क्योंकि सृजन के द्वारा उसका अवचेतन चेतन से समझौता करता है और कवि का सर्जनशील अह अपनी कृति को अपने बाहर के किसी स्रोत का अप्रतिहत प्रकाशन समझता है। इस समझने में ही उसके भीतर के द्वन्द्वों और अन्तर्विरोधों से उसकी सुरक्षा है। मर्मियों के साक्षात्कार और कलाकारों की सर्जनात्मक अनुभूति में अन्तर केवल इतना है कि मर्मी के साक्षात्कार की परिणति अप्रतिहत आनन्द मात्र में होती है और कवि-कलाकार की प्रेरणामयी अनुभूति सर्जन में प्रगट होती है। यहाँ भावानुभूति चेतन मन से शासित होकर क्रियाशील बन जाती है, अर्थात् सर्जनात्मक क्रियाशीलता में उसका उदात्तीकरण हो जाता है। प्रेरणामय सर्जन कवि अथवा कलाकार के किसी अन्तर्संघर्ष का हल होता है अथवा उसके द्वारा विभिन्न विरोधी तत्त्वों में समझौता सभव होता है अथवा किसी भयकर प्रवृत्ति के प्रति रक्षा तन्त्र का कार्य करता है। सर्जनात्मक प्रतिभा के कैलाश शिखर पर पहुँच कर भी लेखक का मन अपने असहाय बचपन के क्षणों से शृंखलित रहता है, ऐसी मन विश्लेषकों की मान्यता है।

फ्रायड ने देवकथा (मिथ), स्वप्न और काव्य को मूलरूप में एक ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ माना है क्योंकि तीनों के स्रोत और लक्ष्य एक ही हैं। देवकथाओं में मनुष्य के अन्तर्बोधों का मधु सकलित है जो आज भी शुष्क नहीं हुआ है। आज के

इस वैज्ञानिक युग में भी हम हेमलेट और फास्ट जैसे प्रतीक खड़े कर सके हैं। इससे यह स्पष्ट है कि व्यक्तिनिष्ठ मनोविज्ञान की नवीनतम उपलब्धियाँ भी प्रतीकीकरण चाहती है। क्राइस्ट, ओडीपस, इलेक्ट्रा, इरास जैसी प्राचीन देवकथाओं को मनोवैज्ञानिकों ने पुनर्जीवित किया है और उनके द्वारा मानस-जगत की अनेक हलचलों को मूर्तिमान करने की चेष्टा की है। नई उपलब्धियों के लिए नए शब्द उतने सप्राण नहीं बन सके, फलतः संदर्भगर्भित प्राचीन शब्दों और प्रतीकों का प्रयोग ही अधिक वांछनीय हुआ। देवकथाओं में जातीय अवचेतनीय तत्त्वों की प्रच्छन्न एवं प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। युंग का कहना है कि प्रत्येक जाति का विशिष्ट मन होता है जिसमें समूहगत स्वप्नों की अभिव्यक्ति देवकथाओं के रूप में होती है और यही समष्टिगत स्वप्न व्यष्टिनिष्ठ बनकर कवियों की प्रतीकात्मक चेतना बनते हैं। फ्राइड ने स्वप्न का विश्लेषण कर उसके विभिन्न स्तरों को परिकल्पित किया है। इनमें से सबसे ऊपरी स्तर दिवास्वप्नों का है जिसे उसने कविता का पर्याय माना है और सब से निचला स्तर देवकथाओं का है जहाँ जाति की समष्टिगत आकांक्षा अवचेतना के स्तर पर प्रस्तुत रहती है। इस प्रकार काव्य दिवास्वप्न मात्र बन जाता है। देवकथाओं के आधार हैं प्रतिमान (इमेजरी) और ये प्रतिमान भाषा की सहायता के बिना भी संवेदनीय एवं प्रेक्षणीय हैं। परन्तु कविता का मूल है भाषा और भाषा की संवेदनशीलता अथवा प्रेक्षणीयता की सीमाएँ हैं। फलतः श्रेष्ठ काव्य का अनुवाद असम्भव है। काव्य में भी प्रतिमानों का महत्त्व केन्द्रवर्ती है और एक भाषा जहाँ दूसरी भाषा के कवि को प्रेरित करती है तो प्रतिमानों के माध्यम से ही। परन्तु प्रतिमानों के इस महत्त्व से भाषा का महत्त्व कम नहीं होता। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि चाक्षुष हो या श्रौतीय, कला प्रमुखतः रूपात्मक है और उसमें स्थूल एवं भावोद्रेकी प्रतिमानों का उपयोग अनिवार्य रूप से होता है।

कला और स्वप्न में एक बड़ी समानता यह है कि दोनों में हमारी चेतना स्पष्ट और उद्भासित रहती है। स्वप्नद्रष्टा और कवि दोनों को सारा 'दृश्य-जगत' हस्तामलकवत् दिखाई पड़ता है, जैसे चेतना उसके सभी परिपार्श्वों और अन्तर्विरोधों में ओतप्रोत हो गई हो। उपनिषद् ने ठीक ही कवि को 'परिभूः' कहा है। परन्तु अन्तर यह है कि जहाँ स्वप्न में सब कुछ अतर्कित, अस्वाभाविक, आकांक्षित और असम्भावित रहता है, वहाँ कवि-कलाकार की कल्पना में चयनशीलता रहती है और संतुलन, संघात, सादृश्य एवं संरचना के आधार पर सहजज्ञान अथवा बौद्धिक प्रक्रिया के द्वारा कलाकृति किसी नये स्वरूप में प्रतीकबद्ध हो जाती है। जिस तरह स्वप्नद्रष्टा को मनःविश्लेषित किये बिना स्वप्न व्याख्यापित नहीं हो सकता, उसी तरह कलाकृति के प्रतीकार्थों तथा मूल्यों को उस समय तक उद्घटित नहीं किया जा सकता जब तक उनका सम्पूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत न हो जाये।

फिर भी फ्राइडवादी स्वप्न और कलाकृति को बहुत कुछ अभिन्न मानते हैं क्योंकि श्रेष्ठ कलाकृतियाँ स्वप्नों की भाँति ही अतर्कित, अवचेतनीय और अबौद्धिक रहती हैं। देवकथाओं, लोकगीतों और 'कुबलाखाँ' जैसी रोमांटिक कविताओं में ऐसा कुछ अवश्य रहता है जो भाषा, तथा आर्थिक-सांस्कृतिक मूल्यों के परिवर्तन के बाद

भी शेष रहता है। वास्तव मे कविता के मूल मे भी देवकथाओ, प्रतिमानो और प्रतीकों का अस्तित्व रहता है। काव्यस्फूर्ति मे छनकर ये तत्त्व भाषा की प्रतीयमान शक्ति के सहारे वह विचक्षण शरीर प्राप्त करते हैं जिसे 'काव्य' कहा जाता है। मन विश्लेपण-शास्त्र की कविता-सम्बन्धी इन मान्यताओ ने स्वप्न-काव्य अथवा अवचेतनीय काव्य को जन्म दिया है जो अतियथार्थवाद (सुपररियलिज्म) के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। परन्तु अवचेतन अथवा स्वप्न का अबाध उपयोग श्रेष्ठ काव्य की उपलब्धि मे असफल रहा। क्योकि स्वप्न विस्मरण हो जाते हैं अथवा उनमे विरोधी एव निरर्थक तत्त्वो का प्रवेश हो जाता है और अन्तश्चेतनाप्रवाह सरचना एव बोधगम्यता के श्रेष्ठ काव्यगुणो से रिक्त रहता है।

सच तो यह है कि भाषा अथवा अभिव्यजना का तत्त्व स्वप्न को काव्य से अलग करता है। अनुभूति और अभिव्यजना मे बडा अन्तर रहता है। स्वप्न की अखण्ड अनुभूति जागरण मे खण्ड-खण्ड हो जाती और जो शेष है उसे भी एकदम शाब्दिक बिंबो मे बाँधना असम्भव हो जाता है। अनुभूति ही अभिव्यजना बन जाय इसके लिये ऐसी मन स्थिति वाछनीय है जिसमे अभिव्यक्ति तात्कालिक और प्रातिभ हो। अनुभूति और अभिव्यजना के बीच मे जितना अन्तर रहेगा, काव्य भी उतना ही अपूर्ण और बौद्धिक होगा। मानसिक चित्र शाब्दिक प्रतिमूर्तियों मे निर्विरोध और तत्काल बनते रहें तो स्वप्न ही काव्य बन जाय, परन्तु मनुष्य के मन तथा भाषा की सीमाएँ इस प्रक्रिया मे बाधक हैं। अत काव्य स्वप्नमूलक होकर भी स्वप्न से भिन्न वस्तु रहेगा।

(३)

यह स्पष्ट है कि मन विश्लेषण ने हमारे काव्यचिन्तन को बहुत दूर तक प्रभावित किया है और आज हम काव्य की प्रेरणा, उसके स्वरूप, उसकी अभिव्यक्ति तथा अभिव्यजना शैली से अधिक विस्तीर्ण रूप से परिचित हैं। वास्तव मे कॉलिरिज की साहित्य-सम्बन्धी दार्शनिक प्रतीतियो के बाद फ्राइड के द्वारा ही हमे काव्यालोचन का गम्भीर, विस्तृत और सुदृढ आधार प्राप्त हुआ है। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण मूलत विज्ञान हैं और उनकी प्रक्रियाएँ कला और साहित्य की प्रक्रियाओ से भिन्न हैं। यह इनकी सीमा है। इस सीमा के भीतर ही हम काव्य चिन्तन के क्षेत्र मे मन विश्लेपण की उपयोगिता स्थापित कर सकेंगे।

मनोविज्ञान और मनोविश्लेपण साहित्य-समीक्षा का स्थान नही ले सकते क्योकि वे कलाकार की निर्माणोन्मुखी मन स्थिति तक सीमित रह जाते हैं जबकि साहित्य समीक्षा कलाकृति का अन्वेषण करती है। मनोविश्लेपक कलाकृति के विश्लेषण के द्वारा सर्जन-प्रक्रिया तक पहुँचना चाहता है, साहित्यिक मूल्यों मे उसे कोई दिलचस्पी नहीं होती। हो सकता है कि कोई काव्य मन विश्लेषणीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो परन्तु उसमे उत्कृष्ट एव स्थायी काव्यगुणों का अभाव हो। इसके विपरीत भी सभव है। एक दूसरी कठिनाई यह है कि कलाकृति सश्लेषात्मक होती है और वैज्ञानिक विश्लेषण उसके इस वैशिष्ट्य को समाप्त कर देता है। प्रतीकों के मूल स्रोत में जाने

पर उनका सौन्दर्यबोधी (कलात्मक) महत्त्व ही समाप्त हो जाता है। यह भी संभव है कि हम वैज्ञानिकता के आग्रह में वृत्ति के समग्र, स्वस्थ और सरल रूप को व्यर्थ ही रहस्यमण्डित कर दें और विशुद्ध कला-रस में यौन-चेतना ही देख पायें। कला को विज्ञान की अभिव्यक्ति मात्र मानना हास्यास्पद होगा। जीवन की तरह कला पर भी सिद्धान्तों का आरोपण अक्षम रहेगा। फिर काव्य और कला की संरचना के अपने नियम हैं। जीवन की अस्त-व्यस्तता काव्य और कला में सौष्ठव प्राप्त कर लेती है।

इन सीमाओं के भीतर मनःविश्लेषण काव्यचिन्तन का महत्त्वपूर्ण अंग बन सकता है क्योंकि उससे काव्य की प्रेरणा, काव्य प्रक्रिया अथवा काव्योपयोगी प्रतीकों एवं प्रतिमानों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। परन्तु प्रारम्भ में यह जान लेना आवश्यक है कि मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित होने पर भी फ्राइड, एडलर और युंग की मान्यताएँ भिन्न-भिन्न हैं। फ्राइड यौन-चेतना, मनः-रुग्णता और स्वप्न को कला-चेतना के मूल स्रोत मानते हैं। एडलर महत्त्वाकांक्षा एवं तज्जन्य कुण्ठाओं-वर्जनाओं तथा हीन-भावना से कला-चेतना का नाता जोड़ते हैं। जहाँ फ्राइड के मत में कला उदात्तीकरण है, वहाँ एडलर के मत में वह क्षतिपूर्तिमात्र है। युंग मानव-मन को अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी चेतनाओं की संहृति मानते हैं और उनके योगायोग को कला का वैशिष्ट्य स्थापित करते हैं। उन्होंने जातीय मन तथा मनोवैज्ञानिक मनःबंधों (आर्कीटाइपल पैट्र्नस) की भी कल्पना की है और इस प्रकार व्यक्तिगत कला-चेतना के स्रोत के रूप में जातीय अवचेतन एवं समष्टिगत प्रतीकों का भी महत्त्व माना है। ये मत कहाँ तक परस्पर पूरक हैं, कहाँ पर विरोधी एवं स्वतन्त्र, यह निश्चय करना कठिन है। परन्तु इन मनोवैज्ञानिक प्रपत्तियों से कलाकृति के स्वरूप का उद्घाटन करने में हमें अंशतः सहायता अवश्य मिलती है। कदाचित् कला का सत्य इन प्रपत्तियों के योगायोग से भी बड़ा और स्वतन्त्र है। फ्राइड और एडलर की कला-सम्बन्धी मान्यताओं से कला के व्यक्तिगत पक्ष की ही व्याख्या संभव है, परन्तु युंग की प्रपत्तियाँ कला को व्यापक संदर्भ देने में समर्थ हैं और उसके समष्टिगत अथवा सामाजिक पहलुओं पर भी प्रकाश डालती हैं। युंग का कला-दर्शन व्यक्ति के अन्तर्विरोधों पर आश्रित है। काव्य और कला की विरोधी-धर्माश्रयता ही उनके वैशिष्ट्य का कारण है। इस विरोधी धर्माश्रयता के मूल में व्यक्ति के दृष्टिकोणों का अन्तर्विरोध है जो अन्तर्बहिर, आत्म-पर, हृदय-बुद्धि तथा भाव-रूप के द्वन्द्वों में प्रगट होता है। कला में ही इन द्वन्द्वों को समाधान की प्राप्ति होती है। अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी चेतनाओं के इस द्वन्द्व का समाधान जिस वस्तु के द्वारा होता है उसे युंग ने मनःकल्प (फेण्टेसी) कहा है जो कलाजीवी मन की निरन्तर सर्जनात्मक प्रक्रिया है। परन्तु युंग द्वन्द्वात्मकता के व्यक्तिगत समाधान तक ही कला-प्रेरणा को सीमित नहीं रखते। उनकी मान्यता है कि कवि का समाधान व्यक्तिगत सीमाओं के बाहर चला जाता है और उसमें पर्याप्त सार्वभौमिकता रहती है। कवि जिन प्रतीकों, प्रतिमानों और संदर्भों का उपयोग करता है वे केवल उसके समाधान को ही प्रगट नहीं करते, इन प्रतीकों और संकेतों के माध्यम से अन्य जन भी अपने द्वन्द्वों को समाधृत कर सकते हैं। इस प्रकार कवि के अन्तर्जीवन से उद्भूत आदिम प्रतिमान और प्रातिभ संवेदन वस्तुमुखी बहिर्जीवन

की व्यवस्थाओं से समीकृत होकर जीवन के एक अविच्छिन्न, अखण्ड प्रवाह का निर्माण करते हैं। श्रेष्ठ कलाकृति में यही अविच्छिन्न और अखण्ड जीवन-प्रवाह सुरक्षित रहता है। अतः यह आवश्यक है कि कवि-कलाकार जिन प्रतीकों का उपयोग करे, उन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त हो या वे सामाजिक (सामष्टिक) मन को छू सकें। यह कलाकार की सर्जनशील प्रतिभा पर अवलम्बित है कि वह कितनी दूर तक अपने व्यक्तिगत प्रतीकों को सामाजिक या समष्टिगत मूल्य दे सकेगा। यहीं पर उसकी जीवन चेतना के विस्तार का प्रश्न आता है। कलाकार यदि असामान्य विकृत अथवा विशिष्ट हुआ तो उसका जीवन-बोध उतना ही संकीर्ण, विच्छिन्न और असामाजिक होगा। इस प्रकार की युंग कलामान्यता असामान्य पर बल न देकर सामान्य एवं सामाजिक को अधिक महत्त्व देती है। उसके द्वारा व्यष्टिमुखी और समष्टिमुखी कला अथवा परम्परावाद स्वच्छन्दतावाद के द्वन्द्व का समाधान हो जाता है। समीक्षक का कर्त्तव्य है कि वह व्यक्तिगत प्रतीकों की सामाजिक भूमिका को भी उद्घाटित करे और इस प्रकार कलाकार की सामर्थ्य तथा युग धर्म के प्रति उसकी जागरूकता का मूल्यांकन करे।

(४)

परन्तु व्यक्तिनिष्ठ मनोविज्ञान के आधार पर हम काव्य के स्वरूप की स्थापना किस प्रकार करेंगे? हम पहले बता चुके हैं कि फ्राइड और एडलर दोनों के समाधान वैयक्तिक हैं। उन्होंने व्यक्तिगत द्वन्द्वों में ही कला का समाधान खोजा है। दोनों कलाजन्य आनन्द को द्वन्द्व-मुक्ति का आनन्द मानते हैं। भीतर के तनाव से छुटकारा पाकर कलाकार और सामाजिक का मन एक अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति करता है जिसे 'कला का आनन्द' कहा जाता है। फ्राइड ने मन विकारों की भूमि पर से अपना अध्ययन आरम्भ किया और उसे कलाकृतियों में ऐसे काल्पनिक उपकरण मिले जो रुग्ण मानस के मन कल्पों से अभिन्न थे। अन्तर यह था कि मन-विकारी व्यक्ति विशृंखल होकर टूट जाता था और कवि-कलाकार आत्माभिव्यक्ति द्वारा उन मन विकारों से मुक्ति पाकर मानसिक स्वास्थ्य का लाभ करने में समर्थ था। केवल उदात्तीकरण ही कलाकृति नहीं है, ऐसी फ्राइड की मान्यता है, वरन् इस उदात्तीकरण की अभिव्यंजना में जिस सौष्ठव, सतुलन, ताने-बाने अथवा लबो-लहजे का उपयोग होता है अथवा जिन उपकरणों से कलाकृति की संरचना, विशिष्टता तथा बहिरंगी रूपरेखा तैयार होती है, इसे 'शिल्प' भी कह सकते हैं। शिल्प के द्वारा कलाकार व्यक्तिगत अहं की प्राचीर को भेदता है और अनेक व्यक्तित्वों को एक अमद में घेर कर समष्टिगत अहं का निर्माण करता है। इस अहं के विस्तार में ही कलाकृति का आनन्द सन्निहित है। फ्राइड का कहना है कि कलाकृति के बहिरंगी अथवा सौन्दर्यात्मक उपकरण इसलिए आनन्दप्रद होते हैं कि वे हमारी संवेदनाओं को सक्रिय बनाते हैं और व्यक्तित्व की अतुल गहराइयों से उच्चकोटि के आनन्दपूर्ण संवेगों को उन्मुक्त करते हैं। बाद में फ्राइड ने प्रतिचेतन, चेतन और उपचेतन के तीन स्तरों के आधार पर भी काव्यानन्द की व्याख्या की और काव्य को स्वप्न के

कर लेता है और पुन वस्तुस्थिति से अपना सम्बन्ध जोड लेता है। समीक्षक के लिये यह आवश्यक है कि वह वस्तुमुखी जीवन एव आकांक्षित जीवन के बीच की सूक्ष्म विभाजक-रेखाओं को जाने और प्रतीको की ईमानदारी, सहायता, व्यापकता और बहुगर्भिता के आधार पर कवि अथवा कलाकार के मन का विशेषत्व निर्धारित करे। इस कार्य मे मन विश्लेषण अधिक सहायक नहीं हो सकता परन्तु उसके द्वारा कलाकार के अन्तर्विरोधों को अवश्य उन्मुक्त किया जा सकता है। काव्यचिंतन के क्षेत्र मे मनोविज्ञान और मन विश्लेषण की देन निसंदेह क्रांतिकारी ही कही जा सकेगी, परन्तु उसकी सीमाओं को हमे निरन्तर ध्यान मे रखना होगा।

: ६ :

उपयोगितावाद : मानवतावादी और मनोवैज्ञानिक

(तालसताय और रिचर्ड्स)

(१)

तालसताय (१८२८-१९१०) के काव्य और कला सम्बन्धी सिद्धान्तों को हम स्थूल अर्थ में उपयोगितावाद की संज्ञा नहीं दे सकते। उन्हें हम उपयोगितावाद सौन्दर्यवाद या आनन्दवाद की अपेक्षा से ही कह सकते हैं क्योंकि तालसताय पश्चिमी कला-पारखियों और सौन्दर्य-शास्त्रियों की उन मान्यताओं के विरोधी हैं जो सौन्दर्य को सौन्दर्य के लिए या कला को कला के लिए आवश्यक मानते हैं। तालसताय के विचार में सुन्दर वह है जो हमें आनन्द प्रदान करता है और पश्चिम का सौन्दर्यवाद निम्न कोटि का आनन्दवाद बनकर रह गया है जिसकी भूमिका भौतिकवादी और इहलौकिक है। इसके विपरीत तालसताय धर्मचेतना के समर्थक हैं। इस धर्मचेतना को उन्होंने 'जीवन-बोध' की संज्ञा दी है जो एक अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व है और मनुष्य की आध्यात्मिक अन्तर्प्रक्रिया से सम्बन्धित है। इस धर्मचेतना अथवा जीवन-बोध को तालसताय कोई अपरिवर्त्तनीय, शाश्वत तत्त्व नहीं मानते। प्रत्येक युग के साथ इसमें नये मूल्य समन्वित हो जाते हैं और वह अन्ततः बदल भी सकता है, परन्तु उसमें उच्चतम युगनिष्ठा और नैतिक चेतना का आकलन रहता है। इस प्रकार काव्य और कला ज्ञात या अज्ञात रूप से मनुष्य के श्रेष्ठतम उपार्जन को आत्मसात करते हैं और उनकी उपयोगिता इसी में है कि उनके द्वारा मानव-जीवन का उन्नयन हो। यह उन्नयन भौतिक या मानसिक भूमि पर नहीं, नैतिक या आध्यात्मिक भूमि पर होगा, ऐसा तालसताय का विश्वास है और इसी से उन्होंने युगीन जीवन-बोध को 'धर्म' की संज्ञा दी है। इस प्रकार तालसताय का उपयोगितावाद नैतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों का संवर्द्धन करता है और मनुष्य में देवत्व की स्थापना करता है।

क्या तालसताय की कला-सम्बन्धी विचारधारा को 'मानवतावादी' कह सकते हैं? या, यदि वह मानवतावादी है, तो किस हद तक? इस सम्बन्ध में विचार करने से पहले हमें मानवतावाद शब्द को परिभाषित करना होगा। 'मानवतावाद' शब्द का प्रयोग किन पर्यायों में होता है और उनमें से कौन पर्याय तालसताय को मान्य है?

मानवतावादी विचारधारा के कई ऐतिहासिक रूप हमें प्राप्त होते हैं, जैसे रेनेसाँ का मानवतावाद, कैथोलिक या अंतर्योजित मानवतावाद, व्यक्तिपरक मानवतावाद अथवा प्रकृतवादी मानवतावाद। मानवतावाद का प्रथम स्फुरण रेनेसाँ-युग में मध्ययुगीन ईसाई

धर्म की परलोकवादिता के विरुद्ध हुआ। व्यष्टिगत अमरत्व के विपरीत इहलौकिकता को प्रश्रय मिला और तापस के आदर्श के स्थान पर जीवन रस से ओतप्रोत सदाशयी मानव का आदर्श सामने आया। ल्यूनारडो डा विंसी और माइकेल एंजेलो इस आदर्श के प्रतीक पुरुष थे। कैथोलिक चर्च की सत्ता और ईसाई धर्म के शासनवृत्त के विरोध में यह नया मानवतावादी आदर्श पर्याप्त रूप से विकसित हुआ। उसे पुरातन ग्रीक और लेटिन क्लासिक ग्रन्थों से प्रेरणा प्राप्त हुई और उसने बुद्धि को मापदण्ड माना। कैथोलिक मानवतावाद का समन्वयात्मक रूप टामस एक्विनास की विचारधारा में मिलता है जिसने नैतिक और सामाजिक लक्ष्यों को मान्यता दी। शिलर और विलियम जेम्स ने व्यक्तिपरक और अनुभूतिप्राण तत्त्वों को प्रधानता दी और पहली बार मानवतावाद को दर्शन का रूप देना चाहा। परन्तु मानवतावाद का सर्वमान्य रूप कदाचित् वह है जो मनुष्य को अपनी समस्त विचारधारा के केन्द्र में रखता है और जिसमें उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, धर्मदृष्टि-सपन्न महापुरुषों और अर्थ-विशारदों की मान्यताएँ समाहृत हैं। मानवतावाद के इस समाहृत रूप का विशद विवेचन कार्लिस लेमाट की पुस्तक 'ह्यूमिनिज्म एज ए फिलासफी' में हुआ है। यह लेखक मानवतावाद को सार्वभौमिक और सार्वदेशिक दर्शन मानता है और प्लेटो-बुद्ध महावीर-कन्फ्यूशस के समय से उसकी प्रगति की चर्चा करता है। वास्तव में मानवतावाद देवतावाद और परलोकवाद के विरुद्ध मनुष्य केन्द्रित बुद्धिवादी भौतिकवादी विज्ञानवादी जीवन-दर्शन है जो 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' का नारा बुलन्द करता है। टालस्टाय का मानवतावाद मानव कल्याण का समर्थक होते हुए भी अनीश्वरवादी और भौतिकवादी नहीं है क्योंकि टालस्टाय अन्ततः धार्मिक हैं। उन्हें देवत्व के प्रति आस्था है परन्तु वह इस देवत्व को मानव मात्र में स्थापित देखते हैं। अपने काव्य और कला सम्बन्धी चिन्तन में टालस्टाय ने इस सूक्ष्म आध्यात्मिक धार्मिक मानव दृष्टि को सामने रखा है। वह सत्य, ईश्वरेच्छा, धर्म-चेतना, जीवन-बोध, सम्भाव्य, शिव आदि ऐसे शब्दों का अपनी काव्य-व्याख्या में अनिवार्यतः उपयोग करते हैं जो आध्यात्मिक मूल्यों से सपन्न हैं। उनकी आध्यात्मिक विचारधारा में पाप-बोध और संयम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह पश्चिमी सौन्दर्यवादियों की तरह कला को ऐन्द्रिय आनन्द से सम्बन्धित नहीं कर सके हैं। फलतः उनका उपयोगितावाद आत्मिक और सूक्ष्म है और उनके मानवतावाद में मनुष्य के भौतिक सुख की अपेक्षा प्रेम, त्याग और तपस्या से प्राप्त आध्यात्मिक सुख का ही प्राधान्य है। टालस्टाय का कला-चिंतन समग्र और स्वस्थ जीवन-बोध को महत्त्व देता है और उसमें आत्मोन्नति के लिए उपयोगी मानवीय मूल्यों की संस्थापना करता है। उनके कला चिंतन को हमें इसी सूक्ष्म परिवेश में रख कर देखना होगा।

'कला में सत्य' शीर्षक अपने एक निबन्ध में टालस्टाय 'सत्य' की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार सत्य सामयिकता या 'वर्त्तमान' की सीमा में बँधा नहीं है। उसमें सम्भाव्य भी सम्मिलित है। वह कहते हैं "सत्य उसके द्वारा नहीं ज्ञातव्य है जो केवल उतना ही जानता है जो कि कुछ समय से है, इस समय है और वस्तुतः घटित होता है, बल्कि उसके द्वारा जो उसे स्वीकार करता है जो ईश्वरेच्छा के अनुसार

होना चाहिये।"[1] वस्तुवादियों का सत्य-सम्बन्धी सीमित दृष्टिकोण उन्हें मान्य नहीं है क्योंकि वस्तुवाद धरती से चिपटा रहता है और वह धूलि ही देखता है, ऊपर का प्रकाश उसे नहीं मिलता। ताल्सताय के शब्दों में : "जो व्यक्ति अपने पाँव की ओर देखता है उसे सत्य का ज्ञान न होगा, बल्कि उसे होगा जो सूर्य के प्रकाश द्वारा तै करता है कि किस मार्ग से जाना चाहिये।"[2] यथातथ्य-वर्णन के दोष ताल्सताय ने इस प्रकार स्पष्ट किये हैं : (१) "संसार का यदि यथातथ्य-वर्णन करना हो, तो हमें बुराइयों का अधिक वर्णन करना पड़ेगा और इस तरह सत्य दूर रह जाएगा।"[3] (२) "जो अस्तित्व में है उसका वर्णन लाभकर नहीं, अपितु ईश्वर के राज्य का जो हमारे समीप आ तो रहा है पर अभी तक आ नहीं सका है।"[4] (३) "उसमें मनुष्य अपने मनोरागों के लिए जीता है, अतः भले ही उसमें कुछ असम्भाव्य न हो, फिर भी वह असत्य और मिथ्या है।"[5]

अतः ताल्सताय यथार्थ के सत्य को महत्त्व नहीं देते। वह कल्पना, संभाव्य, ईश्वरीय न्याय और त्याग-तप के सत्य को ही सत्य मानते हैं। उनके मत में प्रामाणिकता तथ्य की नहीं, अन्तरंगी सत्य की है जो सूक्ष्म, प्रेममय और 'शिव' है। शिव के साथ ही सत्य ग्रहणीय है, स्वतन्त्र रूप से उसकी कोई भी महार्घता नहीं है, ऐसा उनका विश्वास है। इसी से ताल्सताय प्रकृतवाद, प्रकृतिवाद और वस्तुवाद को अस्वीकार कर देते हैं और उनका कला-सिद्धान्त आदर्शवादी और मानवतावादी बन जाता है।

यह स्पष्ट है कि ताल्सताय कला को 'मानवता' के लिए महत्त्वपूर्ण, आवश्यक और मूल्यवान वस्तु[6] मानते हैं। कला 'अपेक्षित, श्रेष्ठ, सम्मानार्ह' है।[7] "कला वही विशिष्ट क्रिया है जिसका लक्ष्य भौतिक उपादेयता नहीं, वरन् जनता को आनन्द देना है, वह आनन्द जो आत्मा का उत्थान और उन्नयन करे।[8] "कला का महत्त्व और गुण इसमें है कि वह मनुष्य की दृष्टि-परिधि को विस्तीर्ण करे, मानवता की आध्यात्मिक पूँजी में वृद्धि करे।"[9] इसके लिए ताल्सताय यह आवश्यक समझते हैं कि कला नव्य का उद्‌घाटन करे, 'जो कुछ पहले अदृष्ट, अननुभूत, अबोध्य' हो, वह भावना की सघनता द्वारा स्पष्टता की उस मात्रा तक ला दिया जाय कि वह सबके लिए स्वीकार्य हो जाय।[10] सघन भावना का परितोष कलाकार को आनन्द प्रदान करता है और सहृदय पाठक या श्रोता के पक्ष में भावना के इसी अनुरोध की अनुभूति और इसकी तुष्टि इस भावना पर समर्पण, इसका अनुकरण और प्रभाव, कुछ भी क्षणों में उसका अनुभव करना जिसे रचना निर्माण करते समय कलाकार ने अनुभव किया है, कलाकृति का रसास्वादन कहा जा सकता है।[11]

---

१. कला में सत्य, पृ० २१। २. वही, पृ० २२। ३. वही। ४. कला क्या है, पृ० २२ (कला में सत्य)। ५. वही (वही) पृ० २३। ६. कला, पृ० २६। ७. वही, पृ० २८ (फुटनोट)। ८. वही, पृ० २८ (फुटनोट)। ९. वही, पृ० ३१। १०. वही। ११. वही, पृ० ३१।

ऊपर के विवरण से कला-सम्बन्धी मान्यता का वह स्वरूप स्पष्ट हो जाता है जो तालसताय को मान्य था, कि

(१) कलाकृति मे नवीनता का समावेश हो।

(२) वह नवीन विचार, कला का वस्तुतत्त्व मानव जाति के लिए महत्त्वपूर्ण हो।

(३) वह वस्तुतत्त्व इतनी स्पष्टता से अभिव्यक्त हो कि लोग उसे समझ सकें।

(४) कलाकार निर्माण की ओर आन्तरिक अनुरोधवश प्रेरित हो, न कि बाह्य प्रलोभनो के कारण।[१२]

तालसताय कलाकृति के लिए तीन शर्तों का पालन अनिवार्य समझते हैं

(१) वस्तुतत्व। जो अब तक अज्ञात थी, परन्तु मनुष्य को जिसकी आवश्यकता है।

(२) रूप। सबके लिए सुबोध हो।

(३) निष्ठा। कलाकार की किसी आन्तरिक शंका के समाधान की आवश्यकता से उत्पन्न हो। इनमे से किसी एक के अभाव में भी कृति कलाकृति नहीं रहेगी, परन्तु कृति मे इनका योगायोग विभिन्न रह सकता है।[१३] वस्तु की नवीनता से तालसताय का तात्पर्य नवीन जीवन बोध से है और यह आवश्यक है कि यह जीवन-बोध महत्त्वपूर्ण, शिव और नैतिक हो। रूप अथवा अभिव्यक्ति की श्रेष्ठतम सीमा यह है कि वस्तु सदैव सभी के लिए बोधगम्य हो। वस्तुतत्व, सौन्दर्य (सुबोध अभिव्यञ्जना) और ईमानदारी कलाकृति के तीन अपरिहार्य अंग हैं। इन तीनों में भी तालसताय नवीन और श्रेष्ठ विषय की स्फुरणा को प्राथमिकता देते हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि कलाकार नवीनता और श्रेष्ठता को पहचाने कैसे। तालसताय का समाधान है कि "कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह देखे और विचार करे तथा अपने को उन तुच्छ बातों मे व्यस्त न रखे जो जीवन-रहस्य के चिन्तन और तत्सम्बन्धी उसकी भेदक दृष्टि में बाधक बनें। इसके लिए यह आवश्यक है कि कलाकार स्वयं नैतिक रूप से उन्नत हो।"[१४] नैतिक जीवन के प्रति कलाकार की यह साधना उसकी अन्तरात्मा के अनुरोध की तृप्ति के लिए होगी। इससे उसे नवीन जीवनदृष्टि प्राप्त होगी और वह युग-धर्म के सच्चे स्वरूप को पहचान कर नये जीवन बोध से साक्षात्कार प्राप्त कर सकेगा। तालसताय का आग्रह है कि "नवीन और श्रेष्ठ जीवन-बोध को प्राथमिकता ही नहीं प्राप्त है, अभिव्यक्ति और ईमानदारी के लिए कलाकार को कोई बड़ी साधना नहीं करनी पड़ती। यदि वह नवीन और श्रेष्ठ को खोजेगा तो उसे अभिव्यक्त करने के लिये वह अवश्यमेव एक रूप पा जाएगा और वह सत्यपरायणता भी उपस्थित रहेगी जो कलात्मक रचना का अनिवार्य अंग है।"[१५] इस प्रकार तालसताय की कला-परिभाषा नैतिक जीवन सम्पन्न अन्तर्दृष्टि मे सिमिट जाती है और कलाकार की अन्तरंगी जीवन साधना या

---

१२ वही, पृ० ३२। १३ वही, पृ० ३६। १४ वही, पृ० ३७। १५ वही।

'शिव'-साधना बन जाती है। स्वयं तालसताय के शब्दों में : "सच्ची कलाकृति कलाकार की आत्मा में उठने वाले, जीवन के एक नव्य रूप का उद्‌घाटन है जो अभिव्यक्त होने पर उस मार्ग को प्रकाशित कर देता है जिस पर चलकर मानवता प्रगति करती है।"[१६]

तालसताय के विचार में कला स्वयं लक्ष्य या प्रयोजन नहीं है, न कला का लक्ष्य और प्रयोजन उससे मिलने वाले आनन्द में है। कला मानव-जीवन की एक शर्त है। वह मनुष्य-मनुष्य के बीच सम्पर्क का एक साधन है क्योंकि उसके द्वारा अतीत, वर्त्तमान और अनागत पीढ़ियाँ ग्रहीता के रूप में कलास्रष्टा से अपना अनुभूति का सम्बन्ध जोड़ती हैं। मानवों में ऐक्य स्थापना के अपने लक्ष्य को कला भावना द्वारा सम्पन्न करती है। मानवी सम्बन्ध-संचार का मूल इस तथ्य पर आवृत है कि मनुष्य अपने नेत्रों या कानों के द्वारा कलाकार की भावाभिव्यक्ति को ग्रहण कर सकने में समर्थ है और मूल मानवीय मनोभाव समान और संवेदनीय हैं। अन्य की भावाभिव्यक्ति को ग्रहण करने और उन भावों को स्वयं भी अनुभव करने की मनुष्य की इस क्षमता पर ही कला की क्रिया आधृत है। इस प्रकार कला मानवी व्यापार बन जाती है और उसमें रहस्य कुछ भी नहीं रह जाता। तालसताय ईश्वर या सौंदर्य की किन्हीं भूल-भुलैयों में उलझना नहीं चाहते। इसी से वह सौन्दर्य-शास्त्रियों की परिभाषाओं और शब्दावलियों को भ्रामक मानते हैं। वह कला के मूल में मानवीय व्यापार देखते हैं और मानव का नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नयन ही उनके अनुसार कला का लक्ष्य है। अधिक-से अधिक मानव-हृदयों तक पहुँच कर ही कलाकृति सार्थक है। इस प्रकार कला का समस्त समारम्भ मानव के लिए है और यह मानव भी सम्राट्, सामन्त, पूँजीपति आदि न होकर सामान्य श्रमी मनुष्य है। कला के द्वारा हम अन्यों को अपनी भावना से संक्रमित कर सकते हैं और इस भूमिका पर वह प्रचार का साधन बन सकती है, परन्तु तालसताय कदाचित् कलाजन्य संक्रामिकता को प्रचारवाद कहने के लिए तैयार नहीं होंगे।

कला-चिंतन के क्षेत्र में तालसताय की विशिष्टता कला-द्वारा आनन्द-बोध के विरोध और नैतिकवाद की स्थापना में है। उनके शब्द हैं: "कला का मूल्यांकन मनुष्य के जीवनाभिप्राय-बोध पर निर्भर है, इस पर निर्भर है कि वे जीवन में किसे अच्छा, किसे बुरा समझते हैं। और क्या भला है, क्या बुरा है, यह बताने वाले धर्म हैं।"[१७] इस धर्म-तत्त्व की उन्होंने विशद व्याख्या की है। उन्होंने धर्म (या जीवन-बोध) को एक सूक्ष्म तत्त्व माना है जो मानवता को उच्चतर, समग्र, सर्वसुलभ और सुस्पष्ट बोध की ओर अग्रसर करता है। प्रत्येक युग अपने लिए कर्त्तव्याकर्त्तव्य अथवा पाप-पुण्य की निश्चित धारणाओं का निर्माण करता है और कुछ अग्रणी लोग अपनी संवेदनशीलता के कारण नये जीवनाभिप्राय को ग्रहण तथा अभिव्यक्त करने में अधिक सफल होते हैं।[१८] ये उत्तम जीवन-बोध के ज्ञाता और व्याख्याता ही श्रेष्ठ धर्मी और

---

१६. वही, पृ० ३१। १७. कला क्या है, पृ० ८४।

१८. देखिये, 'कला क्या है' ग्रन्थ का छठवाँ परिच्छेद, पृ० ८४-९१।

कलाकार हैं और नये जीवन-बोध के अनुसार मानवीय भावनाओं का शोध और परिष्कार उनका कार्यक्षेत्र रहा है। इस सूक्ष्म जीवन-बोध को तालस्ताय 'धर्म' कहते हैं और उनका विश्वास है कि मानवता निरन्तर अधिक सुस्पष्ट और विकसित जीवन बोध की ओर अनिवार्य और अप्रतिहत रूप से अग्रसर हो रही है। धर्मनेता और कलाकार यदि जन-मानस के इस विकास में योग दें तो उनका प्रदेय सार्थक हो। उनकी धारणा है कि मध्ययुग के बाद कला ने सच्चे धर्म से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और इसीलिए वह दुर्बोध, चमत्कारमूलक और गुह्य बन गई। धर्म से अलग होने पर कला का सम्बन्ध 'सौन्दर्य' नाम की एक कल्पित इकाई से जोड़ दिया गया जो वास्तव में 'आनन्द' का ही दूसरा नाम है और कला मात्र आनन्दप्रदायक बन गई। वह जीवन-सस्कार के अपने महान् उद्देश्य से च्युत हो गई। उसमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य-बुद्धि सम्पन्न अन्तर्दृष्टि का लोप हो गया। फलत कला कारीगरी और विनोद की सीमा-रेखा में बँध गई। इस कलाभास को ही 'कला' का नाम दिया जाने लगा। वे सुकरात, प्लेटो, अरस्तु और प्लाटिनस में सुन्दर शिव बन कर ही सार्थक था। कला-बोध और सौन्दर्य-बोध को इन्होंने अलग-अलग माना था। अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य में कला और सौन्दर्य का नाता जुड़ा जिसने कला के सम्बन्ध में अनेक भ्रामक विचारों की सृष्टि कर डाली। आधुनिक काव्य चिंतन और कला-दर्शन सौन्दर्य सम्बन्धी एकांगी और भ्रामक धारणाओं पर आधारित है और उसने कला को अयोगी, विज्ञावादी और निरर्थक बना दिया है, ऐसा तालस्ताय का मत है।

तालस्ताय आधुनिक कला के दो रूप मानते हैं

(१) अभिजात वर्ग की कला, और

(२) सामान्य जनता और श्रमी वर्ग की कला।

मध्य वर्ग को वह अभिजात वर्ग के अन्तर्गत ही रखते हैं। उनका विचार है कि कला का जीवन-बोधक और सस्कारी रूप जन-कला में सुरक्षित है और अभिजात वर्गों में विकसित कला ह्रासमूलक, चमत्कारी और लक्ष्यभ्रष्ट है। उच्चवर्गीय कला की विषय-दारिद्र्य की ओर तालस्ताय ने विशेष रूप से इंगित किया है।[१९] लोक-प्रियता के ह्रास के साथ उसमें अननुभूत, विचक्षण, दीप्तमूली तथा दर्मा विषयों की अवतारणा हुई है और उसने अहता, कामेच्छा और विश्रान्ति को अपना मूल मंत्र माना है।[२०] जीवन के प्रति असंतोष विश्रान्ति का ही फल है। यह स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि कला ने महान् उद्देश्यों से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया है और वह नगण्य तथा साधारण भावनाओं के करील-कुंजों में खो गई है।

तालस्ताय के विचार कला को मानवतावादी (उपयोगितावादी) और व्यावहारिक सिद्ध करते हैं। उनमें बौद्धिक कला का बाध है। तालस्ताय का कहना है कि "कला का कार्य है जो तर्क के रूप में अगम्य और अबोध है उसे अनुभूत और बोधगम्य बनाना।"[२१] बोधगम्यता कला की पहली शर्त है और उदात्त कला प्रत्यय

१९ कला क्या है, पृ० १०६-१०७।
२० „ „ पृ० १०८।
२१ „ „ पृ० ११०।

बोधमय, संजीविनी, संक्रामक और संस्कारी रही है। व्यावसायिकता, परिपाटी-बद्ध समीक्षा और निकाय (वाद) कला की विकृति के तीन स्रोत हैं और इन विकृतियों के कारण कला की अन्तर्भूत निष्ठा एकदम क्षीण होकर विनष्ट हो गई है। उच्च-वर्गीय कला में कृत्रिम कला-सृजन के लिए पूर्व कृतियों का ग्रहण और अनुकरण आवश्यक माना गया है और चमत्कार के लिए अकल्पित भाव-मुद्राओं तथा वैचित्र्यमय रूप-विधानों का अन्वेषण हुआ है। तालसताय काव्य और कला को इन विकृतियों से उबार कर उनके प्रकृत्यः स्वस्थ और संस्कारी धर्मनिष्ठ रूप की पुनर्स्थापना करना चाहते हैं।[२२]

यह स्पष्ट है कि तालसताय का कला-चिंतन रोमांटिक, बौद्धिक, प्रयोगी तथा प्रतीकवादी रचनाओं का विरोध करता है। वह सौन्दर्य को कोई स्वतन्त्र तत्व नहीं मानता। वह शिवं में ही सुन्दरं और सत्यं का पर्यवसान कर देता है। फलस्वरूप, कलाजन्य आनन्द की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह जाती। बामगार्टन की त्रयी (सत्यं, शिवं, सुन्दरं) में से तालसताय शिवं की सत्ता को ही स्वीकार करते हैं और इस भूमिका पर उनकी कलादृष्टि, धर्मदृष्टि बन जाती है। उसमें उच्चकोटि की नैतिकता, धर्मप्राणता और मानव-मात्र की अखण्डनीय एकता का समाहार हो जाता है और एक प्रकार से कवि या कलाकार 'ऋषि' अथवा 'मनीषी' बन जाता है। कला की यह व्याख्या मनुष्य के नये मानस-क्षितिजों की उपेक्षा करती है और उसे एक रहस्यमय जीवन-बोध का अनुसंवस्तु बना देती है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उसमें जीवन की उदात्त और प्रेरक शक्तियों का उपयोग है और 'क्लासिक' कहे जाने वाली कलाकृतियों की व्याख्या जितनी पूर्णता से उसके द्वारा सम्भव हो सकती है उतनी किन्हीं अन्य सिद्धान्तों द्वारा सम्भव नहीं है। समग्र चेतनावान् और परिपूर्ण सांस्कृतिक विकास के युगों में हमें बराबर ऐसी उदात्त, जीवनबोधमयी, प्राणवान् और परिपुष्ट कलाकृतियां मिलती रही हैं। कला का आदर्श ऐसी ही कृतियाँ हो सकती हैं, परन्तु युग-चेतना के खण्डित और द्वन्द्वात्मक क्षणों को मूर्तिमान करने में समर्थ चटुल, प्रयोगी, अनास्थावान और क्षणजीवी कलाकृतियों का भी क्या अपना महत्व नहीं है? यह अवश्य है कि उनके लिए हमारे मापदण्ड छोटे और दूसरे होंगे परन्तु उनकी उपादेयता में अविश्वास नहीं किया जा सकेगा।

तालसताय ने 'ह्वाट इज आर्ट' (१८९७) में कला के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं उन्हें सक्षेप मे हम इस प्रकार रख सकते है :

(१) कला के लिए पाठक या श्रोता के प्रति संक्रामक होना आवश्यक है।

(२) कला उसी समय संक्रामक हो सकती है जब वह सर्वसुलभ और बोधमय हो।

(३) कला के लिए धर्मप्राण होना आवश्यक है। अधिकांश महान् साहित्यिक कृतियाँ इस मापदण्ड पर पूरी नहीं उतरतीं क्योंकि तालसताय के महान् आदर्श तक पहुँचना कठिन है, यहाँ तक कि शेक्सपियर भी तालसताय के आक्रोश से नहीं बच

---

२२ वही, पृ० १४२।

सका है।

वास्तव में तालस्ताय के कला चिंतन के पीछे रूसी चिंतन-परम्परा है जो समाजशास्त्रीय विचारधारा को महत्व देती है और वे कला-चिंतन को धार्मिक भित्ति देना चाहते हैं। चेरनिशेवेस्की (१८२८-८६), दोब्रोल्युबाव (१८३६-६१), माइखेलो-वेस्की (१८४२-१६०४) और सोवेव (१८५३-१६००) काव्य-कला तथा जीवन के पारस्परिक संबन्धों का अन्वेषण करते हुए 'कला' की स्वतन्त्र और मौलिक स्थिति का विस्मरण कर देते हैं और तालस्ताय को हम इस विचार-परम्परा की अन्तिम कड़ी ही मान सकते हैं। उनकी मान्यताओं के पीछे उनकी विश्व-विश्रुत श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियाँ और उनका जीवन-व्यवहार है। इस प्रकार उनका कला-चिंतन एक परम्परा की परिणति ही माना जा सकता है।

यूरोपीय कला चिंतन पर तालस्ताय का प्रभाव आकस्मिक और गम्भीर रहा। रोगर फ़्राइ ने इंग्लैण्ड के समकालीन विचार-क्षेत्र पर उसके प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है "अतिशय महत्वपूर्ण जो शेष रह जाता था वह यह विचार था कि कलाकृति किसी ऐसे सौन्दर्य का अनुलेख नहीं है जो पहले से कहीं उपस्थित है, वरन् वह कलाकार द्वारा अनुभूत और द्रष्टा द्वारा ग्रहीत रसावेग की अभिव्यक्ति है।"[23] परन्तु शीघ्र ही विश्लेषण द्वारा तालस्ताय के संक्रामक-सिद्धान्त[24] की एकांगिता भी दिखलाई पड़ने लगी। तालस्ताय के अनुसार संक्रामकता होने पर ही कोई कृति कला है और संक्रामकता की तरतमता ही कला मूल्यों का निर्माण करती है। परन्तु संक्रामकता की यह तरतमता उन व्यक्तियों की संख्या पर निर्भर हो सकती है जो कला द्वारा प्रभावित हुए हैं और उस परिपूर्णता पर भी जिसका अनुभव उन्होंने कलाकृति के द्वारा किया है। इसमें संदेह नहीं कि तालस्ताय कला को 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' मानते हैं और उसकी सर्वमान्यता ही उनके लिए सर्वांगीणता है, परन्तु रसानुभव की परिपूर्णता के सम्बन्ध में उनके विचार स्पष्ट नहीं हैं[25]

23 "What remained of immense importance was the idea that a work of art was not the record of beauty already existent elsewhere, but the expression of an emotion felt by the artist and conveyed to the spectator" (Vision and Design, P 194)

24 'Arts becomes more or less infections in consequence of three conditions

(i) In consequence of a greater or lesser peculiarity of the sensation conveyed

(ii) In consequence of a greater or lesser clearness of the transmission of this sensation

(iii) In consequence of the sincerity of the artist that is of the greater or lesser force with which the artist himself experiences the sensation which he is coveying" (What is Art, Sec XV)

25 "The more the sensations to be conveyed is special the more strongly does it act upon the receiver, the more special the condition of mind is to which the reader is transferred, the more willingly and the more powerfully does he blend with it.'—(*Ibid*)

और आलोचकों ने उसमें असंगति खोज निकाली है।[२५] परन्तु तालस्ताय ने जिसे विशेषनुभूति कहा है, उसे आलोचकों ने विशिष्टानुभूति अथवा विकृत तथा वैचित्र्य-मूलक अनुभूति मान लिया है जो स्पष्टतः सर्वग्राही अथवा परिपूर्ण-ग्रहीत नहीं हो सकती। विशेषानुभूति से तालस्ताय का तात्पर्य उच्चकोटि की धर्मानुभूति या विशेष प्रकार के परिपूर्ण और अंतर्योजित जीवन-बोध से है। तालस्ताय असामान्य, रुग्ण, विभ्रममयी और प्रक्षिप्त मनोवृत्तियों को काव्य और कला के क्षेत्र में स्वीकार नहीं करते, जैसा बोदलेर, मेलार्मे, वर्लें आदि प्रतीकवादी कवियों की रचनाओं के सम्बन्ध मे उनके विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है। अतः उनके 'विशेष' से 'निर्विशेष' ही ध्वनित है, अर्थात् जो सम्पूर्ण रूप से मानवीय और संवेदनीय है। विषय-वस्तु महार्घ और उदात्त हो, नव्य हो, यह उनके विचार में उसकी विशेषता है। कला-व्यापार की बोधगम्यता और कलाकार की ईमानदारी पर बल देकर तालस्ताय ने स्पष्ट ही कला को 'कूटस्थ' होने से बचा लिया है। ईमानदारी से उनका तात्पर्य यह है कि वस्तु-विषय कलाकार के व्यक्तित्व द्वारा समग्रता, तन्मयता और सर्वभुक्ता में ग्रहीत हो और सतत् रूप में निर्लेप ही पाठक, दृष्टा या श्रोता द्वारा अनुभूय हो सके।

(२)

उपयोगितावाद का एक अन्य रूप हमें आई० ए० रिचर्डस (ज० १८९३) की रचनाओं में मिलता है। १९२० के लगभग उनकी रचनाएं सामने आने लगती हैं। वास्तव में रिचर्ड्स की रचनाओं में नयी मनोवैज्ञातिक धारणाओं और स्थापनाओं का प्रभाव पहली बार दिखलाई पड़ता है। रिचर्ड्स का सारा समीक्षात्मक समारम्भ प्रभाववादी समीक्षा के विरुद्ध है। उन्होंने कला-चिंतन और समीक्षा को अधिक-से-अधिक विज्ञान का रूप देने की चेष्टा की है, जहाँ व्यक्तिगत कुछ भी नहीं है, सब निर्वैश और नियोजित है। रिचर्ड्स ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि साहित्य का उद्देश्य पाठक या श्रोता मे संतुलित मनोवैज्ञानिक स्थिति का निर्माण करना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने शब्द-शक्तियों की भी परीक्षा की है और शब्दों के नैरुक्तिक सम्बन्ध के द्वारा साहित्यिक कृति की विशिष्टता का उद्घाटन करना चाहता है। इस प्रकार उनके दृष्टिकोण में मनोवैज्ञानिक के दृष्टिकोण में का संश्लेष है। उन्होंने विश्लेषण की वैज्ञानिक पद्धति को आत्यन्तिक विस्तार दे दिया है। उनके बाद उन्हीं क्षेत्रों में हर्बर्ट रीड और विलियम एम्पसन का नाम आता है जिनके द्वारा रिचर्ड्स के कार्य-क्षेत्र को महार्घता प्राप्त हुई है। रिचर्ड्स का कार्य उस कोटि का है जो साहित्य को जीवन के अन्य क्षेत्रों से और समीक्षा को अन्य विज्ञानों से सम्बन्धित करता है। परन्तु साहित्यिक विवेचन के लिए आनुषंगिक होने पर भी वह साहित्य की प्रक्रिया पर व्यापक रीति से प्रभाव डालता है।

रिचर्ड्स का काव्य-विवेचन शब्द-शक्तियों के अध्ययन से आरम्भ होता है

26. I. A. Richards : Principles of Literary Criticism Ch. XXIII, pp. 186-189.

क्योंकि शब्द ही काव्य की इकाई है। वह मानवी वाणी-व्यापार को चार दृष्टिकोणों से देखते हैं, अर्थात् अर्थ (सेंस), भाव (फीलिंग), ध्वनि (टोन) और आकांक्षा (इनटेन्शन)। अर्थ के द्वारा हम पाठक या श्रोता का ध्यान किसी स्थिति की ओर आकर्षित करते हैं, परन्तु प्रत्येक अर्थ हमारे भाव-निकाय से भी सम्बन्धित होता है और शब्द मे हमारी सवेदना भी ध्वनित रहती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक बात का कोई लक्ष्य या उद्देश्य रहता है और इस उद्देश्य के अनुसार शब्दो के अर्थ-मूल्य बदलते रहते हैं। बहुधा कवि या लेखक का उद्देश्य प्रच्छन्न रहता है और अन्य योगायोगो से ही उसे क्रियाशीलता मिलती है।[२७]

रिचर्ड्स कवि के कथनीय और कविता मे भेद करते हैं।[२८] उनके अनुसार कवि का वैयाकरणीय तत्त्व विषय-वस्तु से स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उनकी एक उपपत्ति यह भी है कि काव्य मे शब्द ध्वनि और शब्द क्रम, जिन्हें बहिरंग कहा जाता है, उसके अन्तरंग के विरोधी होते हैं और इस द्वन्द्व के भीतर से ही वाच्यार्थ बोधित होते हैं। कविता मे शब्द-प्रयोगो और छदो की स्थिति इसीलिए महत्त्वपूर्ण है कि उनके द्वारा हम अन्तरंगीय भाव-बोध को ग्रहण करने के लिए सवेदित होते हैं।[२९]

परन्तु रिचर्ड्स का सबसे बडा प्रदेय कदाचित् कविता मे विचारो या आस्थाओं की समस्या के सम्बन्ध मे है। उन्होंने कविता को विचारो से स्वतन्त्र इकाई माना है। कविता मे कवि के व्यक्तित्व का सार्वभौमिक प्रकाशन रहता है। इसीलिए विज्ञान के युग मे भी कविता की सुरक्षा आवश्यक है। वास्तव मे कविता विचार-निरपेक्ष और स्वतन्त्र रहकर ही अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकती है। कविता का यह स्वातन्त्र्य वैज्ञानिक प्रपत्तियो से ही सम्बन्ध नहीं रखता, राजनैतिक और सामाजिक विचारो से भी उसका स्वातन्त्र्य अपेक्षित है। इसमे सन्देह नहीं कि यह कार्य कठिन है क्योंकि महत् काव्य मे कवि अनिवार्यत अपने दृष्टिकोण के साथ अपनी आस्थाओ को भी गूथ लेता है।[३०] धर्म, दर्शन और राजनीति कविता को अपना माध्यम बनाते रहे हैं और आवश्यकता इस बात की है कि कविता को स्वातन्त्र्य प्राप्त हो। बुर्जुआ काव्य परम्परा की सबसे बडी कठिनाई यही है कि वह पची-सधी आस्थाओ से छुटकारा नही प्राप्त कर पाता। काव्यानुभूति के माध्यम से ग्रहीता कवि और मानव समाज से अपना सम्बन्ध जोड सकता है और कालान्तर मे काव्यानुभूति वर्ग-चेतना का स्थान ले लेती है। सामाजिक क्षेत्र के द्वन्द्व कविता के विशुद्ध रसास्वादन मे बाधक होते हैं तो हम सामाजिक सवेदनाओ के स्थान पर काव्यानुभूति को ही केन्द्रीयता क्यों नही दें। यदि हम काव्यगत वस्तु-चेतना से मुक्त होकर विशुद्ध भावभूमि पर कविता का रसास्वादन कर सकें, यदि हम काव्य को एक ऐसा स्वतन्त्र निकाय मान लें जो राजनैतिक आदर्शों से निरपेक्षित और तटस्थ

---

27 Practical Criticism, pp 181 183
28 Science & Poetry pp 34-35
29 Science & Poetry, pp 32
30 Ibid, p 86

रह सके तो हम उन द्वन्द्वों से बच जाते हैं जो वास्तविक जीवन में हमारी संवेदनाओं को कुण्ठित करते हैं। समाज के विषय में किसी निश्चित समाधान तक पहुँचने में असमर्थ होने पर हम कुण्ठाग्रस्त और भावसंकोची हो जाते हैं। कविता के स्वातन्त्र्य को स्वीकार कर हम समाज-चेतना से मुक्ति पा जाते हैं और सब प्रकार के विचारों में निरपेक्ष भाव से रस ले सकते हैं। विचार को मनःप्रक्रिया मात्र मान कर हम व्यवहार-क्षेत्र में उसके उपयोग की अनिवार्यता को अस्वीकार कर देते हैं। इस प्रकार समाज की सांस्कृतिक गतिविधि में हम भाग ले सकते हैं और उसकी व्यवहारगत स्थितियों और द्वन्द्वात्मक विषमताओं की ओर से आँख मूँद सकते हैं। इस प्रकार रिचर्ड्स की यह विचारधारा कला-स्वातन्त्र्य को सन्तुलन (स्टेटस क्वो) की प्राप्ति का साधन बना देती है। यह स्पष्ट है कि यह सारी विचारधारा एक प्रकार से आत्मप्रवंचन है और पूँजीवादी मनोवृत्ति की उपज है जो समकालीन जीवन से कला का नाता जोड़ना नहीं चाहती। परन्तु यह निश्चित है कि रिचर्ड्स ने कविता को युगीन समस्याओं से पलायन का माध्यम बनाया है। इस प्रकार सामाजिक समाधान और व्यावहारिकता का स्थानापन्न कविता बन जाती है परन्तु उसकी स्थिति एकांगी और वायवी रहती है। रिचर्ड्स का विचार है कि बौद्धिक आस्था के अभाव में भाव-संवेदना दुर्बल नहीं होगी। यह अवश्य है कि कुछ लोगों की संवेदना बौद्धिक विश्वासों से जुड़ी होती है। आधुनिक शिक्षा, और विज्ञान-विषयक मान्यता बौद्धिक विश्वासों को सर्वोपरिता देती है और जो संवेदनाओं के क्षेत्र में भी बुद्धि का नेतृत्व स्वीकार कर लेते हैं उनकी काव्यानुभूति ही समाप्त हो जाती है।[31]

आस्था का प्रश्न एक अत्यन्त जटिल प्रश्न है क्योंकि कवि की आस्था जिन चित्रों या मूल्यों का निर्माण करती है उन्हें स्वीकार या अस्वीकार तो किया जा सकता है, उनकी वैज्ञानिक परख नहीं हो सकती। एक प्रकार की आस्था परीक्षणीय हो सकती है परन्तु परीक्षा करने पर वह सही या ग़लत उतर सकती है या हमारे मापदण्डों के बदल जाने पर उसका स्वरूप ही बदला जा सकता है। इस प्रकार की परीक्षणीय आस्थाओं से काव्यानुभूति का सच्चा स्वरूप स्थापित नहीं होता। अतः आस्था का एक स्वरूप कल्पनात्मक या भावात्मक हो सकता है और कवि अपनी सब प्रकार की धारणाओं को इस प्रकार की आस्था दे सकता है। विज्ञान का सत्य कल्पना का सत्य बनकर सब लोगों को सब स्थितियों में स्वीकृत हो सकता है और उसकी परीक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। कल्पना-जगत में विचार-जगत के नियम लागू नहीं होते क्योंकि कल्पना में दो विरोधी धर्मों का समाहार सम्भव है। कल्पित आस्थाएँ तर्क-जन्य नहीं होतीं, उनके निर्माण में धारणाओं, भावनाओं और आकांक्षाओं का विचक्षण योगायोग रहता है। विचारों की तरह उन्हें सत्य या असत्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि हम उन्हें वास्तविकता की तुला पर नहीं तौल सकते। परन्तु वास्तविकता द्वारा परीक्षणीय न होने पर भी उन्हें आन्तरिक तो होना ही होगा।

---

31. Practical Criticism, p. 278

परन्तु जब रिचर्ड्स भावना के सत्य को धारणा के सत्य से अलग कर उसे 'मिथ्या' (सूडो स्टेटमेंट) कहने लगते हैं तो बात कम विश्वसनीय हो जाती है। उनका विचार है कि यह मिथ्या प्रवृत्तियाँ उस सीमा तक 'सत्य' हैं जिस सीमा तक उनके द्वारा हमारी संवेदनाओं और हमारे दृष्टिकोणों को संगठित या शृंखलित किया जा सकता है।[32] परन्तु अन्यत्र रिचर्ड्स क्षोभ प्रगट करते हैं कि नये ज्ञान ने हमारे अनन्य विश्वासों को मिथ्या सिद्ध कर दिया है परन्तु कविता में हम उन्हें सत्य ही मान कर चल रहे हैं और इस प्रकार आधुनिक सभ्यता के सामने एक बड़ा संकट खड़ा हो गया है। जिस नये ज्ञान को उन्होंने मिथ्या सिद्ध कर दिया है, वह स्वयं इतना सूक्ष्म और भावसंकुल नहीं है कि कविता का विषय बन सके। ईश्वर, जीवात्मा, सृष्टि, नियति आदि सम्बन्धी अनेकानेक धारणाएँ आज अविश्वसनीय बन गई हैं परन्तु मनुष्य के भावनिकाय से उन्हें निकाला नहीं जा सका है।[33] बहिर्मुखी सत्य से किसी धारणा का मेल न भी हो, अन्तर्मुखी सत्य अथवा संवेदनीय जीवन का सत्य बनकर वह धारणा महान् बन सकती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। बहिर्मुखी सत्य का आधार वस्तु-जगत अथवा तत्सम्बन्धी धारणा है परन्तु अन्तर्जगत का सत्य कवि की मनःस्थिति या उसकी अनुभूति पर आधृत है। सच तो यह है कि सत्यासत्य के तर्क-वितर्क में रिचर्ड्स अनजाने ही दर्शन के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं। कॉलरिज पर लिखे अपने एक निबन्ध (कॉलरिज ऑन इमेजिनेशन, १९३४) में उन्होंने काव्यगत सत्य के दो रूप निर्धारित किये हैं (१) मन की अनुभूत वास्तविकता या तथ्यता को प्रगट करने वाली उक्तियाँ, और (२) कल्पित वस्तु स्थितियों से सम्बन्धित उक्तियाँ। पहली प्रकार की उक्तियाँ वस्तुगत और महत्त्वपूर्ण हैं। दूसरे प्रकार की उक्तियों में कवि वस्तुगत तथ्य को छोड़कर अपनी तत्कालीन चेतना को ही निविबद्ध कर रहा है। संवेदनाओं और भंगिमाओं का यह संसार उसके लिए अपूर्व सत्य है और उसकी तल्लीनता के कारण ही उसका यह सत्य पाठक या श्रोता के लिए भी सत्य की प्रतीति बन जाता है। इस प्रकार कविता की सम्पूर्णता में वस्तु-सत्य और भाव-सत्य दोनों युगबद्ध हैं। कुछ विद्वानों के विचार में सत्य की यह द्विधा भ्रामक है। दोनों की भूमिकाएँ ही अलग नहीं हैं (वस्तुपरक और व्यक्तिपरक), उनके आपेक्षिक घनत्व में भी अन्तर है। वस्तु-सत्य स्थूल और परिमाण-बद्ध है, भाव-सत्य तरल और सूक्ष्म होने के कारण वस्तु-जगत के मापदण्डों से स्वतन्त्र है। वास्तव में समस्या यह है कि विज्ञान-जगत में हम संवेदनात्मक मूल्यों को लेकर चल सकते हैं या नहीं। संवेदनात्मक मूल्य भी कालान्तर में बदल जाते हैं, जैसे मध्ययुग का भौतिक परिवेश ही आज नहीं बदल गया है, उसका भाव-सत्य भी आज हमारे लिए दुर्ग्राह्य है। अतः यह आवश्यक है कि काव्य को हम एकदम सभी प्रकार की आस्थाओं से मुक्त कर दें। रिचर्ड्स के विचार में भविष्यत् काव्य का रूप आस्थामुक्त होगा। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अनास्था ही काव्य का रूप

32 Science & Poetry, pp 58-9.
33 Ibid, p 60

ले लेगी जैसा आधुनिक कविता में हो रहा है। यह भविष्यत् काव्य कैसा होगा, यह अभी अकल्पनीय है, परन्तु रिचर्ड्स का विश्वास है कि कविता से ही हमारी सुरक्षा सम्भव है।[34]

परन्तु क्या किसी कवि के लिए अपनी कविता और अपने (बौद्धिक) विश्वासों को सम्पूर्णतः अलग-अलग रखना सम्भव है। रिचर्ड्स इस सम्भावना के प्रति विश्वासी हैं।[35] परन्तु कविता की परिपूर्ण रसानुभूति के लिए क्या यह आवश्यक नहीं है कि हम कवि की आस्था में भी भाग ले सकें। ऐसी कविता कहाँ मिलेगी जहाँ भाव-जगत और विचार-जगत का पूर्ण विच्छेद हो। कवि की वैचारिक निष्ठा का अध्ययन दर्शन, धर्म या राजनीति-शास्त्र का विषय हो सकता है, परन्तु उसे छोड़कर विशुद्ध काव्य-रस की खोज भी निरर्थक रहेगी। टी० एस० इलियट ने रिचर्ड्स की इन मान्यताओं की विस्तृत परीक्षा की है और वह इन्हें अर्द्धसत्य ही मानते हैं[36], क्योंकि उनके विचार में काव्यसृजन की भाँति रसास्वादन भी समग्र प्रक्रिया है जिनमें बौद्धिक तत्त्वों को विशुद्ध काव्यात्मक तत्त्वों से अलग नहीं किया जा सकता।

रिचर्ड्स तालसताय की भाँति नीतिवादी नहीं हैं। वह परम्परित नीतिवादिता का विरोध करते हैं क्योंकि जीवन-व्यापार इतना सूक्ष्म और तरल है कि वह किसी भी सिद्धान्त या आचार के चौखटे में बाँधा नहीं जा सकता।[37] परन्तु उनकी यह आस्था है कि जीवन का सौन्दर्य और स्वास्थ्य इसी में है कि उसमें हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ संगठित और व्यवस्थित हों। श्रेष्ठ कला हमारी संवेदना को संतुलित और नियोजित करती है और कला-समीक्षा का कार्य यही है कि वह कला के इस पक्ष का उद्‌घाटन करे और इस संतुलन तथा नियोजन को अधिक-से-अधिक पाठकों तक पहुँचाए। युग परिवर्त्तन के साथ नीति और आचार में भी परिवर्त्तन हो जाता है, परन्तु जीवन के मूल्य नहीं बदलते क्योंकि इन मूल्यों की महार्घता चिरस्थायी संवेदनीय तत्त्वों पर आधारित है। कोई चीज़ हमें अच्छी या सुन्दर उसी समय लगती है जब वह तोष देती है, अर्थात् हमारी महत्त्वपूर्ण संवेदनाओं में बाधक नहीं होती। इस प्रकार नैतिकता का प्रश्न संवेदनाओं की व्यवस्था का प्रश्न बन जाता है। व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति और समाज, समाज और समाज की पारस्परिक मनोवैज्ञानिक व्यवस्था ही 'मूल्यों' का सृजन करती है। व्यवस्था के अभाव में मूल्य स्वयं तिरोहित हो जाते हैं और उलझनों तथा कुंठाओं का जन्म होता है।

इस संदर्भ में काव्य और कला में मनुष्य के मन की सबसे अधिक मूल्यवान स्थिति का प्रकाशन है जिसमें अभाव, संघर्ष, असंतोष और निरोध नहीं रहते और फलस्वरूप क्षरण और कुंठा को स्थान नहीं मिलता। प्रवृत्तियों का व्यापक समन्वय

---

34. Practical Criticism, pp.179ff & pp. 271ff.
35. Science & Poetry, p. 76. Footnote.
36. Selected Essays (1917-32), pp. 229-31
37. Principles of Literary Criticism, p. 62

ही काव्य और कला का मूलाधार है।[38] रिचर्ड्स ने 'मूल्य' में मनोवैज्ञानिकता की स्थापना विस्तारपूर्वक की है।[39] साहित्य और कला के द्वारा आतरिक एव मनोवैज्ञानिक व्यवस्थापन सभव है, यह उनकी मान्यता है, परन्तु यह व्यवस्थापन चेतन योजना नहीं है। इस प्रकार रिचर्ड्स की *साहित्य-कला-सम्बन्धी मान्यता* मनोवैज्ञानिक और उपयोगितावादी कही जा सकती है। मनुष्य, समाज और संस्कृति के आतरिक जीवन में काव्य और कला की उपादेयता इसी संदर्भ को लेकर है।[40] तालस्ताय की 'धर्म' पर आधारित नैतिकता के स्थान पर रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान पर आधारित आतरिक व्यवस्था (संघर्षहीन संतुलित मन स्थिति) को रख दिया है। *इस प्रकार साहित्य और कला का उद्देश्य मनोवृत्तियों का परिष्करण, व्यवस्थीकरण और उदात्तीकरण है।* इस प्रक्रिया में जिस आत्मबोध या उदात्त मन स्थिति का परिचय होता है, वही साहित्य अथवा कला का आनन्द है। कल्पना, रस, संवेदना, भावना आदि इसी आनन्द के पर्याय हैं।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि रिचर्ड्स के लिए काव्य और कला अतःसयोजन के माध्यम हैं *'अनेकचित्तविभ्रात' सहृदय उनके द्वारा अविरोधी मन सस्थिति* प्राप्त करता है। फलस्वरूप रिचर्ड्स का उपयोगितावाद व्यावहारिक हो जाता है। मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियो और संवेदनाओं के ठोस आधार को वह ग्रहण करता है, तालस्ताय के नीतिवाद की तरह किसी सूक्ष्म और वायवी धर्मबोध का आश्रय नहीं लेता। परन्तु व्यावहारिकता की भी अपनी सीमाएँ तो हैं ही। पहली बात तो यह है कि रसात्मक संवेदना को स्नायुज मान कर रिचर्ड्स मानसिक चेतना को सूक्ष्म आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक उठने नहीं देते। भारतीय रस-सिद्धात में इस संवेदना को लोकोत्तर और अतीन्द्रिय माना गया है। इसके मूल में भारतवर्ष की आदर्शप्राणता है, परन्तु इससे काव्य तथा जीवन की विभिन्न भूमियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। काव्य जीवन नहीं है। जीवनगत अनुभूतियों से काव्यगत अनुभूतियाँ भिन्न हैं। रिचर्ड्स की व्यवस्था में यह अन्तर स्पष्ट नहीं होता। दूसरी बात यह है कि रिचर्ड्स की 'मूल्य' सम्बन्धी विचारणा अतःतोष, व्यवस्था और सम्पूर्ण व्यक्तित्व की क्रियमाणता पर बल देती है, परन्तु ये तत्त्व सापेक्षिक ही माने जा सकते हैं और दो या कई श्रेष्ठ रचनाओं की तुलना करते समय किसी शाश्वत मापदण्ड की अनिवार्यता बनी ही रहती है। परन्तु ऐसा कोई भी शाश्वत मापदण्ड रिचर्ड्स की धारणा में सम्भव नहीं है क्योंकि उनका विचार है कि कालांतर में सामाजिक संगठन तथा भौतिक परिवेश के बदलने से हमें नये मन संगठन की उपलब्धि हो सकती है जिसमें प्रवृत्तियों तथा संवेदनाओं का स्वरूप ही भिन्न हो।[41] उनके 'मूल्य' स्थापन में सम्पूर्ण मानव विकास और भविष्यत् संयुक्त हो जाता है। फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रिचर्ड्स ने साहित्य सिद्धान्त समीक्षा को वैज्ञानिकता

---

38 *Ibid* p 59

39 *Ibid* "A Psychological Theory of Value", p 57

40 *Ibid*

41 *Ibid* p 269

का ठोस आधार देने में समर्थ हुए हैं और उनकी मान्यताओं एवं प्रक्रियाओं में मनोविज्ञान की अद्यतन उपलब्धियों का सुन्दर ढंग से समावेश हुआ है। पूर्वतन क्लासिकल-परम्परा और नीतिवादी दृष्टिकोण में साहित्य एवं कला के जिस उदात्त, जीवनबोधी और परिष्कारी रूप की स्थापना हुई थी उसे रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान और भाषा-शास्त्र का समर्थन दिया है। सीमाओं के रहते हुए भी उनकी मान्यताओं का मूलगत महत्त्व उसी प्रकार बना रहेगा जिस प्रकार तालस्ताय की नीतिवादी मान्यताएँ कुछ विशिष्ट प्रकार की कला-कृतियों के लिए सदैव महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगी।

७

परम्परा, प्रयोग और प्रगति

(१)

यह आश्चर्य की बात है कि परम्परा की बात काव्य में प्रयोगवादी इलियट ने उठाई और साहित्य के क्षेत्र में वह अकाट्य सत्य की भाँति स्वीकृत भी हो गई। इसमें सन्देह नहीं कि इलियट राजनैतिक दृष्टि से राजवादी (रॉइलिस्ट) और सामाजिक दृष्टि से कैथोलिक और परम्परावादी हैं परन्तु आवश्यक नहीं है कि कवि की राजनैतिक और सामाजिक मान्यताएँ उसके सर्जन का भी सिद्धांत बन जायें। अतः साहित्य या काव्य में यह परम्परावाद का नारा अपना अलग समाधान चाहता है। कहा जाता है *कि ध्येय 'प्रगति' है, इसीलिए 'प्रयोग' है और प्रयोग का परम्परा से विरोध है क्योंकि* प्रयोग नवीन की ओर देखते हैं, परम्परा विगत की ओर। तात्पर्य यह निकलता है कि विद्रोह परम्परा के प्रति है और विद्रोह का साधन है प्रयोग। नवीन को प्रयोग से जोड़ कर ही प्रगति की सृष्टि मानी गई है। इस प्रकार परम्परावाद, प्रयोगवाद और प्रगतिवाद के रूप में काव्य और साहित्य के तीन दृष्टिकोण सामने आते हैं। 'प्रगतिवाद' शब्द आज 'वाद' विशेष के लिए रूढ़ हो गया है, परन्तु यहाँ हम उसे उसके अधिक विराट, सूक्ष्म और स्पष्ट धात्वर्थ में ही लेते हैं।

सच तो यह है कि परम्परा और प्रगति युग की भिन्न-भिन्न पुकारें हैं। किसी युग में परम्परा की पुकार थी, आज प्रयोग का नारा है। वास्तव में ये दोनों दृष्टिकोण मात्र हैं। परम्परा की ओर देखना अतीतधर्मी दृष्टि है, प्रगति की ओर देखना भविष्यधर्मी दृष्टि। अतः प्रयोग का सम्बन्ध केवल रूपगत नवीनता से नहीं है, जैसा 'प्रयोगवाद' के विरोधियों का दावा है। अज्ञेय ने इसी पर्याय में कहा है कि 'प्रयोग का कोई वाद नहीं होता।' भाषा, काव्य-शैली और छन्द की नवीनता सहज में ही प्रयोगवाद बन जाती है, परन्तु सच्चा प्रयोगवाद अन्तरंगी नवीनता का दावेदार होता है। यह नवीनता काव्य की भंगिमा, मन्तव्य, प्रभाव सभी क्षेत्रों में एक साथ ही मिलती है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि हम प्रगति किसको कहें और परम्परा क्या प्रगति की एकदम विरोधिनी है। कब परम्परा समाप्त होती है और प्रगति का स्वर्णिम रथचक्र बढ़ता है, यह भी जानना होगा। गतिशील युग में प्रगति का अर्थ दोहरा हो जाता है क्योंकि युग की गतिशीलता पहले ही काव्य के मन्तव्य या भावना कोश में आमूल परिवर्तन कर देती है और साहित्य के भीतर से युगधर्म के साथ साहित्यिक प्रगतिशीलता को भी देखना होता है।

परम्परा का क्या अर्थ है? यह क्या एक चीज है या अनेक चीजें हैं? अर्थात् क्या परम्पराएँ कहना अधिक ठीक नहीं होगा? क्या परम्परा उत्तराधिकार में सहज

ही प्राप्त होती है या उसके लिए प्रयास करना होगा ? और अन्त में, क्या वह नितान्त वांछनीय है ? इलियट ने अपने निबन्ध 'ट्रेडीशन एण्ड द इण्डीवीजुअल टैलेण्ट' (१६१६) में बतलाया है कि 'ट्रेडीशन' (परम्परा) शब्द ही लांछित है क्योंकि उसमें पुरानेपन की बू आती है और उससे अगतिशीलता टपकती है, परन्तु उनका यह भी कहना है कि काव्य के उस प्रौढ़तम मौलिक अंश में भी, जिसे हम व्यक्तिगत कहते हैं, पूर्व के कवि और कलाकार अज्ञात रूप से अपनी अमरता प्रमाणित करते हैं। अतः मौलिकता मात्र भ्रम है। इसीलिए इलियट की यह मान्यता है कि कवि के लिए ऐतिहासिक बोध (हिस्टॉरिकल सेन्स) का होना परमावश्यक है। वह जब अपने संवेदन को वाणी में बांधने बैठता है तो होमर, शेक्सपिअर, दांते, मिल्टन, वर्ड्स्वर्थ, गेटे—यूरोप के सभी कवि उसके संवेदन मे घुल-मिल जाते हैं और जातीय स्वर अनायास ही उसमे ध्वनित होने लगता है। इसका अर्थ यह नही है कि हम निकट-पूर्ववर्ती कवियों या काव्यधारा का अनुसरण करते रहें क्योंकि परम्परा का अंध निर्वाह काव्य और कला को जड, असमर्थ तथा मरणशील बना देता है। किसी भी श्रेष्ठ कृति की उद्धरिणी असंभव है, असंभव ही नहीं अवांछनीय भी है क्योंकि गांठ की थोड़ी पूंजी बहुत से उधार से श्रेष्ठ है। अत. परम्परा का अर्थ सूक्ष्म ही हो सकता है। इलियट ने इसे 'कालातीत का बोध' (सेन्स ऑव द टाइमलेस) कहा है। कवि की तात्कालिक अनुभूति जहां वर्तमान के साथ अतीत और सर्वकालिक को भी आत्मसात कर लेती है, वहां काव्य युगेतर बनकर सममामयिक बन जाता है। अतः सामयिकता का बोध ऐतिहासिक विकास या परम्परा में कवि की अपनी स्थिति का बोध मात्र है। वर्त्तमान में अतीत और अतीत में वर्त्तमान को देखने की यह दृष्टि 'सहज' दृष्टि नही है, उसके विकास के लिए साधना और प्रयत्न की आवश्यकता है। वह अर्जना की वस्तु है। उससे पुष्ट होकर कवि या कलाकार की सर्जना प्रामाणिक, परम्परित तथा कालेतर बनती है। उसकी क्षणबद्धता नष्ट हो जाती है। प्रत्येक नई रचना समस्त पूर्ववर्ती रचनाओं के अभिप्राय, तारतम्य तथा प्रभाव को बदल देती है और वह स्वयं अनिवार्यतः पूर्वपरम्परा से बंधी रहती है। इस दृष्टि से देखने पर कवि की कठिनाइयां तथा जिम्मेवारियां बढ़ जाती हैं परन्तु उनसे किनारा पाना असम्भव बात है क्योंकि प्रत्येक नई कृति को समग्रता से परिबद्ध होना पड़ता है। यहीं परम्परा का बोध महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

परम्परा यदि काव्य को प्रामाणिकता, अभिजात्य तथा प्रौढ़ता देती है तो प्रयोग उसे नवजीवन देते हैं। महाकवि अपने वक्तव्य, भाषा, छन्द तथा संवेदन को सामर्थ्य तथा प्रौढ़ता की उस ऊँचाई पर ले जाकर छोड़ते हैं कि वे 'चुक' जाते हैं, उनकी श्रेष्ठतम कृति पर ही समाप्ति हो जाती है और उस उपलब्धि को दोहराना असम्भव तथा अनावश्यक रहता है। महान् काव्यान्दोलनों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। फलतः नए कवि के लिए नए वक्तव्य, नई भाषा नए छन्द और नए संवेदन की अनिवार्यता रहती है। नवीनता की यह उपासना नए कवि के विद्रोह के रूप में सामने आती है। ऐसा लगता है कि वह परम्परा को एकदम तिरस्कृत कर रहा है। अधिकतः नए कवि का विद्रोह नई भाषा तथा नए छन्द से आरम्भ होता है

और उसके प्रयोगों की भूमि विविध तथा बहुरंगी होती है। परन्तु काव्य के बहिरंग पर यह विद्रोह समाप्त नहीं हो जाना चाहिये। यदि ऐसा हुआ तो विद्रोह और प्रयोग की कोई सार्थकता नहीं है। मुख्य बात है कवि का नया वक्तव्य। नई भाषा, नए छन्द, नए प्रतीक इस वक्तव्य का शरीर मात्र हैं। इस वक्तव्य के भीतर से ही नया युगधर्म झाँकता है। अतः कवि का कथ्य महत्त्वपूर्ण है। नहीं तो प्रयोगवाद प्रयोगमात्र रह जायेगा और शीघ्र ही उसकी जड़ खोखली हो जायेगी। यह निश्चय है कि कोई भी कवि अथवा काव्यधारा अनिश्चित काल के लिए प्रयोग नहीं कर सकते। कहीं-न कहीं विद्रोह को समाप्त होना है और उसे प्रयोग की ड्योढ़ी लाँघ कर परम्परा बनना है। परम्परा बनकर ही वह नए प्रयोगों के लिए चुनौती बन सकेगा और इस प्रकार नए विद्रोह को उकसायेगा। परम्परा और प्रयोग का यही चक्र काव्य और कला के भीतर प्रगति को जन्म देता है। जीवन की तरह काव्य भी द्वन्द्वात्मक विकास-प्रक्रिया है और उसकी गतिशीलता *प्रगति (परम्परा) की अपेक्षा में ही सार्थक है*। इसीलिए मुझे गतिरोध से भयभीत होने की आवश्यकता दिखलाई नहीं देती। गतिरोध यही इंगित करता है कि प्रयोग की नवीनता नष्ट हो गई है, विद्रोह सर्वमान्य बनकर नई परम्परा बन गया है। फलतः नवीन मेधा उसके प्रति आशंकित है और नये मार्ग खोजना चाहती है। हम जिस त्वरापूर्ण युग में जी रहे हैं उसमें कोई भी काव्य-पीढ़ी बीस वर्ष से आगे नहीं चल पाती और हम अपने जीवन-काल में ही कई पीढ़ियाँ जी लेते हैं। यदि यह बात सत्य है तो न गतिरोध से डरने की आवश्यकता है, न प्रयोग से। *दोनों काव्य विकास के दो छोर हैं। काव्य का सत्य इन दो अतियों के बीच में अवस्थित मिलेगा।*

प्रश्न यह है कि काव्य के क्षेत्र में प्रगति का क्या तात्पर्य है? काव्य कला है और कला के श्रेष्ठ आयाम परिपूर्ण होने के कारण विकासबद्ध नहीं हैं। फलतः काव्य के क्षेत्र में प्रगति का अर्थ यह नहीं है कि हम आज तुलसी, सूर या बिहारी से श्रेष्ठतर काव्य का सृजन कर रहे हैं। प्रगति का अर्थ यही हो सकता है कि हम विभिन्न युगों तथा संवेदन-भूमियों की श्रेष्ठतम कलाकृतियों की ऊँचाई तक पहुँचने का उपक्रम कर रहे हैं। जब हम उस ऊँचाई पर पहुँच जायेंगे तो फिर शेष सारे प्रयत्न असार्थक और बेमाने बन जायेंगे, जैसे 'कामायनी' पर पहुँच कर छायावाद व्यर्थ हो गया। इसी व्यर्थता में किसी भी काव्यान्दोलन की सार्थकता है। अतः प्रगति समानान्तर या समान ऊँचाई की कृतियों के निर्माण में दिशा-निर्देश मात्र है। श्रेष्ठ कलाकृति परिणति है, अतः वह विकासोन्मुख नहीं हो सकती, परन्तु उसमें नये कला-विकास के बीजांकुर अनिवार्य रूप से रहते हैं। प्रगति के इच्छुक कवि इन्हीं बीजांकुरों को ग्रहण करें तो प्रयोग परम्परा के प्रति विद्रोह न होकर विकास का रूप ग्रहण कर लें। सच तो यह है कि युग के साथ काव्य के उपकरण बदल जाते हैं और नई कला-चेतना इन नए उपकरणों के भीतर से ही युग की श्रेष्ठतम कृति देने का उपक्रम करती है। नए कला-मानों, प्रतीकों, भाषा-व्यूहों तथा काव्य-रूपों के अनुसार नवीन श्रेष्ठतम कलाकृति पूर्ववर्ती कृतियों से भिन्न लगती है परन्तु उसे किसी भी अर्थों में पूर्व कृतियों का विकास नहीं कहा जा सकता। उसकी

सार्थकता यही है कि वह नवीन भावबोध के भीतर से आई है, परन्तु अपने युग की कला का श्रेष्ठतम एवं सर्वोच्च सोपान होने के कारण वह पिछले युगों की कला के श्रेष्ठतम एवं सर्वोच्च सोपानों के समानान्तर या समकक्ष ही हो सकती है। हिमालय के अनेक शिखरों का अपना स्वतन्त्र, निरपेक्ष तथा समकक्षीय सौन्दर्य है। उन्हें पूर्वापर अथवा तुलनीय नहीं कहा जा सकता। प्रगति इसी स्वतन्त्र, निरपेक्ष तथा समकक्षीय काव्य-शिखर के निर्माण में सार्थक है। 'वाद' के भीतर से प्रगति को नहीं देखें, कला, सौन्दर्य तथा संवेदन के भीतर से प्रगति को देखें। इसी प्रकार हम 'प्रयोग' को परम्परा के प्रति विद्रोह ही नहीं मानें, उसे प्रगति के निरन्तर गतिमान चरण-चिह्नों के रूप में देखें। हमारे प्रयोग पीछे मुड़कर परम्परा को देखते रहें और उनसे प्रेरणा, शक्ति तथा सौन्दर्य का पाठ ग्रहण करते रहें। प्रयोगों के भीतर से हम भविष्यत्कामी बनें, परन्तु जातीय मानों की अन्तरंगी चेतना हमारे नवीन प्रयत्नों को निरंतर सूत्रबद्ध करती चले। यों हम परम्परा, प्रयोग तथा प्रगति में गतिशीलता का स्वस्थ नैरंतर्य विकसित कर सकेंगे। मात्र परम्परा-साधना शवोपासना है, मात्र प्रयोग वयःसंधिक हलचल है, मात्र प्रगति वस्तुहीन होने के कारण निरर्थक है। आवश्यकता इस बात की है कि हम परम्परा को जीवित इकाइयों के रूप में ग्रहण करें, हमारे प्रयोग क्रमशः प्रौढ़ता प्राप्त करें और हमारी प्रगति अर्थवान् तथा स्थायी हो। वर्त्तमान पर खड़े होकर हम एक ही परिप्रेक्ष में भूत और भविष्यत् को देख सकें, पूर्वापर को ग्रहण कर सकें, क्योंकि श्रेष्ठ कवि तथा श्रेष्ठ कृति में कालांतर नष्ट होकर ही सार्थकता को प्राप्त होता है।

(२)

इस भूमिका पर हम पिछले तीस वर्षों के काव्य को लें तो स्थिति विचारणीय लगती है। १९३६ में हमारे काव्य और साहित्य ने राष्ट्रवाद, छायावाद तथा रहस्य-वाद की प्रथित भूमियों से हटकर नया मोड़ लेना चाहा। नये मूल्यों का सृजन हुआ। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, यथार्थवाद आदि के रूप में नई प्रवृत्तियों का विकास हुआ। पिछले महायुद्ध के आरम्भ तक परिवर्त्तन के चिह्न स्पष्ट हो गये थे। तीस वर्षों से हम प्रयोगी और प्रगतिबद्ध हैं। हमने परम्परा को चुनौती दे रखी है और उससे केवल मात्र अस्वीकार का सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। हम भविष्यत्‌धर्मी भी नहीं हैं क्योंकि देश के नवनिर्माण के प्रति हम आस्थावान नहीं हैं। हम केवल वर्त्तमान में जीते हैं और हमारा वर्त्तमान भी कितना है,—उतना जितना 'क्षण' में बँध सके। प्रश्न उठता है कि 'क्षणवादी' बनकर हम क्षयवादी तो नहीं बन गये हैं क्योंकि स्वस्थ मनुष्य की तरह स्वस्थ काव्य भी अपनी सुरक्षता के लिए इतना आग्रही नहीं होता कि इस क्षण का यही स्पन्दन उसके लिए सब कुछ हो जाये। सोचें कि हमें अपने प्रति आस्था क्यों नहीं है, क्योंकि युग के प्रति आस्था अपने प्रति आस्था का ही दूसरा नाम है। यहाँ मैं देश, वर्ग (मध्यवर्ग) और मानव-मात्र के प्रति जवाबदेही की बात नहीं उठाता, कवि और कलाकार के धर्म के प्रति जागरूकता की बात कहता हूँ। भंगुर क्षण को पकड़ना क्या कोई धर्म बन सकता है,

और क्षणभंगुरता को लेकर क्या हम युग के श्रेष्ठतम काव्यबोध की सृष्टि कर सकते हैं। 'और बाजार से ले आये अगर टूट गया' वाले मिरजा गालिब के 'जामे सिफ़ाल' (मिट्टी के पात्र) की सार्थकता तो समझ में आती है और सम्भव है कि हम जमशेद की भाँति सर्वदर्शी और अभिजाती बनना नहीं चाहें, परन्तु टूटने वाले प्याले के प्रति हमारा मोह (या आग्रह) क्या नए परिवेश में हास्यास्पद और क्षयिक नहीं है? यह स्पष्ट है कि निरन्तर विद्रोही और प्रयोगी बने रहने में कोई सार्थकता नहीं है। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता की त्रिभंगी मुद्रा में पर्याप्त आकर्षण रहा है, यह हम स्वीकार करते हैं, परन्तु क्या इन मुद्राओं से थकने का समय अभी नहीं आया है? हम प्रश्न कर चुके हैं। हमें समाधान चाहिये। राजनीति और समाज-नीति के समाधान कला-क्षेत्र के समाधान नहीं कहे जा सकते। वे हमें अपने मन्त्रियों के अभिभाषणों और उद्घाटन समारोहों के विवरणों में मिल ही जाते हैं। परन्तु हमारे कवि क्या मौन ही रह जायेंगे और हमारा कलाकार क्या परिवेश पर हावी नहीं हो सकेगा? क्या नया कवि-कलाकार इस चुनौती को स्वीकार करेगा? प्रसाद जी ने अतीत की भाषा में 'कामायनी' के रूप में अपने युग का समाधान हमें दिया था। क्या भविष्यत् की भाषा में हमारे अपने युग का कोई समाधान संभव नहीं है? इस प्रश्न से हम कब तक बचेंगे?

आप यह पूछ सकते हैं कि इस प्रश्न में परम्परा कहाँ आती है। परन्तु यह प्रश्न सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक है। श्रेष्ठतम कृतियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भविष्यद्रष्टा कवि और कलाकार परम्परा से रस ग्रहण करते रहे हैं। समाधानों के लिये नहीं, प्रेरणा के लिये, अपनी सौन्दर्य चेतना को परिष्कृत करने के लिये, प्रौढ़ता के विभिन्न स्तरों से परिचित होने के लिए और उस कण्ठस्वर से अपना कण्ठस्वर मिलाने के लिए जो कवि को पैगम्बर से भी बड़ा बना देता है। और कलाकार को मानवीय चेतना के मूर्धन्य पर पहुँचा देता है। युग की श्रेष्ठ कृतियों में मानवीय कला-चेतना की निरन्तरता परम्परा के सूक्ष्म बोध से ही प्राप्त होती है। १६३६ से पूर्व भी हिन्दी के पास बहुत कुछ सुन्दर, साहसपूर्ण और ग्रहणीय था, ऐसा शायद नया कवि नहीं मानता। इसीलिए उसकी रचनाएँ पल्लवजीवी बन गई हैं। उनकी लाजवंती मुद्रा में क्षयी सौन्दर्य के दर्शन कर हम अभिभूत हो जाते हैं। सौन्दर्य बोध के गम्भीर, स्थायी तथा व्यापक क्षेत्रों को ये रचनाएँ नहीं छूतीं। फलतः नित्य-नवीन मूल्यों का सृजन कविधर्म बन गया है। मूल्यों की यह होड़ काव्य-जगत में अराजकता को जन्म देती है और बुद्धिवाद के नाम पर वैचित्र्य बिकता है।

समय आ गया है कि हम प्रगति और प्रयोग को नये अर्थ दें और परम्परा को लांछा से ऊपर उठाकर उसमें राष्ट्रीय चेतना का विकासमान तथा निरन्तरीय स्पन्दन उद्घटित करें। तभी हमारी 'नयी कविता' में रौंदे हुए इन्द्रधनुष, इस्पाती वज्र बनकर सार्थकता को प्राप्त हो सकेंगे और हमारा अप्रस्तुत मन प्रस्तुत प्रश्नों का समाधान प्राप्त कर मूर्तिमान बनेगा।

: ८ :

महत् काव्य

हमारे यहाँ 'महाकवि' शब्द प्रचलित है और महाकाव्य के लक्षणों के सम्बन्ध में पूर्व-पश्चिम दोनों दिशाओं में आचार्यों ने विस्तारपूर्वक अपनी मान्यताएँ उपस्थित की हैं। साधारणतया यह माना जाता है कि महाकवि वह है जो महाकाव्य का सृजन करता है। कालीदास, तुलसीदास, माघ, भारवि, माइकेल, मधुसूदन दत्त आदि इसी पर्याय से महाकवि कहे जाते हैं। ये सभी महाकाव्यकार हैं और इनके महाकाव्यों को हम पूर्वी-पश्चिमी मान्यता पर परख सकते हैं। इन मान्यताओं में अन्तर है परन्तु महाकाव्य के महान् उद्देश्य, महत् जीवनादर्श, धीरोदात्त नायक और व्यापक सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक परिवेश के सम्बन्ध में मतैक्य है। पूर्व में महाकाव्य के शिल्प पर ही अधिक विचार हुआ है और पश्चिम में उसकी आन्तरिक प्रकृति तथा जीवंत शक्ति को अधिक महत्त्व मिला है। परन्तु यहाँ उद्देश्य भिन्न है, अर्थात् 'महत् काव्य' का विवेचन महाकाव्य निश्चय ही महत् काव्य का चरमोत्कर्ष है, परन्तु महत् काव्य शब्द महाकाव्य से व्यापक काव्यभूमि प्रस्तुत करता है।

तो, यह 'महत् काव्य' क्या है? काव्य के ऐसे कौन-से तत्त्व उसमें मिलेंगे जो उसे महार्घता प्रदान करें? यह 'महत्ता' क्या महाकाव्य और गीतिकाव्य में समान रूप से लागू होगी? क्या किसी कवि का समस्त काव्य 'महत् काव्य' हो सकेगा, या कवि की प्रतिनिधि रचनाओं के आधार पर हम उसे 'महत् कवि' कहेंगे? महत् काव्य के उपकरण क्या हैं और उनका कवि-प्रतिभा और सांस्कृतिक निष्ठा से क्या सम्बन्ध है? क्या 'महत् काव्य' की भाँति 'अणु काव्य' की भी कल्पना की जा सकती है?

इलियट ने अपने एक निबन्ध में महत् काव्य के सम्बन्ध में लिखते हुए यह स्थापना की है कि महत् काव्य वही है जिसके थोड़े-से परिचय के उपरान्त ही हम उसके अधिक के प्रति आग्रही हो उठें और यह अधिक हमें काव्य तथा कवि के सम्बन्ध में नई, महत्त्वपूर्ण और उत्तरोत्तर उत्कर्षमयी अनुभूति दे सके। यह आवश्यक नहीं है कि महत् कवि की प्रत्येक रचना समान रूप से महत् हो, परन्तु आनुपातिक दृष्टि से उसका श्रेष्ठ काव्य होना अनिवार्य है। परन्तु वे तत्त्व कौन हैं जो काव्य को महत् बनाते हैं।

महत् काव्य के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप 'महाकाव्य' (एपिक) को लें तो उसमें ये तत्त्व अनिवार्यतः मिल जावेंगे।

(१) महदुद्देश्य तथा महत्त्वप्रेरणा।
(२) महती काव्य-प्रतिभा।

(३) गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व।
(४) सुसगठित जीवन्त कथानक।
(५) महत्त्वपूर्ण नायक।
(६) गरिमामयी उदात्त शैली।
(७) तीव्र प्रभावान्विति और गम्भीर रसव्यजना।

इनमे से (४) और (६) शिल्प से सम्बन्धित हैं, (५) महाकाव्य की वस्तून्मुखी प्रकृति और सास्कृतिक चेतना की उपज है, (३) है महाकाव्य को 'क्लासिक' बनाने वाली मर्यादा और सयम की भावना। महद्‌दुद्देश्य एव महत्प्रेरणा महाकाव्य को उदात्त जीवनदृष्टि देते हैं और उसे व्यापक सास्कृतिक मूल्यों से सम्बन्धित करते हैं। शेष उपकरण गीतिकाव्य पर भी लागू होते हैं। महती काव्य-प्रतिभा, तीव्र प्रभावान्विति और गभीर रसव्यजना। एक प्रकार से इन्हें हम काव्य का मूलतत्त्व कह सकते हैं क्योंकि शेष का सम्बन्ध महाकाव्य के शिल्प तथा रूपात्मक वैशिष्ट्य से है। गीतिकाव्य का अपना शिल्प तथा रूपात्मक वैशिष्ट्य है जो निःसदेह महाकाव्य से भिन्न होगा। परन्तु इस महती प्रतिभा को पहचानें कैसे? तीव्र प्रभावान्विति और गम्भीर रस-व्यजना इस महती प्रतिभा के सूचक चिह्न अलबत्ता हो सकते हैं परन्तु नवनवोन्मेषिनी काव्यप्रतिभा की विशेषता यह भी है कि अनुभूति के अधनन अपरिचित एव अग्रहीत पार्श्वों को पकड़ती है और उसे सतह से नहीं, बड़ी गहराई पर जाकर अभिव्यजित करती है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि श्रेष्ठता का आधार रुचि हो जाती है और पाठकों (सहृदयो) की रुचि में भेद होना अनिवार्य है।

इसमे सन्देह नहीं कि 'महत् काव्य' की कोई अकाट्य, त्रिकाल सत्य परिभाषा नहीं दी जा सकती। अन्त मे सहृदय, पाठक या काव्यरसिक ही काव्य की श्रेष्ठता का मानदण्ड बन जाता है और वही काव्य के 'महत्' का निर्णायक होगा।

महाकाव्य से उतर कर महत् काव्य की अनेक भूमियाँ कल्पित हो सकती हैं। वास्तव मे महाकाव्यत्व और गीतिकाव्यत्व दोनो भूमियों पर ही महत् काव्य की सृष्टि सम्भव है। काव्यरूप एव शिल्प के भेद के कारण कोई रचना महाकाव्य या गीतिकाव्य है परन्तु उसका 'महत्' होना रूप अथवा शिल्प पर आधारित नहीं है क्योंकि 'महत्' काव्य का आभ्यन्तरिक गुण है, ऊपर से लादी चीज वह नहीं है। यह 'महत्' 'उदात्त' का रूप ले सकता है जैसा लाजिनस को मान्य है और 'नम्ण' का भी जैसा प्रगीतकाव्य मे। महत् की दौड परुष तथा कोमल रसो मे समान रूप से है। यह भी आवश्यक नहीं है कि महत् काव्य सुविस्तृत हो क्योंकि महाकाव्य के दीर्घ विस्तार के साथ उसमे गीतिकाव्य की नातिदीर्घ रचनाएँ भी समाहित होगी। परन्तु सम्पूर्ण, परिपक्व और तीव्र प्रभाव की व्यजना के लिए महत् रचना को भावपूर्ण और सवेदनशील होना होगा। महत् काव्य समान रूप से अपनी उत्कर्षमयी काव्यभूमि पर स्थिर रहेगा यद्यपि उसकी अभिव्यक्ति भावानुकूल नये और सूक्ष्म स्वरूप ग्रहण करेगी।

प्रश्न यह है कि क्या महत् काव्य के रचयिता के लिए 'महाकवि' का विरुद उचित होगा? महत् कवि महाकवि हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने किसी महाकाव्य की सृष्टि नहीं की परन्तु वे निश्चय ही महाकवि हैं। स्वयं उन्होंने अपनी एक कविता में बड़े व्यंग से अपने महाकवि बनने के स्वप्न को खण्डित होने की बात कही है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक महत् कवि अनिवार्यतः महाकवि हो। अधिक-से-अधिक हम उससे यह चाहेंगे कि वह अपनी उत्कर्षमयी काव्यभूमि पर निरन्तर टिका रह सके और उसकी रचनाओं में निम्न काव्यभूमियाँ काम आएँ। एक ही युग में अनेक महत् कवि सम्भव है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक युग अथवा पीढ़ी में महाकवि अवश्य हो। सम्पूर्ण रीतियुग में कोई भी महाकवि हमें नहीं मिलेगा परन्तु केशव, बिहारी, मतिराम, पद्माकर, घनानन्द जैसे अनेक महत् कवि मिल जायेंगे और तुलसीदास के काव्य में अधिकांश काव्य 'महत्' की भूमि पर ही मिलेगा यद्यपि उसमें चरमोत्कर्ष अर्थात् महाकाव्यत्व की स्थिति रामचरितमानस को ही प्राप्त हुई है।

इस विवेचन में मुक्तककार की अवस्थिति कहाँ है ? सूक्ति अथवा सुभाषित की अपनी लम्बी परम्परा है परन्तु इसे हम उत्कृष्ट काव्य की कोटि में नहीं रख सकेंगे। सूक्ति में वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता है। वह हमारे ज्ञानकोश को ही अधिक छूती है, उसमें रस की व्यंजना भी सम्भव है परन्तु यह व्यंजना कदाचित् ही स्वारस्य अथवा समरसत्व को प्राप्त हो सके। कथा अथवा प्रगीत की सुविस्तृत और मांसल योजना में जिस कोटि की रस-निष्पत्ति सम्भव है उस कोटि की निष्पत्ति 'पूर्वापर विच्छिन्न' मुक्तक में अलभ्य रहेगी। अतः मुक्तक को हम 'किंचित् काव्य' ही कह सकेंगे। यह महत् काव्य से नीचे उतर कर वाग्वैदग्ध्य की भूमि है। यदि वह महत् काव्य बनता है, जैसा बिहारी या मतिराम के काव्य में, तो उसके लिए कलाचेतना, सांस्कृतिक प्रौढ़त्व तथा उत्कृष्ट भावबोध का होना आवश्यक है। रीतिकाल के कितने कवि अथवा संस्कृत तथा अपभ्रंश के कितने सुभाषित इस आवश्यकता की पूर्ति कर सके हैं।

'महत् काव्य' और 'किंचित् काव्य' के बीच में भी काव्य की बड़ी विस्तृत भूमि है जो परम्परा के वाहक अनेक सामान्य कवियों से भरी है। ये सामान्य कवि अपनी सामान्यता में भी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इनमें युग-मानस का अविच्छिन्न, अबाधित और स्पष्ट चित्र मिलता है। इनका अपना ऐतिहासिक महत्त्व है क्योंकि इन्हीं के तप से महाकवियों का जन्म होता है। इनकी सामान्यता ही महाकवियों को विशेषत्व प्रदान करती है। नवीनता एवं मौलिकता के प्रति आग्रह इन कवियों की दुर्बलता नहीं है। इनकी असंतुलित रचनाओं में भी कभी-कभी हमें प्रतिभा की ज्योति दिखलाई पड़ सकती है, परन्तु उत्कृष्ट काव्यभूमियों पर निरन्तर संचरण महाकवि का ही काम है।

• ६

निर्वैयक्तिक काव्य

नई कविता के कवियों और समीक्षकों ने यह आवाज उठाई है कि कविता निर्वैयक्तिक हो, उसमें कवि की व्यक्तिगत अनुभूति की स्वतन्त्र, स्वनिष्ठ तथा ऊर्जस्वित वाणी नहीं मिले, वरन् वह परम्परा के भीतर से छन कर आये। इसे हम छायावाद काव्य के प्रति प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं जिसमें कवि का व्यक्तित्व कविता की पहली शर्त बन गया था। 'मैंने मैं-शैली अपनाई' पंक्ति में निराला ने इसी सत्य को उद्‌घाटित किया था। निजी दृष्टिकोण पर ही नहीं, निजी अनुभूति पर भी बल था। निराला के काव्य का प्रचण्ड ओज, पंत का मसृण-ममृण मधुर स्वर, प्रसाद का अभिजात्य और रसमय संवेदन तथा महादेवी का नारी-सुलभ विरह-गांभीर्य छायावादी काव्य के व्यक्तिगत पक्ष के प्रमुख तत्त्व हैं। बच्चन की रचनाओं में यह व्यक्तिमत्ता अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई है। छायावादी काव्य में वेदना की विवृति व्यक्तिगत भूमि पर ही हुई है और उसमें विषाद तथा अवसाद से लेकर आत्मघाती दुश्चिंतनाओं तथा आलंकारिक रुदनशीलता तक का प्रसार है। यह कहा जा सकता है कि कवि का व्यक्तित्व ही उसकी बीन बन गया है। इसी बाँसुरी में वह अनुभूतियों की फूँक भर कर उत्कृष्ट राग-रागिनियों की सृष्टि करता है। परन्तु पिछले दिनों में काव्य का स्वर बदल गया है और कवियों ने व्यक्तित्व के प्रकाशन में संकोच प्रगट किया है। कविता सबकी बीन बने, कवि की ही बीन वह क्यों हो, यह कहा गया है और इसका फल यह हुआ है कि नया काव्य आत्मसंकोची, भीरु तथा अनुभूति-विरल है। वक्तव्य मात्र को ही कविता माना जाने लगा है। निजत्व को दबा कर ही कवि कविता लिखने बैठे, ऐसा आग्रह है और इसी के लिए साधना की आवश्यकता बतलाई गई है। निर्विशेषत्व का यह आग्रह काव्य को यान्त्रिक, निर्जीव और तटस्थ बना देता है और वह बौद्धिक आलेखन मात्र बन जाता है।

इस सम्बन्ध में इलियट की दुहाई दी गई है और उन्हें निर्वैयक्तिक काव्य का पुरस्कर्ता एवं आग्रही समीक्षक माना गया है। १९१९ के उत्तरार्द्ध में इलियट ने अपना एक निबंध 'ट्रेडीशन एण्ड द इंडिवीजुअल टैलेण्ट' एक प्रसिद्ध मासिक पत्र 'ईगोइस्ट' में प्रकाशित कराया था। इस निबन्ध में उन्होंने श्रेष्ठ काव्य की परम्परा-बद्धता और निर्वैयक्तिकता पर पहली बार आग्रह प्रगट किया था। इलियट के शब्दों में 'कला परम्परा के प्रति कवि का आत्मसमर्पण है और कवि को निरंतर अपने व्यक्तित्व का बलिदान करना पड़ता है। व्यक्तित्व का निरंतर क्षरण ही काव्य

है।'[1] इसे उसने 'व्यक्तित्व-क्षरण की प्रक्रिया' (द प्रॉसेस ऑव डी-परसनलाइजेशन) कहा है। इस प्रक्रिया के द्वारा कला विज्ञान की भूमिका के निकट आ जाती है। इस सम्बन्ध में इलियट ने कवि को 'उत्प्रेरक (केटेलटिक एजेण्ट) माना है और एक विशिष्ट रासायनिक प्रक्रिया की ओर संकेत किया है।'[2] इस प्रकार इलियट ने 'इम्परसनल थ्योरी आव पोइट्री' (निर्वैयक्तिक काव्य-सिद्धान्त) के रूप में कविता तथा कवि-कर्म के सम्बन्ध में एक नई मान्यता का आविष्कार किया जिसके पक्ष ये थे :

(१) काव्य का वास्तविक स्वरूप समष्टिगत है और प्रत्येक रचना को परम्परा का स्पष्ट एवं मूलगत ग्रहण आवश्यक है।

(२) रचना का कवि से माध्यम का सम्बन्ध है। कवि अनुभूति को रचना का रूप देता है, अर्थात् अनुभूति उसमें छन कर काव्य का रूप ग्रहण करती है परन्तु वह स्वयं अविकारी रहता है तथा अपने व्यक्तिगत का कुछ भी रचना को नहीं देता। इलियट यह मानते हैं कि कवि का मन अंशतः या पूर्णतः व्यक्ति-कवि के अनुभवों तथा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हो सकता है, परन्तु परिपूर्ण कलाकार वेदनाशील व्यक्ति और सर्जक मन में विभाजक रेखा बना लेता है और संवेदनाओं की धूल को रसानुभूति के सोने के कण में बदल देता है।[3]

(३) कला का आनन्द सामान्य (इन्द्रियजन्य) आनन्द से भिन्न कोटि की वस्तु है। उसके निर्माण में एक अनुभूति या अनेक अनुभूतियों का योग हो सकता है और शब्दों, वाक्यांशों तथा प्रतिमानों में आबद्ध संवेदनाएँ उसे पूर्णता देती है।[4]

(४) इलियट काव्य के प्रेरक तत्त्व के दो भेद करते है : रसात्मक संवेदना (इमोशन) और भाव (फ़ीलिंग)। केवल भाव के आधार पर भी श्रेष्ठतम काव्य

---

1. What heppens is a continual surrender of himself as he is at the moment to something which is more valuable. The progress of an artist is a continual self-sacrifice, a continual extinction of personality. (T. S. Eliot: Tradition and the Individual Talent *Selected Prose* p. 26)

2. There remains to define this process of depersonalisation and its relation to the sense of tradition. It is in this depersonalisation that art may be said to approach condition of science. I, therefore, invite you to consider, as a suggestive analogy. The action which takes place when a bit of finely filiated platinum is introduced into a chamber containing oxygen and sulphur di-oxide. (*Ibid*, p. 26)

3. The mind of the poet is the shred of platinum. It may partly or exclusively operate upon the experience of man himself; but the more perfect the artist, the more completely seperate in him will be the man who suffers and the mind that creates; the more perfactly will the mind digest and transmute the passions which are its material. (*Ibid*, p. 27)

4. The effect of a work of art upon the person who enjoys it is an experience difference in kind from any experience not of art. It may be formed out of one emotion, or may be a combination of several; and various feelings, inhering for the writer in particular words or phrases or images, may be added to compose the final result. (*Ibid*)

की सृष्टि हो सकती है।[5]

(५) इलियट अनुभूति की अपेक्षा शिल्प को अधिक प्रधानता देते हैं क्योंकि उसी के द्वारा कवि के मन में गृहीत और सुरक्षित भावनाएं, संवेदनाएं, वाक्यांश, प्रतिमान आदि मिल कर नए मनोयोग को प्राप्त होते हैं। कविता की उत्कृष्टता अनुभूति की तीव्रता पर आधारित न होकर सर्जन-प्रक्रिया की तीव्रता पर निर्भर है।[6] इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि कवि के पास वाणी देने के लिए व्यक्तित्व नहीं होता, एक निश्चित माध्यम होता है जिसमें अनुभवों तथा अनुभूतियों का विचित्र तथा अप्रत्याशित योग अभिव्यक्ति पाता है। कवि के वास्तविक जीवन के सुख दुःख, राग द्वेष उसके काव्य में वाणी नहीं पाते।[7]

(६) कविता व्यक्तिगत अनुभूति के कारण महत्वपूर्ण नहीं बनती, अपने द्वारा व्यक्त अनुभूति की संश्लेषणात्मकता के कारण महान होती है परन्तु इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि कवि की अपनी अनुभूति भी संश्लिष्ट अथवा असामान्य हो। अतः नई संवेदनाओं की खोज कवि के लिए आवश्यक नहीं है। उससे बहुधा विकृतियों का जन्म होता है।[8]

(७) इलियट वर्ड्स्वर्थ के सिद्धान्त कि कविता 'प्रशांत क्षणों में संवेदना का पुनर्निर्माण' (इमोशन रिकलेक्टेड इन ट्रंक्वेलिटी) है, के भी विरोधी हैं। उनके विचार में कवि द्वारा अनुभूत संवेदना और काव्यगत संवेदना में एकदम प्रकारांतर है। वह काव्यसर्जन की प्रक्रिया को आन्तरिक, अतः निष्क्रिय, मानते हैं परन्तु उसमें चेतन मन की योजना के स्थान पर अवचेतन का कौशल रहता है। कविता का सर्जन नहीं होता, वह सर्जित हो जाती है और यह हो जाने की क्रिया अचेतन होने के कारण 'पुनस्मरण' के ढंग की वस्तु नहीं है। वह मानते हैं कि काव्य का एक महदांश

---

5 (or) great poetry may be made without the direct use of any emotion whatever : composed out of feelings solely (Ibid)

6 it is not the 'greatness' the intensity, of the emotions, the components, but the intensity of the artistic process the pressure, so to speak, under which the fusion takes place that counts (Ibid) the intensity of poetry is something quite different from whatever intensity in the supposed experience it may give the impression of (Ibid)

7 the poet has not a personality to express but a particular medium which is only a medium and not a personality in which impressions and experiences combine in peculiar and unexpected ways Impressions and experiences which are important in poetry may play quite a negligible part in the man the personality (Ibid, p 28)

8 It is not in his personal emotions the emotions provoked by particular events in life, that the poet is in any way remarkable or interesting His particular emotions may be simple or crude, or flat The emotion in his poetry will be a very complex thing, but not with the complexity of the emotions of people whom have very complex or unusual emotions in life (Ibid p 29)

चेतन एवं बुद्धिमूलक प्रक्रिया है।[9]

(८) अन्त में इलियट अपनी विचारधारा को इस बहुचर्चित सिद्धान्त में सूत्रबद्ध कर देते हैं: 'Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality.'[10]

इस प्रकार काव्य की एक परिपूर्ण व्याख्या सामने आती है। इस निर्वैयक्तिकता तक पहुँचने के लिए कवि को वर्त्तमान क्षण से ही नहीं, अतीत के वर्त्तमाननिष्ठ रूप से भी परिचित होना होगा क्योंकि अतीत एक अंश में वर्त्तमान में भी जीवित है और उसका जीवंत सम्पर्क कवि को अनुप्राणित करेगा।[11]

ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि इलियट का परम्परा के प्रति आग्रह ही उनके निर्वैयक्तिकता सम्बन्धी सिद्धान्त के मूल में है। परम्परा का अर्थ है अतीत और उस अतीत को आत्मसात् करने के लिए कवि के लिए अपने सीमित व्यक्तित्व से ऊपर उठना आवश्यक है। अतः व्यक्तित्व का बाध इलियट का काव्य-दर्शन बन जाता है। व्यक्तित्व के निर्माण मे रागात्मिकता की प्रधानता है। इसीलिए इलियट रागात्मिकता से भी छुटकारा पाना चाहते है और शिल्प को काव्य के केन्द्र में रख देते है।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या कवि का एकदम निर्वैयक्तिक होना सम्भव है। क्या यह सिद्धान्त वस्तुन्मुखी काव्य और प्रगीतकाव्य दोनों पर लागू हो सकता है? क्या इसमें स्वयं इलियट की काव्यप्रवृत्तियों की प्रतिध्वनि नहीं है? इसे हम सार्वभौमिक काव्यप्रक्रिया कैसे मान लें? क्या निर्वैयक्तिक होने से ही कोई काव्य बड़ा हो जाता है, आदि-आदि? हिन्दी में अज्ञेय इलियट की इस विचारधारा के सबसे बड़े समर्थक हैं। 'त्रिशंकु' (१९३९) में उन्होंने इलियट के इस प्रसिद्ध निबन्ध का रूपान्तर प्रस्तुत किया है और 'केशव की कविताई' वार्त्ता में केशव की कविता को उसी तरह निर्वैयक्तिक मान कर उसकी प्रशंसा की है जिस प्रकार इलियट ने डॉने, काउा आदि दार्शनिक (मेटाफ़िज़िकल) कवियों का पुनर्मूल्यांकन करते हुए। इसके बाद भी 'तार सप्तक' के वक्तव्य तथा अन्य स्थलों पर उन्होंने इस नई धारणा को निरन्तर साधुवाद दिया और उनकी मुद्रा से मूल्यांकित होकर यह सिक्का नए कवि-समाज में बहुत दिनों से चल रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि निर्वैयक्तिकता के इस सिद्धान्त की व्यापक रूप से विवेचना हो और उसकी

9. ...we must believe that 'emotion recollected in tranquillity' is an inexact formula. For it is neither emotion, nor recollection, nor, without distort of meaning, tranquillity. (Ibid.)

10. Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion; it is not the expression of personality. (Ibid. p. 30)

11. The emotion of art is impersonal. And the poet cannot reach this impersonality without surrendering himself wholly to the work to be done. And he is not likely to know what is to be done unless he lives in what is not merely the present, but the present moment of the past, unless he is conscious, not of what is dead, but of what is already living. (Ibid.)

एकांगिता पर विचार किया जाये।

इलियट की इन स्थापनाओं को हम एक-एक करके लेंगे

(१) यह मानना कि काव्य का रूप समष्टिगत है हमारी वैज्ञानिक बुद्धि को तुष्ट अवश्य करता है परन्तु उसकी प्रकृति पर इस मान्यता से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इलियट का कहना है कि कविता में कवि की व्यक्तिगत उपलब्धि समष्टि से तादात्म्य स्थापित कर तथा उसका अंग बन कर ही सार्थक है। इलियट ने अपने काव्य में परम्परा को अपने ही भोंडे रूप में स्थूलतः आत्मसात् किया है। वह पुरातन प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध कवियों के शब्दों, वाक्यांशों, सूक्तियों एवं पात्रों को सप्रयास अपने काव्य में सदर्भित एवं ध्वनित करते रहे हैं। परन्तु परम्परा का यह उपयोग काव्य को कहाँ तक संवेदनीय और सुन्दर बनाता है, यह नहीं कहा जा सकता। पूर्वाजित ज्ञान का विस्तृत उपयोग कालीदास-तुलसीदास प्रभृति कवियों के काव्य में मिलता है परन्तु वह ऊपर से आरोपित न होकर अन्तरंगी बन कर आया है। ज्ञान विज्ञान कवि के दृष्टिकोण को प्रभावित करें तो बुरा नहीं है परन्तु उसका स्वरूप केवल बुद्धिमूलक और आरोपमूलक न होकर उससे कुछ अधिक क्यों न हो। श्रेष्ठ काव्य में, विशेषतः महाकाव्य अथवा खण्डकाव्य में, पुरातन संदर्भों एवं नवीन ज्ञान विज्ञान का सार्थक एवं साभिप्राय उपयोग होता है और वह काव्य को सम्पन्न बनाता है। इलियट का काव्य परम्परा के रस को ग्रहण नहीं करता, परम्परा की भ्रांति मात्र देता है।

(२) अनुभूति और रचना के बीच में कवि निर्विकार तटस्थ माध्यम मात्र है, यह मान्यता उस आदर्शवादी-रोमांटिक दृष्टिकोण से भिन्न नहीं है जो कवि को परोक्ष की बीन मानती है। इसमें काव्य की अवचेतनीय प्रकृति का ही अधिक आग्रह है परन्तु कवि की सविशेष समाधि में मन के सभी स्तर समान रूप से जाग्रत और क्रियमाण रहते हैं और उनमें लोकोत्तर रस की भूमि में उच्चतर योगायोग स्थापित होता है। कवि केवल निष्क्रिय और तटस्थ माध्यम ही नहीं है, स्वयं द्रष्टा और स्रष्टा है। अतः उसमें अनुभूतियों तथा प्रेरणाओं को नई संहृति देकर उन्हें उच्चतर भूमियों पर पहुँचाने की क्षमता है। इलियट का सिद्धान्त केवल अवचेतनीय काव्य की व्याख्या कर सकेगा, संपूर्ण काव्य-प्रक्रिया को अभिव्यक्ति नहीं दे सकेगा।

(३) कला का आनन्द विशिष्ट, असामान्य अथवा लोकोत्तर है, यह भारतीय काव्यचिंतन भी मानता है परन्तु यहाँ उसे शब्दों, ध्वनियों और प्रतीकात्मक व्यंजनाओं पर अवलम्बित नहीं किया गया है। रस के स्रोत भिन्न हैं।

(४) केवल रस ही नहीं, भाव भी उत्कृष्ट काव्य का विषय बन सकता है, यह ध्वनिकार ने माना है और रसध्वनि अथवा रस को व्यंजित होने की शक्ति के रूप में इसकी व्याख्या की है। इस सम्बन्ध में भारतीय काव्य-दर्शन और इलियट की विचारधारा में विशेष भेद नहीं है, परन्तु इलियट जिसे 'उत्तेजन' और 'संवेदन' कहता है उनके भारतीय बोध में भेद हो सकता है।

(५) इलियट ने काव्य-संवेदन को इन्द्रियगत अनुभूति से भिन्न और उच्च माना है, जैसा भारतीय रसवाद भी मानता है, परन्तु अनुभूति को 'रस' की स्थिति

यथा केवल शब्द-प्रयोगों, प्रतीकों, काव्यात्मक ध्वनियों इत्यादि से मिलती है। निःसंदेह इलियट का यह सिद्धान्त चिन्त्य है और इसमें काव्यानन्द की सूक्ष्म भूमियों को बचा कर केवल वैज्ञानिक बुद्धि से प्रश्न के समाधान की चेष्टा स्पष्ट है।

(६) इलियट संवेदना के नवीन तथा सूक्ष्म तत्त्वों की खोज के पक्षपाती नहीं हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने 'शिल्प' को काव्यानन्द का मूल मान लिया है। पाल वलेर के अनुसार श्रेष्ठ कवि की विशेषता ही यह है कि वह नव्यतम अनुभूतियों और परम्परित अनुभूतियों के अस्पष्ट पक्षों को अनायास ही आत्मसात कर लेता है।

(७) वर्डस्वर्थ का सिद्धान्त भारतीय कल्पना के बहुत निकट है जो काव्यानंद को कवि की सविकल्प समाधि का आनन्द मानती है। यह समाधि भावात्मक अन्तर्प्रक्रिया है और आनन्दगर्भित होने पर भी तपःसाध्य है। वर्डस्वर्थ धारणा से आगे नहीं बढ़ते, परन्तु भारतीय चिंतक योग के अन्तिम सोपान पर पहुँच कर काव्यविषय से कवि के तादात्म्य (अहंकृति) की कल्पना करते हैं। इलियट काव्यसंवेदन को शिल्प से सम्बन्धित कर उसे अनिवार्यतः बौद्धिक बना देते हैं।

(८) इलियट के अनुसार काव्य भावोन्मुक्ति नहीं है, भाव-संवरण है। वह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति न होकर व्यक्तित्व का अतिक्रमण है। निश्चय ही इलियट भाव-संवेदन और व्यक्तित्व को निम्न कोटि की वस्तुएं मानते हैं और काव्य में उनका उपयोग करना नहीं चाहते। यह दृष्टि प्लेटो की काव्यदृष्टि से भिन्न नहीं है। इसे हम 'क्लासिकल' दृष्टि भी कह सकते हैं। परन्तु श्रेष्ठ कवि चेतन-अवचेतन उपकरणों को समान रूप से काव्य का विषय बनाते हैं और उनके पहचानने में गलती नहीं करते। यह स्पष्ट है कि इलियट की विचारधारा में वैज्ञानिकता, बुद्धिवाद तथा 'क्लासिकल' दृष्टिकोण का आग्रह है परन्तु अवचेतन को महत्त्व देकर उन्होंने काव्य के स्वच्छन्दतावादी स्रोतों को भी स्वीकार कर लिया है। अतः उनकी विचारधारा को हम नव्य-रोमांटिक काव्य की क्लासिकल एवं बुद्धिवादी व्याख्या मात्र मान सकते हैं। यह स्पष्ट है कि इलियट की ये उपलब्धियाँ संदेहहीन और अकाट्य नहीं हैं।

अपनी सद्यःप्रकाशित पुस्तक 'आन पोइट्री एण्ड पोएट्स' (१९५८) में इलियट ने 'यीट्स' शीर्षक निबन्ध में अपनी इस विचारधारा पर टिप्पणी की है जिससे यह जान पड़ता है कि वह स्वयं अपने 'काव्य-निर्वैयक्तिक' समीकरण से आश्वस्त नहीं हैं। उनका कहना है :

'There are two forms of impersonality : that which is natural to the mere skilful craftman, and that which is more and more achieved by the maturing artist. The first is that of what I called the 'anthology piece'......The second impersonality is that of the poet who, out of intense and personal experience, is able to express a general truth, retaining all the particularity of his experience, to make of it a general symbol.' (p. 255)

इस कथन के अनुसार अब इलियट शिल्प पर आधारित निर्वैयक्तिकता को निम्न कोटि की वस्तु मानने लगे हैं और रचना की आभ्यंतरिक निर्वैयक्तिकता को ऊँचा स्थान देते हैं। यह दूसरी कोटि की निर्वैयक्तिकता व्यक्तिगत अनुभूति की तीव्रता और

व्यापकता पर आधारित है जहाँ व्यक्तिगत अनुभूति निर्विशेष होकर सार्वभौमिक रूप धारण कर लेती है। स्पष्ट ही यह भावना हमारी साधारणीकरण की भावना से भिन्न नहीं है जिसे रस-बोध का मूल माना गया है। शिल्पगत निर्वैयक्तित्व से आभ्यंतर और व्यक्तित्वमूलक निर्वैयक्तित्व तक संक्रमण कवि के विकास का स्वस्थ चरण है, यह आज इलियट की मान्यता है। अभी भी वह निर्वैयक्तिकता सम्बन्धी अपनी पुरानी व्याख्या से पीछा नहीं छुड़ा सके हैं यद्यपि वह उसे शिल्पगत और चेतन मन की प्रक्रिया मान कर नीचा आसन देते हैं। यह स्पष्ट है कि काव्य की आन्तरिक सम्पन्नता के सम्बन्ध में इलियट का यह समझौता महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें व्यक्तित्व के संवरण का आग्रह नहीं है, उसकी अभिव्यक्ति व्यापक और सार्वभौमिक हो, ऐसी मान्यता है। कवि के हृदयस्पन्दन में ही सबका हृदयस्पन्दन समाहित हो जाय तो व्यक्तित्व क्षरित न होकर सम्पन्न, पुष्ट और प्रभावशाली बन सकेगा। नई कविता के आलोचक और नए कवि यदि इलियट की इस नई व्याख्या पर ध्यान दें तो स्वच्छन्दतावादी काव्य परम्परा से उनका सम्बन्ध विद्रोह का नहीं, विकास का होगा। फलतः वे सच्चे अर्थों में परम्परा को आत्मसात् कर सकेंगे और उनका काव्य बौद्धिक, संकल्पात्मक एवं दीर्घसूत्री न होकर स्वस्थ और सरस कवि-व्यक्तित्व का व्यापकतम प्रसार बनकर सार्थक होगा। नई कविता ने हृदय के रस स्रोतों पर प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। उन्हें उन्मुक्त करने पर ही हम नए काव्य की स्वस्थ परम्परा गढ़ सकेंगे।

: १० :

कवि का सत्य

कवि का सत्य क्या है ? क्या वह दार्शनिक, धर्मवेत्ता या वैज्ञानिक के सत्य से भिन्न है ? क्या वह केवल भावनात्मक है या उसमें वुद्धि का भी योग है ? इस कोटि के अनेक प्रश्न उठते हैं, परन्तु इन प्रश्नों पर विचर करने से पहले यह जानना उचित है कि प्रश्न की सीमाएँ क्या हैं। 'सत्य' हम किसे कहेंगे। पहले हमें इसे जानना होगा। यह सत्य क्या कोई शाश्वत वस्तु है, या क्षणिक अथवा विकासमान। फिर यह सत्य क्या व्यक्तिगत है, या समष्टिगत। दूसरे छोर पर यह भी स्थिर करना होगा कि हम किस युग के कवि की बात कर रहे हैं क्योंकि कवि के स्वरूप, मान तथा कर्म के सम्बन्ध मे निरन्तर मान्यता वदली है। इसमें सन्देह नहीं कि इस युग के लिए यह प्रश्न वड़े महत्त्व का है, क्योंकि यह युग कवि-सत्य की बात तो करता है परन्तु कवि को सत्य का दावेदार नही मानता। कवि के सम्वन्ध में उसके क्या विचार हैं, ये एक अंग्रेजी समीक्षक की इन पंक्तियों से सिद्ध हैं। 'मॉडर्न पोयट्री' (१९३९) में लुई मेकनीस (Loius Macneice) ने लिखा है : "I would have a poet able-bodied, found of talking, a reader of the newspapers, capable of pity and laughter, appreciative of women, involved in personal relationships, actively interested in politics, susceptible to physical impressions".

इस चित्र में पर्याप्त आधुनिकता और प्रगतिशीलता है। परन्तु इसकी सीमाओं पर भी विचार करना होगा क्योंकि इसी युग के एक दूसरे लेखक फ्रेन्सिस स्कार्फ (Francis Scarfe) ने अपने 'ऑडन एण्ड आफ़्टर' ग्रन्थ में लिखा है कि ये विक्रेता अथवा पत्रकार की विशेषताएँ हैं : They are rather those qualifications which any young salesman or aspiring journalist is expected by his employers to possess.

जो हो, आज कवि के लिए कामकाजी, व्यावहारिक तथा प्रवुद्ध दुनियादारी व्यक्ति (Man-of-the world) होना आवश्यक हो गया है। इसी प्रकार प्रत्येक युग का कवि का अपना चित्र है और कवि को युग-मानस के अनुरूप उतरना है। आज का कवि 'ऋषि नहीं' है, 'कारु' है, क्योंकि उसके 'द्रष्टा'-स्वरूप पर वल न होकर उसके शिल्पी-स्वरूप पर वल है। वैदिक ऋचाओं और आज के गीत-गद्य के वीच में कवि क्या नहीं रहा है, परन्तु किसी एक काल में उससे एक ही भूमिका की आशा की जाती रही है। आज उसे इलियट की तरह वैंक-मैनेजर की भूमिका भरनी है या कामकाजी सफल मनुष्य की। प्रश्न यह है कि क्या इसी आज के कवि

के लिए हमें सत्य की तलाश है।

कहा जा सकता है कि हमें कवियों पर विचार नहीं करना है, न किसी एक विशिष्ट युग के कवि पर। हमें उस मूलभूत कवि को ध्यान में रखना है जो इन सभी कवियों के काव्य के भीतर सहज रूप से प्रतिष्ठित है। सब काल के कवियों में प्रतिष्ठित इस केन्द्रीय कवि को हमें मूल इकाई मानकर चलना है। परन्तु तब प्रश्न होता है कि विभिन्न युगों के काव्य में यह समान काव्य-संवेदन क्या है? भावना, कल्पना, विचारणा, व्यंग-विनोद में से कौन काव्य का मूल संवेदन है, या कई मूल संवेदन रहने पर उनकी आनुपातिक स्थिति क्या है? सच तो यह है कि यह धरती ही पिच्छल है। उस पर चलना सहज नहीं है। हमारे यहाँ ही रस, अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि और औचित्य के रूप में छ काव्य भूमियाँ हैं। इनमें औचित्य को समाज-नीति या कलादर्श तथा रीति को शिल्प पर आधारित मानकर छोड़ दें तो भी चार सम्प्रदाय रह जाते हैं जिनमें से पहले तीन को भावना, कल्पना तथा विचारणा के भीतर लिया जा सकता है। अकेला ध्वनि सिद्धान्त रह जाता है जो इस ढाँचे में नहीं सधता। तो क्या ध्वनि ही काव्य का अन्तरंगी तत्त्व है? यह स्पष्ट है कि काव्य में भावना, कल्पना तथा विचारणा तीनों का योग रहता है, अतः कवि में हमें ये तीनों ही चाहिएँ। तीनों ही अलग-अलग प्रतिवाद की सृष्टि करेंगे।

प्रश्न है कि सत्य से क्या तात्पर्य है। सत्य वह जो प्रत्यक्ष हो, परन्तु यह प्रत्यक्षता सापेक्षिक अथवा विभिन्न स्तरों की वस्तु हो सकती है। हम मानवीय संवेदन की विभिन्न भूमियों पर सत्य के दर्शन करते हैं। इन्हें हम इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष (निर्विकल्प प्रत्यक्ष), सविकल्प-प्रत्यक्ष (विकल्प) और समाधि प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) कह सकते हैं। प्रत्यक्षता के इन सभी स्तरों पर अनुभूति (भावना) का संश्लेष रहता है। कहा जाता है कि काव्य मानस प्रत्यक्ष (निर्विकल्प प्रत्यक्ष) के स्तर की वस्तु है। दर्शन अथवा बौद्धिक ज्ञान विकल्प है जो धारणा का उपयोग करता है जिस प्रकार कवि मूर्तिमत्ता (प्रतिमान) का उपयोग करता है। साक्षात्कार रहस्यानुभवियों अथवा मर्मियों का क्षेत्र है। इस प्रकार हमने प्रत्यक्ष-ज्ञान (सत्य) को विभिन्न क्षेत्रों में बाँट दिया, यद्यपि व्यवहार में ये सभी क्षेत्र परस्पर स्पर्श करते हैं। प्रत्येक युग के काव्य में इन सभी स्तरों का थोड़ा बहुत उपयोग होता ही है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ये विभिन्न कोटि के ज्ञान-क्षेत्र नहीं हैं। आज के युग की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि कवि ने सविकल्प-प्रत्यक्ष (विकल्प) के क्षेत्र को अपना लिया है और वह धारणाओं का व्यापार करने लगा है। वह दार्शनिक बन गया है। मध्ययुग का भक्त कवि साक्षात्कारी था—उसने विशुद्ध काव्य के क्षेत्र का अपरिसीम विस्तार किया था और उसके लिए काव्य साधना था। मध्ययुग के मनुष्य ने पंचम पुरुषार्थ के रूप में भक्ति की कल्पना की थी और काव्य ने इस पंचम पुरुषार्थ को साध्य मान कर उसे भावक के लिए सुलभ बनाया था। भावना और कल्पना के सारे योगायोग इस पुरुषार्थ को साधक बनाने में लगे थे। 'भक्ति' मध्ययुग के मनुष्य की व्यक्तिगत उपलब्धि थी, परन्तु उसने सामाजिक मूल्यों पर भी व्यापक प्रभाव डाला था और उसके द्वारा सामाजिक मन नैतिक,

त्या सम्पन्न बना। परन्तु सभी युगों के कवियों से इस ऊँचाई की मांग असम्भव है। सामान्यतः यही कहा जा सकता है कि कवि वस्तु-सत्य (इन्द्रियात्मक प्रत्यक्ष) का अन्वेषी नहीं है, वह भाव-सत्य (मानस-प्रत्यक्ष) में रमता है। यह दूसरी बात है कि आज हम काव्य में दर्शन की समग्रता ढूंढना चाहते हैं और धारणा को काव्य का अन्तरंगी तत्त्व मानने लगे हैं। अस्तित्ववादियों का विचार है कि हमारी धारणाएँ नित्य और शाश्वत नहीं हैं, वे प्रयोगी हैं, नैरन्तरिक हैं तथा सर्जनात्मक हैं। दर्शन में धारणाओं का जो स्वरूप मिलता है वह विकल्पात्मक, समग्र तथा अनुभूतिशून्य होने के कारण महार्घ नहीं है, ऐसा विश्वास हो चला है। फलतः कवि से मांग की गई है कि वह हमें विकल्प की भूमि पर भी सत्य दे। यह सत्य अखण्ड न होकर खण्ड होगा, परन्तु आज का युग अखण्ड सत्य में विश्वास नहीं रखता। वह कवि-चेतना में निर्मित खण्ड सत्य से संतोष करने के लिए तैयार है।

दूसरी ओर मार्क्सवादी जगत है जो कवि से मांग करता है कि वह समाज-बद्ध सत्य ही हमें दे या समाजवादी सत्य, जो मार्क्स-ऐंजिल्स की प्रपत्तियों में बंधा है। वह सत्य को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी मानता है और इसी द्वन्द्वात्मक नैरंतरिकता को प्रगतिशीलता कहता है। यहाँ कवि के लिए स्वतन्त्र और व्यक्तिगत ढंग से धारणा के उपयोग की भी गुंजाइश नहीं रहती क्योंकि उसे सिद्धांतवाद के चश्मे से बहिर्गत जगत और मानवीय सम्बन्धों को देखना है। यही समाजवादी काव्य-दर्शन की सीमा है। अस्तित्ववादी जीवनदर्शन जहाँ काव्य को सतत प्रयोगी, तरल, विस्फोटक तथा अवचेतनीय बनाता है वहाँ समाजवादी जीवनदर्शन उसमें चेतन मन की आर्थिक भूमियों में आबद्ध भावप्रक्रिया ही देखना चाहता है। यहाँ सब कुछ सुनिश्चित, परिबद्ध तथा भौतिक है। इस प्रकार जहाँ समाजवादी काव्य में मानस-प्रत्यक्ष (कल्पना) का बोध हो जाता है, वहाँ अस्तित्ववादी काव्य में वही सत्य को खोलने की कुंजी बन जाता है और उसी की नींव पर विकल्पों के भवन खड़े किए जाते हैं। निश्चय ही ये अतिवाद के दो छोर हैं और 'कवि का सत्य' इन दोनों के बीच में ही कहीं मिलेगा।

पीछे हमने बतलाया है कि 'कवि' और 'सत्य' सापेक्ष धारणाएं हैं, फलतः 'कवि का सत्य' भी सापेक्ष रहेगा। हम अपने युग के कवि के भाव-सत्य या 'सत्य' की चर्चा कर सकते हैं और पूर्वतन युगों के कवियों के भाव-सत्यों या 'सत्यों' से उसकी समकक्षता या तुलना प्रस्तुत कर सकते हैं, या केवल मानस-प्रत्यक्ष पर आवृत सत्य को 'कवि-सत्य' मान सकते हैं। समकालीन मनीषा पहले समाधान को प्रमुखता देती है। यदि हम काव्य को मानस-प्रत्यक्ष मानें तो यह भी मानना होगा कि ऐतिहासिक विकास-क्रम में काव्य का स्वरूप बदला है। आदिकाव्य में कथा, नीति, धर्म, दर्शन सभी कुछ मानस-प्रत्यक्ष को पुष्ट करता था और ये उसके अनिवार्य अंग थे। धीरे-धीरे ये काव्य से अलग और स्वतंत्र विषय बन गये। काव्यगत कथा का स्थान उपन्यास और कहानी ने ले लिया। अन्त में काव्य प्रतीकात्मक और केवल सौन्दर्य-निष्ठ भाव-सत्य की वाणी रह गया। इधर हमने स्वच्छन्दतावादी काव्य (रोमांटिक) के विरोध में तथा वैज्ञानिक एवं बुद्धिवादी मान्यताओं के प्रभाव से काव्य से गीतात्मक

तत्त्वों को भी निकाल डाला है। फलतः आज हमारा प्रगीति-काव्य गीतात्मक नहीं, धारणात्मक है। इसीलिए इलियट ने यीट्स-सम्बन्धी अपने निबन्ध में प्रगीति काव्य को 'मेडिटेटिव पोइट्री' (Meditative Poetry) जैसा नाम दिया है। काव्य में बौद्धिक, व्यक्तिगत तथा असंबद्ध (Irrational) प्रतीकों की योजना का मूल कारण यही है कि आज कवि को दर्शनकार मान लिया गया है और वह इन्द्रियात्मक प्रत्यक्ष के भीतर ही झाँकने का उपक्रम कर रहा है। आज वह साक्षात्कारी नहीं है क्योंकि वह समग्रता तक पहुँचना नहीं चाहता क्योंकि समग्र भ्रम है अथवा अग्राह्य है। वह भाव-योग के द्वारा खण्ड सत्य को ही वाणी देना चाहता है और यह वाणी प्रतीकों की वाणी है।

ऊपर हमने अधुनातन पश्चिमी काव्य की स्थिति पर ही विचार किया है, भारतीय कवि-चेतना को विचार का आधार नहीं बनाया है। भारतीय काव्य-दर्शन समाधि प्रत्यक्ष या साक्षात्कार का विश्वासी है यद्यपि इस साक्षात्कार की कोटि और उसका स्वरूप धर्म या दर्शन के साक्षात्कार से भिन्न है। इस दृष्टि से कवि सत्य साक्षात्कारी, अखण्ड, अव्याहृत तथा सौन्दर्यमय है। साथ ही वह आनन्दमय भी है। वास्तव में उसके आनन्दी स्वरूप में ही अन्य श्रेष्ठ तत्त्व लयमान हैं। इसी आनन्द-तत्त्व को लोकोत्तर मान कर 'रस' की संज्ञा दी गई है। यह रस-दृष्टि बौद्धिकता पर आधारित न होकर सहजानुभूति पर आधारित है जिसके निर्माण में कवि की भावना, कल्पना तथा धारणा का संतुलित योगायोग रहता है। काव्य विषयी है, विषयगत नहीं, अतः विषयी (कवि) के भीतर से ही यह कवि-सत्य फूटता है। इस रसवादी दृष्टि को स्वीकार कर लेने पर कवि की अनुभूति तथा वाणी की सीमाएँ स्वतः निर्मित हो जाती हैं। वाक् और अर्थ को जोड़ने वाली कवि की रसानुभूति ही कवि-सत्य का वास्तविक स्वरूप है। इसी से तुलसीदास ने "गिरा अरथ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न" कह कर कवि की अनुभूति (कवि-सत्य) तथा उसकी वाणी (कविता) की अभिन्नता एवं लोकोत्तरता प्रतिध्वनित की है। इसी व्यक्तित्वनिष्ठ अनुभूति को अपनी सिद्ध वाणी के द्वारा कवि सहृदय तक पहुँचाता है—पहुँचाता क्यों, उसके भीतर के रसकोषों को स्पर्श कर उसके भीतर से अपना ही संवेदन या भाव-सत्य जाग्रत करता है।

यह स्पष्ट है कि पश्चिम का कवि इतनी ऊँचाई तक नहीं उठना चाहता। एक ओर वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से बँधा है, दूसरी ओर विकल्प उसके पैर जकड़े हैं। उसकी चेतना इन्द्रिय विकारों अथवा बौद्धिक ऊहापोहों में घूमती है। अतः उसका सत्य खण्डित, विकारग्रस्त तथा अतर्कित है। उसमें सौन्दर्यचेतना तथा भावना के पूरे आयाम गृहीत नहीं हैं। उसने 'सुन्दरम्' और 'शिवम्' की सीमाएँ बाँध दी हैं और उसे सत्यम् मात्र का खोजी बना दिया। आज कवि सत्य का आस्वादक भी नहीं है, शोधी मात्र है। इसीलिए सत्य उसकी पकड़ में नहीं आ रहा है क्योंकि सत्य को प्रत्यक्ष (साक्षात्कारी) बनाने के लिये उसका आस्वादन आवश्यक है। वह शब्द और अर्थ द्वारा अनुभूति और अभिव्यंजना के बीच की दरारें टटोलने में लगा है। मेलार्मे से लेकर सार्त्र तक आधुनिक यूरोपीय काव्य की यही स्थिति रही है। इसने मानस-

प्रत्यक्ष (कल्पना) को संशय की दृष्टि से ही नहीं देखा है, उसके प्रति विद्रोह किया है। उस पर विज्ञान का आतंक है और उसने बुद्धिवादी शैतानियत से समझौता कर लिया है। कहना होगा कि आज कवि की कोई स्वतंत्र स्थिति ही नहीं है और उसका कोई निजी, व्यक्तिगत तथा प्रामाणिक सत्य भी नहीं है। उसका चेतन सत् से आविल और आनन्द से बहिष्कृत है। वह असंख्य दर्पणों के लीला-भवन में फँस कर दिग्भ्रांत हो गया है। रूपों और धारणाओं के इन्द्रजाल में आज कवि की कल्पना कुंठित हो गई है और उसकी अनुभूति सत्य का स्वांग ही भर सकती है, उसे पहचान नहीं सकती। फिर सत्य को वाणी देने की बात तो आकाशकुसुमवत् है। आज उसका सत्य इतना ही रह गया है कि वह भाषा की कंथा उधेड़े और शब्दार्थ के बीच की दरारें टटोले। अशब्द और अगीत ही आज काव्य बनाया जा रहा है। शायद 'अ-सत्य' ही आज कवि का सत्य है।

———

११

काव्य और समाज

काव्य की सामाजिक उपयोगिता की बात विरोधाभास-जैसी जान पड़ती है क्योंकि काव्य को हमने 'ब्रह्मानन्द सहोदर' माना है और उसे लोकोत्तर आनन्द अथवा 'रस' कहा है। ब्रह्मानन्द की भाँति काव्यानन्द भी व्यक्तिगत उपलब्धि ही हो सकता है। 'रस' के सम्बन्ध में संस्कृत आचार्यों ने जो विवेचनाएँ प्रस्तुत की हैं उनमें काव्यानन्द के सार्वभौम प्रभाव को स्वीकार किया गया है। साधारणीकरण के द्वारा सामाजिक (या पाठक, श्रोता) कवि (या नाटककार, पात्र या नट) की अनुभूति को अनुभावित कर सकता है और इस प्रक्रिया में पाठक या श्रोता को कवि के व्यक्तित्व का ही प्रसार माना जा सकता है अथवा पाठक या श्रोता का व्यक्तित्व सहअनुभूति के द्वारा कवि के व्यक्तित्व में ढल जाता है। काव्य और समाज का इस कोटि का सम्बन्ध हमें बहुत दूर तक नहीं ले जाता क्योंकि उसमें समाज की व्यक्तियों से स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है और पाठक या श्रोता व्यक्ति की भूमि पर कवि की रसानुभूति में योग लेते हैं, समाज के प्राणी की भूमि पर नहीं।

यह स्पष्ट है कि कविता का जन्म समवेत गीत के रूप में हुआ। अरस्तू ने गीतिकाव्य के रूप में 'डियैरैम्ब्स' और 'नोमस' का विवेचन किया है जो स्पष्ट ही 'ऋक्' से भिन्न नहीं है। दुःखान्त (ट्रेजडी) के मूल में भी सामूहिक धार्मिक कृत्यों एवं पर्वों की अवस्थिति है। आज भी धर्मचर्या और कर्मकाण्ड के लिए काव्य का व्यापक रूप में उपयोग होता है। मार्क्सवादी विचारकों, विशेषतः प्लेखोनॉव और काडवेल ने काव्य के मूल उत्स को सामाजिक अथवा समवेतीय ही माना है। काव्य की यह व्याख्या ब्रह्मानन्द सहोदर अथवा रसवाद से किंचित् मात्र भी मेल नहीं खाती। स्पष्ट है कि काव्य की परिभाषा के ये दो ध्रुव हैं। 'रसवाद' वाली व्याख्या व्यक्तिपरक है, उसमें व्यक्ति के मनस्तत्वीय विश्लेषण के आधार पर भावना मन परितोष पर बल है। मार्क्सवादी व्याख्या समाजशास्त्री अथवा मानवशास्त्री है और समूचे समाज को इकाई मान कर कवि में इस इकाई की अभिव्यक्ति मात्र देखती है, जैसे समाज से अलग स्वतन्त्र एवं अनुभूतिशील सत्ता के रूप में कवि का कोई अस्तित्व हो ही नहीं।

इन दो ध्रुवों के बीच में सत्य कहाँ टिका है यह जानना आवश्यक है। तभी हम काव्य और समाज के सम्यक् सम्बन्ध पर विचार कर सकेंगे। निश्चय ही एक कोटि का काव्य ऐसा होता है जो सामाजिक उत्प्रेरणाओं, मूल्यों एवं नीति-व्यवहारों पर आधारित होता है। घाघ और भड्डरी की पहेलियों में सामाजिक उपयोगिता ही कविता में ढल गई है—कविता की अपेक्षा उसे पद्य ही अधिक कहा जायगा। वीर-

भावनाओं और संवेदनाओं का सबसे सुन्दर रूप में प्रकाशन सम्भव है। जहाँ तक इस विचारधारा के सिद्धान्तपक्ष का सम्बन्ध है इससे कोई भी मतभेद नहीं हो सकता, परन्तु जब व्यवहार की भूमि पर इसकी व्याख्या की जाती है तो मत-वैभिन्न्य की गुंजाइश हो जाती है क्योंकि इलियट 'लोकप्रिय काव्य' को काव्य की सामाजिकता का प्रमाण नहीं मानते, वह सम्भ्रान्त वर्गों (Elite, एलीट) में प्रिय नव्य काव्य को ही जनप्रवृत्तियों का प्रसारक एवं पोषक मानते हैं। संस्कृति-सम्बन्धी अपने ग्रन्थ में इलियट ने इसी संभ्रान्त वर्ग को 'संस्कृति' का वाहक माना है। यह आवश्यक नहीं है कि कवि के काव्य को समस्त जन समझें, यह संभ्रान्त वर्ग उसे समझ ले तो यथेष्ट है क्योंकि इस वर्ग से छनकर नई काव्यानुभूति नीचे के स्तरों में अनिवार्यतः पहुँच जायगी। इसीलिए उसका यह दावा नहीं कि नई अनुभूति का वाहक यह कवि अपनी पीढ़ी में सर्वप्रिय होगा। सभी पीढ़ियों में कोई कवि पढ़ा जा सके और उसके द्वारा प्रवर्तित नई दिशा का महत्त्व समझा जा सके तो यही बहुत है। कविता का एक उपयोग यह भी बताया गया है कि वह परम्परा से सम्बन्ध जोड़ कर अपनी पीढ़ी को प्राचीन सांस्कृतिक संदर्भों से परिचित कराये, और इस प्रकार उसे प्राणवान बनाये। कविता के द्वारा भाषा की सामर्थ्य, प्रेषणीयता, सम्पत्तिशीलता एवं संवेदशीलता का जो विकास होता है, वह कालान्तर में समाज के प्रत्येक जन की भाषा, संवेदना एवं जीवन-चर्या में नया अध्याय जोड़ता है। काव्य का स्वास्थ्य जाति का स्वास्थ्य है और किसी भी स्वस्थ जाति की भाषा में हमें स्वास्थ्य के सूचक अनेक उपकरण मिलते हैं।

स्पष्ट ही यह विचारधारा संस्कृतिनिष्ठ होते हुए भी एकांगी है और इसमें काव्य की प्रकृत भूमि छोड़ कर भाषा, आचार-विचार, अवचेतनीय जातितत्त्व (संस्कार) तथा जातिगत सौन्दर्यबोध की दुहाई दी गई है। प्रत्येक युग की कविता का एक 'टोन' (Tone) होता है जो सूक्ष्म अवचेतनीय तत्त्वों तथा संस्कारी चेतनाओं पर आधारित रहता है। इसको खोजना और परम्परा से पुष्ट करके इसे वाणी देना कवि का धर्म है। जैसे-जैसे हमारे चारों ओर का संसार बदलता जाता है, वैसे-वैसे हमारी संवेदना में भी अन्तर आता जाता है। साथ ही भाषा भी बदल जाती है और पुराकाल के साहित्य से हमारा सम्पर्क छूट जाता है। कवि को दो स्तरों पर काम करना होता है। एक, उसे अत्यन्त असाधारण रूप से संवेदनशील होना पड़ता है और इसके साथ ही उसे उच्च कोटि का शब्द-बोध विकसित करना पड़ता है। सामान्य भाषा में केवल स्थूल भावों के प्रकाशन की शक्ति है, सूक्ष्म संवेदनाओं को ग्रहण करने और अभिव्यक्ति देने के लिए सूक्ष्म, प्रौढ़, विशेष तथा समर्थ भाषा चाहिए। प्रत्येक समर्थ कवि को इस युगानुकूल भाषा का निर्माण करना होता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें अपने युग के प्रति गंभीर और व्यापक सहानुभूति विकसित हो और उसमें सूक्ष्म और नवीन संवेदनाओं को ग्रहण करने की शक्ति हो। परन्तु यह शक्ति ही सब कुछ नहीं है। भाषा द्वारा, नए शब्दों-समासों-प्रतीकों के द्वारा वह इन नवीन एवं सूक्ष्म संवेदनाओं को वाणी दे सके, यह भी आवश्यक है। दूसरे, वह परम्परा के प्रति जागरूक हो और प्राचीन कवियों के शब्द-प्रयोगों, प्रतीकों तथा भाव-क्षेत्रों को अपने काव्य के साथ मिला कर परम्परा में खिड़कियाँ खोल दे और

उसके प्रति हमें संवेदनीय बना दे। परन्तु यह प्रक्रिया क्या उस कोटि की क्रिया पर समाप्त हो जायगी जिसका इंगित इलियट ने 'ट्रेडीशन एण्ड द इंडिवीजुअल टैलेण्ट' शीर्षक निबन्ध में किया है? वास्तव में यह प्रक्रिया स्थूल न होकर सूक्ष्म और रस बोधात्मक है। तुलसी की भक्ति भावना अवधी भाषा में राम-सीता के प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यंजित हुई है। आज के युग में न तो तुलसी की भाषा का पुनरुद्धार सम्भव है, न उनके राम-सीता या सूरदास के ही राधा-कृष्ण के प्रतीक हमारे लिए संवेदनीय बन सकते हैं। परन्तु नवीन युग के प्रगति-भाव को इस प्रकार वाणी दी जा सकती है कि तुलसी का भक्ति-भाव उसके भीतर से ध्वनित हो और उसमें परम्परा के स्वर बोलते हों। निराला के इधर के गीतों में यह द्रष्टव्य है। रवीन्द्र ने 'गीतांजलि' प्रभृति रचनाओं में परम्परा के प्रति अपने ऋण को इसी प्रकार चुकाया है। इलियट की तरह सचेतन रूप से शब्दों, प्रयोगों एवं प्रतीकों का प्रयोग उद्धरणी मात्र होगा या वैचित्र्य। परम्परा को गहरे जा कर पकड़ना होगा, सतह पर नहीं।

परन्तु यह कर्त्तव्य होने पर भी कवि के लिये बहुत कुछ शेष रह जाता है जो इलियट की बुद्धिमूलक तथा विश्लेषणीय पकड़ में नहीं आया। काव्य और समाज के अन्तरंगी सम्बन्ध की ओर उसका ध्यान नहीं गया है। काव्य यदि समाज की आत्मा है तो उसे औपचारिकता से ऊपर उठना होगा। समाज का भी अपना व्यक्तित्व है जो प्रत्येक अन्य समाज के व्यक्तित्व से भिन्न है। इस सामाजिक व्यक्तित्व के अपने राग द्वेष हैं, उसका अपना अहं है, अवचेतन है, अपने निरोध हैं। काव्य जहाँ कवि की अन्तर्गत रागात्मिकता का प्रकाशन है और कवि के निरोधों, स्वप्नों तथा चेतन विश्वासों की अभिव्यक्ति है, वहाँ दूसरी ओर और साथ ही वह सामाजिक मन के निरोधों, स्वप्नों तथा चेतन विश्वासों की भी अभिव्यक्ति है। अतः सामाजिक भूमि पर भी रसवाद की प्रतिष्ठा आवश्यक है। काव्य समाज को श्रेष्ठतम, सूक्ष्म और गम्भीर रसबोध दे सके और उसमें समष्टिगत भाव संवेदना को अभिव्यंजना मिले। यह रसवाद का व्यापक रूप होगा। इसमें भोक्ता व्यष्टि मानस नहीं, समष्टिगत समाज-मानस है। जिस कवि में रस को व्यक्तिगत भूमि को समाजगत भूमि पर ले चलने की जितनी अधिक क्षमता होगी, उतना ही अधिक पुष्ट उसका काव्य होगा, उतना ही बड़ा कवि वह होगा। गीतिकाव्य में यह क्षमता कवि की वैयक्तिक अनुभूति के साधारणीकरण द्वारा प्रगट होती है और महाकाव्य में सामाजिक एवं समष्टिगत अनुभूति की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के द्वारा प्रकाशित होती है। दोनों में व्यष्टि मानस के साथ समष्टि-मानस का समभाव देखने में आता है। अतः गीतिकाव्य और महाकाव्य का भेद व्यक्तिगत एवं वस्तुमुखी सत्य और तद्गत शिल्प के अन्तर पर आधारित न होकर कवि के दृष्टिकोण पर अवलम्बित हो जाता है। गीतिकाव्य 'स्व' से 'पर' की ओर जाता है तो महाकाव्य 'पर' से 'स्व' की ओर। श्रेष्ठ काव्य में 'स्व' और 'पर' में भेद ही नहीं रह जाता। अतः काव्य सामाजिक व्यक्तित्व की उत्कर्षमयी अभिव्यंजना बन जाता है।

इसके साथ ही काव्य के द्वारा समाज का प्रसवणशील व्यक्तित्व संकोच, कुंठा

तथा निरोध की भूमियों को छोड़ कर, अल्प से ऊपर उठ कर, व्याप्त जीवन-संवेदना अथवा 'भूमा' को प्राप्त होता है। यह प्रक्रिया व्यष्टि-मानस और समष्टि-मानस के दो स्तरों पर समान रूप से चलती है। वास्तव में काव्य में ही समाज का मन खुलता है और उसमें द्रवण-शीलता आती है। धर्म के क्षेत्र में जिसे 'अहिंसा' अथवा 'करुणा' कहा गया है वही काव्य के क्षेत्र में 'सह-अनुभूति' है। काव्य के द्वारा समाज की इसी 'सह-अनुभूति' का विस्तार होता है।

यह स्पष्ट है कि काव्य समाज की प्राथमिक आवश्यकताओं में से है। उसी के द्वारा समाज संवेदनशील, सुसंस्कृत तथा परम्परित बनता है। व्यक्ति की भांति समाज को भी आन्तरिक अथवा भावात्मक स्वास्थ्य चाहिए। यह स्वास्थ्य परिपूर्ण आनन्द अथवा अनन्तचेतस् ऊर्जस्विता में ही मूर्तिमान हो सकता है। अतः उत्कृष्टतम काव्य समाज के पूर्णानन्द, परिपूर्ण स्वास्थ्य तथा आह्लादक शक्ति की उपज है। उसके स्रोत गम्भीर, व्यापक तथा अनिरोधित हैं। व्यक्ति की तरह समाज भी इस आनन्द अथवा स्वास्थ्य को उधार नहीं ले सकता। इसीलिए कालिदास के युग-मानस का स्वास्थ्य यदि उनके काव्य में सुरक्षित है तो वह हमारे युग-मानस का स्वास्थ्य नहीं बन सकता। हमारे युग के श्रेष्ठ कवि को अपने समाज के लिए नया सौन्दर्य-बोध एवं नया आह्लाद उन्मुक्त करना होगा। परन्तु पिछले युगों, दूसरे देशों और अन्य भाषाओं के काव्य से हम अपने युग के समष्टिगत सौन्दर्य से परिचित हो सकेंगे और उसकी अभिव्यक्ति के लिए नए प्रतीकों की खोज में हमारी यह आत्मोपलब्धि सहायक हो सकेगी।

काव्य का मूल स्वारस्य और समरसत्व है। व्यष्टि और समष्टि दोनों स्तरों पर स्वारस्य और समरसत्व की अनुभूति सम्भव है। ये दोनों स्तर किसी युग में अलग-अलग और स्वतन्त्र भावित हो सकते हैं परन्तु परिपूर्ण सुसंस्कृतियों के युग में दोनों स्तरों पर एक ही साथ काव्य संचरणशील होता है। जब ऐसा होता है तो कालीदास या तुलसीदास जैसे किसी महाकवि की वाणी में व्यक्ति का अन्तर्मन युग-मानस का प्रतीक बन जाता है और कवि परोक्ष की वीन नहीं, समाज की वाणी बन जाता है। उसकी रचना में परम्परा का मधु सूक्ष्म रूप से स्वतः ही ग्रहीत हो जाता है क्योंकि समाज के उपचेतन में वह पहले ही से सुरक्षित है। उसके लिए कवि को उसी प्रकार प्रयत्न नहीं करना पड़ता जैसा इलियट को वांछनीय है। खण्डित एवं आत्म-बाधित युगों में ही कवि के परम्परा को आत्मसात करने के प्रयत्न चेतन तथा प्रयत्नपूर्ण रहते हैं। इसी से अपनी सिद्धान्तवादिता के बावजूद भी इलियट यूरोपीय काव्य-परम्परा के बहुत छोटे अंश को अपने काव्य में संरक्षणीय अथवा आस्वादक बना सके हैं।

एक ही समाज विभिन्न युगों में किस प्रकार विभिन्न कोटि के काव्यों के द्वारा एक ही अनुभूति का समर्थ प्रकाशन करता है, यह श्रीमद्भागवत, गीत-गोविन्द और रामचरितमानस की तुलना से स्पष्ट हो जायगा। यह भी द्रष्टव्य है कि कभी-कभी किसी एक युग की एक ही सबल अनुभूति दो या कई कवियों में परस्पर पूरक बन कर प्रकाशित हो। जैसे भक्तियुग के दो समकालीन कवियों सूरदास और तुलसीदास में सामाजिक भक्तिप्रवण मन के दो परस्पर पूरक स्तर व्यंजित हुए हैं। तुलसीदास

के काव्य में समाज का चेतन और विद्रोहप्रवण मानस अभिव्यक्ति पाता है और सूरदास के काव्य में समाज का अवचेतनीय, निरोधित एवं भावप्रवण कोमल मन। इसीलिए तुलसी का काव्य पौरुष तथा चैतन्य का काव्य है और सूर का काव्य प्रणय माधुर्य, स्वरति और आकांक्षा का काव्य। दोनों कवच हैं, एक इस्पाती है, दूसरा कृपा का बना है, परन्तु दोनों ने मध्ययुग के इस्लामी प्रहारों, जातिवादी बन्धनों तथा सांस्कृतिक क्षय से उत्पन्न कीटाणुओं के विरुद्ध मोर्चा लिया है। भयंकर ध्वंस के बाद दोनों में दो भिन्न कोटियों की निर्माण-प्रक्रिया चल रही है। इन कवियों की रचनाएँ 'स्वान्तःसुखाय' और 'स्वान्तस्तमःशान्तये' भी हैं, परन्तु उनमें युग-मानस भी ध्वनित, प्रतिरोधित एवं आकारवान है। इस द्वैध ने उनके काव्य को सप्राण ही बनाया है और इससे वे कवि के व्यक्तित्व के साथ ही युग का प्रतिनिधित्व भी कर सके हैं। यह भी सम्भव है कि एक व्यापक समाज एक ही युग में दो या कई विरोधी सम्भावनाओं से परिचालित हो और कमाधिक शक्ति से इन विरोधी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति अलग अलग दो या कई कवियों में हो। ऐसा होने पर काव्य समस्त समाज का प्रतिनिधित्व न कर काव्य-रसिकों के विशेष वर्गों का प्रतिनिधित्व करेगा। रीति-युग में समाज का मन नीति, वीरता, शृंगार, भक्ति और आचार्यत्व की विभिन्न भूमियों में बँट गया है और इसी से उसकी अभिव्यक्ति क्षीण और अशक्त है। शृंगार-सम्बन्धी रचनाओं की अधिकता संरक्षण की दिशाओं की ओर इंगित करती है, उससे यह सिद्ध नहीं होता कि शृंगार रीतियुग की लोकप्रवृत्ति है। निःसंदेह वह एक प्रमुख सामंती अथवा राजकर्मी वर्ग की प्रवृत्ति थी जो ईरान के भोगवाद से भी प्रभावित था तथा भौतिक सुखों के नए उपकरणों को मध्य-एशिया तथा ईरान से उधार ले रहा था। रीतिकालीन पण्डितवर्ग ने इस प्रवृत्ति को कविकर्म के सहारे पुष्ट किया और संस्कृत काव्य तथा शास्त्र-परम्परा को अपना आदर्श माना परन्तु इससे रीतिकाव्य की वर्गनिष्ठा कम नहीं हो जाती। वह सम्पूर्ण समाज-मानस की अभिव्यक्ति नहीं, खण्डित एवं दमित समाज-मन की निष्पत्ति है। सच तो यह है कि काव्य और समाज के सम्बन्ध अत्यन्त सूक्ष्म, मार्मिक और मूलगत हैं। उन्हें ऊपर सतह से पकड़ कर चलने में भ्रांति का सृजन होगा। रसप्रक्रिया और सहानुभूति की समष्टिगत तथा आह्लादक एकान्विति ही इस सम्बन्ध की सम्यक् व्याख्या कर सकेगी।

: १२ :

काव्य और समालोचना

काव्य और समालोचना के सम्बन्धों पर विचार करने पर पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या हम काव्य के लिए शाश्वत मानदण्डों को अनिवार्य समझते हैं, या उन्हें वांछनीय समझते हैं, या सापेक्षिक मानदण्डों से ही हमारा काम चल सकता है। ये सापेक्षिक मानदण्ड स्वयं विभिन्न युगों के काव्य को लेकर चलें या पुराने-नये शास्त्रों को लेकर। यह स्पष्ट है कि इन शास्त्रों की अपनी सीमाएं हो सकती हैं और नए शास्त्र काव्य के सम्बन्ध में हमारी दृष्टि को इतना बदल सकते हैं कि पुराना मूल्यांकन एकदम पीछे पड़ जाये। काव्यालोचन की एक तीसरी परम्परा काव्य का सम्बन्ध जीवन से जोड़ती है और उसे जीवन के प्रति उत्तरदायी मान कर जीवन की अनुकृति, उसके प्रति पलायन, आलोचना तथा पुनर्निर्माण के अनेक सम्बन्ध स्थापित करती है। प्रश्न यह है कि इन विभिन्न दृष्टिकोणों में से कौन-सा दृष्टि-कोण हमें काव्य के अन्तरंग तक पहुँचा सकता है। संक्षेप में, देखना यह है कि काव्य की श्रेष्ठता का हमारा मानदण्ड क्या है, किसी एक मानदण्ड पर हमारा आग्रह हो या हमारा दृष्टिकोण अनेकांती हो।

काव्य के सम्बन्ध में शाश्वत दृष्टिकोण की आवश्यकता अब पश्चिम में भी समझी जाने लगी है। अपने एक निबन्ध 'द फ्रांटिअर्स आव क्रिटिसिज्म' में इलियट ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए ताँउ-मत (ताउइज्म) और जापानी जेन (ध्यान) बौद्ध मत का उल्लेख किया है जो परिपूर्ण जीवन के मान को लेकर चलते है, पश्चिमी मनोशास्त्र की तरह मन की आपेक्षिक स्वस्थता को महत्व नहीं देते। इलियट का कथन है कि आधुनिक समीक्षा की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि उसका हेतु ही अस्पष्ट है। समीक्षा किस लिए ? उससे किसे लाभ होगा और क्या लाभ होगा ? उसकी सम्पन्नता और विविधता को अस्वीकार नही किया जा सकता, परन्तु कदाचित् इसी कारण उसके अन्तिम लक्ष्य की ओर हमारी दृष्टि नहीं गई है। इलियट ने इसे विशेषज्ञता का दोष बतलाया है जिसके कारण हम रचना-विशेष या दृष्टिकोण-विशेष से ही चिपटे रह जाते हैं। जो हो, यह स्पष्ट है कि पश्चिम के पास काव्यालोचन के मूलगत और सार्वभौमिक मानदण्ड नहीं हैं। भारतवर्ष के पास रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य के रूप में ऐसे मानदण्ड है, इससे इंकार नही किया जा सकता। इनमें से प्रत्येक काव्य का परिपूर्ण मान समझा गया है और अन्य मानों को उस एक विशिष्ट मान के अन्तर्गत स्थान दे दिया गया है। भारतीय समीक्षा के इस दृष्टिकोण को अतिवादीय माना गया है, सम्भवत: अवैज्ञानिक और अबौद्धिक भी कहा गया है, परन्तु उसकी

मूलगतता अविश्वसनीय नहीं है। इस प्रकार के सार्वभौमिक तथा मूलगत मान के अभाव मे पश्चिम युगधर्म के अनुरूप निरन्तर नए मान बदल कर ही चल सका है परन्तु इसका फल यह हुआ कि काव्यानन्द रुचि-सापेक्ष बन गया है और उसने 'स्कूल' (सम्प्रदाय) स्थापित हो गये हैं। परिवेश मे परिवर्तन से रुचि मे परिवर्तन हो सकता है, परन्तु काव्यानन्द यदि अखण्ड, स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष इकाई है तो उसे युग-सापेक्ष नही होना चाहिये। सार्वभौम मानो के सम्बन्ध मे यह आशका प्रकट की जाती है कि कही उनका उपयोग जड, यान्त्रिक तथा अबौद्धिक रीति से न होने लगे और वे सूत्र मात्र बन कर न रह जायें। मध्ययुग मे भारतवर्ष म ऐसा हुआ भी है, अत यह आशका निर्मूल नही है। रीतिकाल के सैकडो लक्षण-ग्रन्थ इस अव्यवस्था के साक्षात् प्रमाण हैं। उनमे गतानुगतिक ही सब कुछ बन गया है। रस, अलकार और रीति के मानदण्ड ही जब इतने निष्प्राण बन गये तो उनके आधार पर लिखी उदाहरणमूलक रचनाएँ स्फूर्तिप्राण कैसे हो सकती थीं? फलत ग्रथित मानो के कारण काव्यानुभूति पर बन्धन लगे। लक्षण की सकीर्ण परिधि मे ही कवि की भावना तथा कल्पना अपने पख खोल सकती थी, उन्मुक्त नीलाकाश मे स्वच्छन्द उडानें भरने का साहस उसे नही था। शास्त्र की कैंची ने उसके पख कतर लिये थे। २०वीं शताब्दी मे पश्चिम के जीवनधर्मी साहित्य तथा सापेक्षिक मानो का परिचय प्राप्त कर लेने पर हमने शास्त्र का पल्ला छोडा और पश्चिमी काव्य चिन्तन के रग मे ही रग गये। परन्तु स्थिर मानदण्ड न होने के कारण पश्चिम का काव्य वादग्रस्त बनता गया और नये-नये मूल्यो के अन्वेषण ने काव्य-परम्परा के प्रति हमारे दृष्टिकोण को क्षुब्ध तथा सकोची बना दिया। आज स्वय पश्चिम इस वादीय अराजकता से त्रस्त है और स्थिर मानदण्ड का प्रश्न उठा रहा है।

पश्चिम मे समालोचना की दो दिशाएँ प्रमुख रूप से विकसित हुई हैं। एक का सम्बन्ध विभिन्न शास्त्रीय ज्ञानो से है, दूसरे का जीवन सम्बन्धी जिज्ञासा से। शास्त्रीय ज्ञान से समालोचना का सम्बन्ध पश्चिम मे जॉनसन और कॉलिरिज से आरम्भ होता है जिन्होंने क्रमश कवि के जीवन और मनोविज्ञान से काव्य का सम्बन्ध जोडना चाहा। कॉलिरिज ने काव्य पर दर्शन की प्रपत्तियो को भी लागू किया और कवि-कल्पना की व्याख्या करने के लिए तात्त्विक चिन्तन से सहारा लिया। इस प्रकार काव्यालोचन मे जीवनवादी, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक स्थापनाओ का प्रभाव पडा। बाद मे उन्नीसवी शताब्दी के फ्रांसीसी समीक्षको एव इतिहासकारो सेंट बूव और टेन के द्वारा परिवेश को भी महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा। इसी परम्परा मे समाजशास्त्रीय और मार्क्सवादी काव्यालोचन की भी बुनियाद पडी। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में मनोविश्लेषण ने फ्राइडवाद के रूप मे काव्य की यौनविज्ञानीय स्थापनाओ पर बल दिया और स्वप्न, देवकथा तथा प्रतीक के सम्बन्ध मे नवीन ज्ञान के आलोक मे समालोचना को कवि तथा समाज की प्रच्छन्न अन्तर्वृत्तियो (अवचेतन) से सम्बन्धित करना चाहा। यह स्पष्ट है कि ये सभी शास्त्र मनुष्य की विभिन्न चेतनाओ पर प्रकाश डालते हैं और मानव-व्यक्तित्व के अध्ययन में उनका बडा महत्त्व है। इसमें संदेह नहीं कि उनसे कवि के व्यक्तित्व का अच्छा

अध्ययन हो सकता है। इन शास्त्रों की भूमिका पर काव्य के अध्ययन से हम कवि के व्यक्तित्व तक पहुँच सकते हैं, परन्तु काव्यानन्द की व्याख्या के लिए ये तथ्य अपर्याप्त ही नहीं, बहिरंगी भी हैं। कवि की विकृतियों का काव्य से सीधा सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। इस प्रकार युगधर्म से भी काव्य का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, श्रेष्ठ कवि अपने युग का अतिक्रमण कर सकता है और करता रहा है। सच तो यह है कि हम स्वयं अपने शास्त्र-ज्ञान के नीचे दब गये हैं और काव्य का सीधा हार्दिक स्पर्श हमें नहीं मिलता। निश्चय ही हम अरस्तू और भामह के युग में नहीं पहुँच सकते, जब काव्य-रचना तथा काव्यास्वादन सम्बन्धी प्रक्रियाएँ अपेक्षाकृत सरल थीं और काव्यानन्द अधिक सजग, अन्तर्भुक्त तथा अव्याकृत था। परन्तु आधुनिक युग की वादीय अराजकता तथा शास्त्रीय बहुभिन्नता से ऊपर उठ कर हमें काव्य की मूलगत तथा सरस संवेदना के लिए मार्ग निकालना होगा। आज हम धीरे-धीरे यह जानने लगे हैं कि ये शास्त्रीय ज्ञान काव्यानन्द के ग्रहण तथा प्रसार में बाधक नहीं तो साधक भी नहीं हैं, अप्रासंगिक तो निश्चय ही है।

एक दूसरे प्रकार की समालोचना भी है जिसे अध्यापकी समालोचना अथवा शोध-समीक्षा कहा जा सकता है। इसमे समालोचना पाण्डित्य मे अन्तर्भुक्त हो जाती है। इस प्रकार की समालोचना काव्य के मूल स्रोतों के उद्घाटन का दावा करती है और प्रसंगों, संदर्भों, प्रतीकों, छन्दों तथा शब्द-प्रयोगों को लेकर विश्लेषण के द्वारा काव्य के संश्लिष्ट स्वरूप का उद्घाटन करना चाहती है। यह स्रोतवादी समीक्षा कवि के हथियारों से ही उलझ जाती है। इसमें पर्याप्त श्रम का योग है। इससे हमें कवि के अध्ययन का पता चल सकता है, और सम्भवतः हम यह भी प्रमाणित कर सकते हैं कि कवि की कथित मौलिकता का वास्तविक रूप क्या है······कि वह कैसे प्रतिभा के द्वारा सामान्य, क्षुद्र तथा विरोधी तत्वों का आकलन करने में सफल होता है। परन्तु इस आकलन का प्रमाण तो हमें मिलता है, इसकी प्रक्रिया से हमारा परिचय नहीं होता। प्रतिभा की आग में लोहा भी गल कर कुन्दन बन जाता है······परन्तु ऐसा क्यों और कैसे होता है? स्रोत-सम्बन्धी दूरागूढ़ कल्पनाएँ लेखक के साथ अन्याय भी कर सकती हैं और कवि के अवचेतन के अन्ध कूप में झाँक कर हम स्वयं दिग्भ्रान्त भी हो सकते हैं। फिर इस प्रकार की पाण्डित्यधर्मी समीक्षा का अपना आनन्द है और कभी-कभी इस बुझौवल-रस में डूब कर समालोचक काव्य के प्रकृत आनन्द से बहुत दूर चला जा सकता है। स्वयं कवियों ने अपनी भूमिकाओं, टिप्पणियों तथा भंगिमाओं मे ऐसी अनेक भ्रांतियों का सृजन किया है जो ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक समालोचनाओं के रूप में मरु-मरीचिकाओं को जन्म देती हैं। रचना के स्रोतों पर अधिक बल देने से हम उसके सामाजिक प्रभाव से वंचित रह जाते हैं। प्रत्येक कृति परिणति है, वह परिपूर्ण इकाई है। प्रभाव ही रचना का अन्तिम सत्य है। उसी मे वह जीवित है। काव्य का प्रभाव ही 'आनन्द' है जिसे 'रस' की संज्ञा देकर लोकोत्तर माना गया है। यहाँ 'लोकोत्तर' शब्द से भयभीत होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि लोकोत्तर का अर्थ पारलौकिक, रहस्यमय अथवा गुह्य न होकर असाधारण या विशिष्ट ही माना गया है। रस की लोकोत्तरता काव्यानन्द की

इन्द्रियातीनता मे है जो 'आनन्द' की विशिष्ट कोटि है जब भोक्ता (पाठक या श्रोता) 'स्व—पर' की भूमिका से ऊपर उठ कर मूल मानवीय भाव मे प्रतिष्ठित हो जाता है। इस 'आनन्द' की व्याख्या के लिए हम काव्य के स्रोतों तक पहुँचते हैं या स्रोतों मे रचना के आनन्द तक पहुँचना चाहते हैं। यह भी कहना कठिन है कि स्रोतो तक पहुँच कर हम फिर संश्लेषण के द्वारा काव्य के समष्टिगत प्रभाव (उसके आनन्दी रूप) तक पहुँच सकेंगे या नहीं। यह कहा गया है कि काव्य से वास्तविक आनन्द ग्रहण करने के लिए हमे दोनों दिशाओं से बढना होगा। हम स्रोतों की ओर बढ़ें और फिर पुनर्निर्माण के द्वारा काव्य के संश्लिष्ट, समुच्चयित तथा अन्तरंगी एकता को भी आत्मसात् करें। परन्तु काव्यास्वादन की यह प्रक्रिया बौद्धिक ही होगी और उस मे रचना के रस-तन्तु टूट जायेंगे। क्या यह अधिक सुन्दर नही होगा कि हम काव्य को परिपूर्ण इकाई के रूप मे लें जिससे अनेक सम्भावनाओं की सृष्टि सम्भव है? हमे इन सम्भावनाओं पर दृष्टि रखना है। कृति क्या होना चाहती है, उसमे सूक्ष्म और अनागत कहाँ और किस प्रकार ध्वनित हो रहा है? हमे पूर्ण में से पूर्ण निकालना है और बचे हुए पूर्ण को नई सम्भावनाओं के विकास के लिए छोड देना है।

पश्चिम मे काव्यालोचन की एक दूसरी भी परम्परा है जो काव्य को जीवन से सपृक्त करती है और इस प्रकार कृति का समाधान माँगती है। प्लेटो ने काव्य को अनुकृति कह कर इस परम्परा का आरम्भ किया था और इसी परम्परा मे काव्य को जीवन की आलोचना, पलायन अथवा प्रतीकीकरण माना गया। प्लेटो से क्रोचे और सार्त्र तक काव्य का जीवन से नाता जोडने की परम्परा चलती है। यह परम्परा काव्य को प्रतिक्रियात्मक मानती है और उसकी स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष सत्ता के प्रति अविश्वासी है। इसमे जहाँ एक ओर जीवन को परिवेश मात्र तक सीमित रख कर काव्य की समाज के प्रति गतिशीलता-प्रगतिशीलता अथवा स्वीकार-विरोध की बात उठाई गई है, वहाँ दूसरी ओर जीवन को सूक्ष्म रूप मे ग्रहण कर उसे चरम सत्य का पर्यायवाची माना गया है। अत काव्य साधना सत्य की खोज बन जाती है और कवि से आशा की जाती है कि वह रूपो के पीछे सत्य को पकडे या शब्दों के परदे के भीतर झाँक कर 'सत्य' से हमारा साक्षात्कार कराये। रोमांटिक कवियों, प्रीरेफिलाइट कवियों, प्रतीकवादियो, अभिव्यञ्जनावादियों तथा अस्तित्ववादियो के प्रयत्न इसी दिशा मे हैं। अत काव्य दर्शन बन जाता है। यूरोप मे दर्शन बौद्धिक है, वह तर्कवाद पर आधृत है, साक्षात्कार पर नहीं। फल यह हुआ है कि पूर्वी देशो में सत्य से साक्षात्कार की माँग धर्म या दर्शन का विषय है, पश्चिम में यह माँग कवियों से की गई। कवियों ने इस भ्रांति के निर्माण में पूर्ण सहयोग दिया क्योंकि इससे कवि पैगम्बर बन सकता था और उसे वह *मान्यता मिल सकती थी जो औद्योगिक-यांत्रिक सभ्यता मे उसे नहीं* मिल सकी थी। परन्तु इससे काव्य वैचित्र्यमय, गुह्य तथा साम्प्रदायिक बन गया। पश्चिमी काव्य मे 'वादों' की निरन्तर वृद्धि के मूल मे काव्य-हेतु के सम्बन्ध मे भ्रान्त धारणाओं की अवस्थिति ही समझी जानी चाहिए। जिस प्रकार कला मात्र को समान तथा विनिमयशील मान कर काव्य के क्षेत्र मे चित्रकला, संगीत तथा मूर्ति-कला के सिद्धान्तों का आरोप हुआ है, उसी प्रकार दर्शन तथा धर्म का स्थान भी

नहीं पहुँचती । इस सारे ज्ञान और विमर्श के बावजूद भी बहुत कुछ आस्वादनीय रह जाता है और वही शेष कदाचित् अधिक महत्वपूर्ण है । जिसे हमने अनिवार्य माना है, वह तो 'किंचित्' मात्र है, वह निश्चय ही गर्भगृह नहीं है जहाँ भारती का सिंहासन है । काव्य यदि 'सृजन' है तो वह 'घटना' है । उसे गतानुगत से व्याख्यापित नहीं किया जा सकता ।

आधुनिक युग में यह आग्रह स्पष्ट दिखलाई देता है कि काव्य को इतिहास, कविवृत्त, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, भाषाशास्त्र अथवा सौन्दर्य शास्त्र के द्वारा ग्रहणीय बनाया जाये । कारण स्पष्ट है । आज काव्य उपेय नहीं है,उपाय है । वह स्वतन्त्र तथा परिपूर्ण साक्षात्कार नहीं है । इसीलिए हम आज मध्ययुग के भक्त कवियों की अन्तरात्मा तक नहीं पहुँच पाते और उनकी सिद्धियों को छोटा कर देते हैं । मध्ययुग में साहित्य, साधना और संगीत एकाकार हो गये थे क्योंकि तब कविता साक्षात्कार का साधन थी, या स्वयं साक्षात्कार थी । यह साक्षात्कार अनुपम, रसमय तथा अपूर्व सौन्दर्यमय था । भक्ति युग में इष्टदेव की 'लीला' को इसका विषय बनाया गया और रीति-युग में नारी की अप्रतिम रूपदीप्ति अथवा हृदय माधुरी को, जो मिलन तथा वियोग के दो सन्दर्भों में झंकृत थी । आधुनिक युग के बुद्धिवाद ने इस योगायोग को खण्डित कर दिया है । कदाचित् हम यह भी मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि काव्य की अपनी साधना है और उसके सौन्दर्यबोध तथा आनन्दकोश का अपना निश्चित स्वरूप है । हमने काव्य के क्षेत्र से संगीत को बहिष्कृत कर दिया है । काव्य संवेदनशील हृदय की सृष्टि है । शास्त्र तोड़ता है, काव्य जोड़ता है । इस सत्य को हम भूल गये हैं । इसीलिए बुद्धि के भारी बाटों पर काव्य की कुसुम-कोमल पखुड़ी तुल नहीं रही है ।

आवश्यकता इस बात की है कि हम काव्यालोचन की सीमाओं को ध्यान में रखें और यह मानें कि किसी भी एक अर्थ या भावबोध में कृति निःशेष नहीं हो जाती । विभिन्न संवेदनशील हृदयों को एक ही कृति अनेक प्रकार से और अनेक स्तरों पर स्पर्श करेगी । हम यह भी न मान लें कि किसी भी कृति में कवि का सारा चेतनीय अथवा अवचेतनीय अभिप्राय समाया हुआ है । क्यों और कैसे, विज्ञान के प्रश्न हैं । काव्य का प्रश्न है 'क्या' । यह 'क्या' स्वयं कवि के लिए अनबूझा रह सकता है, या यह भी संभव है कि इसका कोई भी आभास कवि के मन में नहीं हो, कृति ने ही उसके मन के अनुरूप प्रश्न को अन्त में आकार दिया हो या समाधान में बाँधा हो । ऐसी स्थिति में कोई भी समालोचक हमें कवि की अनुभूति नहीं दे सकता—समालोचक का यह दावा गलत ही है कि वह कवि की आँखों से देख सकता है । परन्तु वह सहृदय भावक पाठक को कृति को देखने की दृष्टि अवश्य दे सकता है । यही उसका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिये । समालोचना के द्वारा कलाकृति की व्याख्या एकांगी सत्य है, वह काव्य का अन्तरंगी सत्य नहीं है । यदि यह कहा जाये कि हम समालोचना के द्वारा काव्य-रुचि का संस्कार कर सकते हैं तो हम कदाचित् सत्य के अधिक निकट हों । वास्तव में समालोचना का लक्ष्य काव्यानन्द की वृद्धि ही होना चाहिये । काव्यानन्द में बोधन और भावना की दोनों प्रक्रियाएँ संश्लिष्ट हैं

जिनमें एक बौद्धिक है, दूसरी रसात्मक। 'बोध' से यह तात्पर्य नहीं कि काव्यवस्तु का शास्त्रगत अथवा भाषागत अध्ययन किया जाये। वह अत्यन्त सूक्ष्म तत्व है जो औचित्य, सन्तुलन तथा मर्यादा से सम्बन्धित है। वास्तव में 'बोध' में 'आह्लादन' प्रक्रिया स्वतः सन्निहित है। इस प्रकार का बोध हमें काव्यानन्द के लिए उपयुक्त कृतियों के चुनाव में सहायक हो सकता है। शास्त्रज्ञान इसी बोध की चरण-पीठिका बन कर सार्थक हो सकेगा। वह स्वयं इसका स्थान नहीं ले सकता। रसास्वादन या काव्यानन्द का प्रश्न इसके पश्चात् आता है और वही अन्तिम, अतः, मूलगत प्रश्न है। सच तो यह है कि काव्यानन्द के प्रश्न का समाधान पाठक (या श्रोता) में है, समालोचक कृति को पाठक तक पहुँचा कर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर लेता है।

ऊपर जो कहा गया है उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाये कि काव्यालोचक के लिए शास्त्रज्ञान अपेक्षित ही नहीं है, या कि हम 'विशुद्ध' काव्य के समर्थक हैं। काव्य के क्षेत्र में विशुद्धता की बात यूरोप का दूसरा भ्रम है, जिसका अपना इतिहास है। हमारा तात्पर्य यह है कि काव्य को काव्य ही माना जाये और उसकी व्याख्या के लिए शास्त्रज्ञान के उपयोग की सीमाएँ निर्धारित कर ली जाये। समीक्षक का लक्ष्य काव्यानन्द ही है, व्याख्या नहीं। उसकी रचना कृति और पाठक के बीच के व्यवधान को हटा सके तो हम उसे सार्थक समझेंगे।

परन्तु प्रश्न यह है कि कृति और पाठक के बीच में कुछ व्यवधान तो रहेगा ही। कवि का व्यक्तित्व, उसका युग तथा उसकी वैचारिक सीमाएँ, भाषा, शैली—ये सब क्या हम भुला सकेंगे? इनमें से प्रत्येक अपने स्थान पर ठीक है परन्तु उसकी सार्थकता यही है कि वह हमें कृति की दहलीज पर छोड़ कर विदा ले ले। क्या यह उचित नहीं है कि हम देश-काल की सीमाएँ लाँघ कर कवि का स्वागत करें? और यह स्मरण रखना होगा कि ये सीमाएँ हमारी ही सीमाएँ नहीं हैं, वही कवि की भी सीमाएँ हैं। हम कवि की अनुभूति को तात्कालिक (अथवा समसामयिक) स्तर पर ग्रहण करें। अतीत के आवरण को हटा कर हम अनुभूति के दीप्त मुख की ओर झाँकें। शताब्दियों के पार जाकर और महाद्वीपों का अन्तर रहने पर भी मनुष्य का हृदयस्पन्दन अनुभूति के प्रथम संस्पर्श से पुलकित हो सकता है, क्योंकि मनुष्य के संस्कार बदल जाने पर भी उसका हृदय बदला नहीं है। उस प्राथमिक, तरल और चिरजाग्रत अनुभूति-क्षण को हमें पकड़ना है जो कृति के व्यक्तिगत अथवा ऐतिहासिक कवच के भीतर अब भी प्रकाश की भाँति दीप्तिमान है। हमने कविता के बोध-पक्ष को इतना महत्त्व दे दिया है कि उसका भावपक्ष दुर्बल हो गया है। हमें दोनों में संतुलन स्थापित करना है। नहीं तो भय यह है कि कहीं विज्ञान काव्य पर हावी न हो जाये अथवा काव्य की रसग्राहकता निरी व्यक्तिगत तथा प्रभाववादी वस्तु न रह जाए।

इसी भूमिका पर हमें काव्य के सार्वभौम तथा स्थिर मानों की आवश्यकता पर भी विचार करना है। हमारे पास ऐसे सुनिश्चित मान हैं और प्राचीनों ने काव्य-रचना तथा काव्यास्वादन के लिए उनका व्यापक रूप से उपयोग किया है। पश्चिम ऐसे मानों की खोज में है। क्या यह आवश्यकता नहीं है कि हम उन प्राचीन मानों

को फिर एक बार टटोलें और उन्हें अपने युग के अनुरूप नया स्वरूप दें ? पूर्वजों ने कुछ संचित निधि हमें उत्तराधिकार में दी है। उससे हम नये सिक्के ढाल सकते हैं या नहीं, यह तो विचारणीय रहेगा ही, भले ही मौलिक रूप से हम इस सामग्री का उपयोग न कर सकें। निष्कर्ष यह है कि काव्य और समालोचना का सम्बन्ध सतही, परम्परित तथा बौद्धिक न रह कर अन्तरंगी, नैरंतरिक तथा हार्दिक हो सके तो काव्यानन्द हमारी संस्कृति का अविच्छिन्न अंग बन जाये। सहस्रों वर्षों पहले इस देश के ऋषियों ने उषा-विषयक् ऋचाओं में मानव के काव्यानन्द को छान्दस् की गम्भीर वाणी दी है। अभी कल तक हमारे कण्ठों में वाल्मीकि, कालिदास, जयदेव, सूर और तुलसी के गति-स्वर ध्वनित थे। फिर क्या कारण है कि आज हम काव्य के प्रति संकोची हों और उसे संशय की दृष्टि से देखें। काव्य और समालोचना के प्रकृत सम्बन्ध के विषय में नवमूल्यांकन की व्यवस्था हमें शीघ्र ही करनी होगी।

: १३ :

कविता में व्यक्तित्व की खोज

कविता में कवि-व्यक्तित्व की खोज का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। प्राचीनों ने इस बात पर कभी भी संदेह नहीं किया कि श्रेष्ठ काव्य कवि के अन्तरतम् की वाणी है। भारतीय परम्परा में कवि को 'ऋषि' कहा गया है जिसकी अनेक व्युत्पत्तियाँ स्थापित की गई हैं[1]। सायण ने अपने ऋग्वेद-भाष्य में 'ऋषि' शब्द का सम्बन्ध 'दृष्' धातु से स्थापित किया है, परन्तु यहाँ दर्शन ही ओपमान्य है। तात्पर्य यह है कि ऋषि या कवि मूलतः 'द्रष्टा' है और उसका देखना मात्र आँखों का देखना नहीं है, सम्पूर्ण व्यक्तित्व से साक्षात्कार है। व्युत्पत्ति चाहे जो ठीक हो, 'ऋषि' शब्द में काव्यदृष्टि तथा संतदृष्टि, इंद्रियेतर ज्ञान, नैतिक धारणा तथा आत्मानन्द को आत्मसात् कर लिया गया है[2]। भारतीय काव्य-चिंतन में 'रस' का स्थान सर्वोपरि है, परन्तु 'रस' की व्याख्या व्यावहारिक होते हुए भी उसमें कवि के व्यक्तित्व का बाध नहीं है, क्योंकि रस का मूल भोक्ता कवि है। काव्य का मूलाधार मनोविकार अथवा चित्तवृत्तियाँ हैं और ये कल्पित वस्तुएँ नहीं, अनुभूत सत्य हैं। एक ही अनुभूति सूक्ष्मता, गांभीर्य और व्यापकता में अनेक भिन्न कोटियाँ ग्रहण कर सकती है और इनके अनुरूप ही काव्य की रस-कोटि में अन्तर हो सकता है। प्रतिभा और सामर्थ्य कवि-व्यक्तित्व के निर्माण की महत्त्वपूर्ण इकाइयाँ हैं और इन्हें उद्घटित किये बिना हम काव्यगत अनुभूति के प्रति सम्यक् न्याय नहीं कर सकेंगे। यह स्पष्ट है कि रस-स्रोत बाहर नहीं हैं, कवि के भीतर हैं। क्योंकि आभ्यंतरिक बन कर ही बाह्य काव्य का विषय बन सकता है। परन्तु इस आभ्यंतर को हम कैसे ग्रहण करें ? क्या कवि की कृति के बाहर उसका कहीं अस्तित्व है ? कवि ने पूर्ववर्तियों का कहाँ तक मंथन किया है और उसकी कृति के ज्ञानमूलक स्रोत कहाँ खुलते हैं, ये हम जानना चाहें तो जान सकते हैं, परन्तु कविता का अन्तरंग तथ्य नहीं है, अनुभूति सत्य है जो इस प्रकार विश्लेषण का विषय नहीं बन सकता। कवि तक हम पहुँच नहीं सकते, कृति ही हमारी सीमा है। परन्तु कृति क्या कवि का व्यक्तित्व नहीं है ?

इस संदर्भ में 'चरित्र' और 'व्यक्तित्व' दो भिन्न शब्दों का प्रयोग समस्या को और भी उलझा देता है। यह कहा गया है कि कवि का चरित्र नहीं होता

---

1. देखिए V. G. Rahurkar. 'The Word Rṣi in the Vedas'—Bulletin of the Deccan College Research Institute, Vol. 18, Taraporewala Memorial Volume, Jan. 1957, pp. 55-57.

2. Poetic and prophetic vision, Super-sensual knowledge, righteousness and ecstacy (वही, पृ० ५७)

व्यक्तित्व होता है जो उसके काव्य में प्रस्फुटित होता है। अतः काव्य में कवि का चरित्र खोजना भ्रामक है अथवा, दूसरे शब्दों में काव्य में कवि अपने चरित्र से ऊँचा उठ सकता है या निचला ठहर सकता है क्योंकि चरित्र कवि के दैनंदिन कार्य व्यापारों तथा संवेदनों की सृष्टि है। वह भौतिक है, मार्मिक नहीं। व्यक्तित्व चरित्र का उदात्तीकृत रूप है जो आत्मिक गुणों का प्रकटीकरण है। भौतिक प्रतिक्रियाओं के आधीन होने के कारण व्यक्तित्व उसके विपरीत भी हो सकता है। सामान्य मनुष्य में भी चरित्र और व्यक्तित्व के दो 'कोष' हैं तो प्रतिभाशाली मनुष्य (कवि अथवा कलाकार) में तो यह द्वैत और भी अधिक अनिवार्य होगा। इसीलिए महान् कवियों और कलाकारों की कृति को हम उनके तथाकथित 'चरित्र' की कसौटी पर नहीं कस सकते। यह आवश्यक नहीं है कि कवि या कलाकार में अनिवार्य रूप से 'चरित्र' और 'व्यक्तित्व' का वैपरीत्य हो ही, परन्तु कृति में चरित्र की अपेक्षा व्यक्तित्व की खोज ही अधिक सफल होगी। कवि कालिदास व्यक्ति कालिदास से भिन्न भी हो सकते हैं और समरूप भी, परन्तु उनकी कृतियों में हम व्यक्ति कालिदास के दर्शन करने का ही आग्रह क्यों करें? कविता का मूल रसानुभूति है जो आत्मा का गुण है, मनोविकारों का नहीं। अतः चरित्र की भूमि पर कवि-व्यक्तित्व की खोज अतिवादी ही रहेगी।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में फ्रांस से जीवनपरक समीक्षा का आरम्भ हुआ और सैंट बूव ने सर्वप्रथम उसे शास्त्र की मान्यता दी,—कि प्रत्येक कवि और कलाकार का उसकी प्रकृति के अनुसार अध्ययन किया जाय। व्यक्ति और कृतित्व के इस समीकरण का फल यह हुआ कि सैंट बूव ने कलाकार की दैहिक विकृतियों से लेकर उसकी दिनचर्या तक का सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन किया। इस प्रकार कलाकार से कृति तक पहुँचने का प्रयत्न हुआ परन्तु कलाकार के परिवेश को केन्द्र बिन्दु बना कर भी सैंट बूव ने कुछ निबन्ध लिखे और बाद में उनके शिष्य टेन ने इस क्षेत्र का विशेष विस्तार किया। कृति के पीछे जाति, परिवेश और युग (रेस, मोमेण्ट एण्ड मिल्यू) का महत्त्व स्थापित करते हुए टेन साहित्य के सामाजिक आधार को महत्त्व देता है जिसकी परिणति हमारे अपने युग की मार्क्सवादी समीक्षा में मिलेगी। इस प्रकार साहित्य धीरे-धीरे व्यष्टि से चल कर समष्टि तक पहुँचा और कवि के निजी व्यक्तित्व का स्थान युग-मानस ने ले लिया।

परन्तु इसके साथ ही गेटे से एक नई विचारधारा का आरम्भ हुआ कि कला का स्रोत रुग्ण मानस है,—कला-सृजन ऐसा ही है जैसा रोग दूर करने के लिए नाड़ी खोलना। इसी सूत्र के आधार पर शोपनहावर ने कलाकार के बलिदानीपन की कल्पना की और कला को पीड़ाजन्य बताया। नीत्शे के विचार में कला आत्मपीड़न से कुछ अधिक है,—वह रोग का फल ही नहीं है, उसका आलेखन भी है। अर्थात् कला कलाकार की अवचेतनीय आत्मकथा है। इस विचार-परम्परा को आगे बढ़ाते हुए मैक्स नार्डन ने अपनी एक पुस्तक 'डीजेनेरेशन' में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्रतिभा स्नायविक विकार मात्र है। मोती जिस प्रकार सीप का विकार है, उसी प्रकार कला कलाकार की आत्मपीड़ा का आलेखन, फल अथवा उदात्तीकरण है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के फ्रांसीसी प्रतीकवादी लेखक (मेलार्मे, रिम्बो और वरलें) भी कला को अस्वस्थ मानस की उपज मानते हैं।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला और साहित्य में कलाकार के स्वस्थ और अस्वस्थ क्षणों की खोज की गई है और अन्त में विकृतियों को ही कला मान लिया गया है। उसे सम्पूर्ण और अन्तर्योजित व्यक्तित्व की अभिव्यंजना न मान कर खण्डित, रुद्ध अथवा रुग्ण मानस की अभिव्यक्ति समझा गया है। निश्चय ही यह दृष्टि विज्ञानवादी-बुद्धिवादी संस्कृति की उपज है जो भावनाओं के प्रति शंकालु है और उन्हें अस्वस्थ, असंतुलित और भावुकता-मात्र मानती है। एक तो कलाकार के व्यक्तित्व को इन सीमित संदर्भों मे देखने की दृष्टि ही विकृत है जो 'कृति' के साथ न्याय नहीं करती, दूसरे उससे हमें 'कृति' के समझने में कोई सहायता नहीं मिलती। सम्भवतः इसीलिए प्रतिक्रिया-स्वरूप कलाकारों का एक वर्ग (पॉउण्ड, इलियट आदि) काव्य को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति न मान कर व्यक्तित्व मे पलायन मात्र मानता है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्तित्व उपार्जनीय नहीं है, तिरस्करणीय है। एक स्थान पर इलियट ने काव्य को संवेदनाओं का बाध माना है। इससे जान पड़ता है कि व्यक्तित्व संवेदनात्मक होने के कारण ही उन्हें अमान्य है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि हम व्यक्तित्व को इन छिछले अर्थों में ही क्यों लें,— क्या मनुष्य केवल भावनाओं का पुंज है, या उसके व्यक्तित्व में विचारों का कोई योग नहीं होता। अथवा क्या भावों और विचारों से भी कोई ऊँची भूमि व्यक्तित्व के लिए संभव है? आधुनिक काव्य-विवेचकों ने कविता की प्रेषणीयता पर गम्भीरता से विचार किया है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अर्थबोध प्रेषणीय होकर ही रसबोध बनता है, परन्तु अर्थबोध प्रतिरूप (आब्जेक्टिव को-रिलेटिव्ज़) के माध्यम से ही भावना से संश्लिष्ट होकर काव्य और कला का रूप ग्रहण करेगा, कला के क्षेत्र में उसकी स्वतन्त्र और निरपेक्ष सत्ता नही है। परन्तु प्रतिरूपों को आज का समीक्षक बौद्धिक ही अधिक मानता है, उन्हें कवि के अन्तर्योजित व्यक्तित्व और 'समाधि' (अन्तर्योग) की देन नहीं मानता। भारतीय रसदृष्टि में मनोविकारों या भावों के उदात्तीकरण अथवा लोकोत्तरीकरण पर बल है परन्तु यह कही नहीं कहा गया कि विवेक-दृष्टि से रस-दृष्टि का कोई विरोध है या रस में बौद्धिक उपकरण आत्मसात् नही हो सकते। प्रज्ञा ज्ञान का विषय है तो भावना रस का। एक का अन्त दर्शन है, दूसरे का रस। दोनों में ही व्यक्तित्व का प्रसार होने के कारण लोकोत्तर आनन्द की उपलब्धि होती है परन्तु आनन्द की कोटि मे अन्तर है। एक को ब्रह्मानन्द की संज्ञा दी गई है तो दूसरे को 'रस' (ब्रह्मानन्द-सहोदर) कहा गया है। काव्यानन्द को साक्षात्कार के आनन्द के समकक्ष रख कर भारतीय काव्यचिन्तक ने काव्य की अतीन्द्रियता, लोकोत्तरता तथा पवित्रता की घोषणा कर दी है और इस प्रकार उन अनेक प्रश्नों को समाधान मिल गया है जो आज पश्चिमी जगत के सामने हैं। काव्य में नैतिकता का क्या स्वरूप है, काव्य का अन्तिम लक्ष्य क्या है, उसमें आत्मप्रवंचना है या आत्मोपलब्धि, उसकी प्रेषणीयता का प्रश्न कैसे हल हो, ये कुछ पश्चिमी प्रश्न हैं। इसी प्रकार का एक प्रश्न कविता

में व्यक्तित्व की स्थिति से सम्बन्धित है। परन्तु पश्चिमी व्यक्तित्व का चरम उत्कर्ष बुद्धि को मानता है और इससे आगे नहीं जाना चाहता। बुद्धि को अन्तिम सत्य मानने पर प्रेषणीयता का प्रश्न भी जटिल हो जाता है क्योंकि कवि अपनी बात को पाठक तक कैसे पहुँचाये। संवेद्य की समानता में भी आज के बुद्धिजीवी समीक्षक का विश्वास नहीं है। फलत वह प्रतिरूपों, प्रतिमानों और बिम्बों को लेकर 'वादों' में उलझ गया है। जहाँ एक ओर वह काव्य को भावनाओं तक ही सीमित न रख कर उसमें बुद्धि व्यापार (प्रज्ञा) का भी योग देखना चाहता है, वहाँ दूसरी ओर उसने 'विशुद्ध काव्य' (प्योर पोयट्री) की खोज भी जारी की है। परन्तु काव्य की विशुद्धता अन्तर्योग की विशुद्धता है। संवेद्य की जिस ऊँचाई से कवि पाठक के हृदय को छूता है, वही उसके भाव-लोक को ऊचाई देती है। पश्चिम ने सौन्दर्य को साक्षात्कार का साधन नहीं माना है, इसी से वह उसके प्रति वितृष्ण है, साथ ही शंका-ग्रस्त भी है। प्रज्ञात्मक काव्य का अपना सौंदर्य है। उपनिषद् और गीता इसके उदाहरण हैं। परन्तु काव्य की रस संवेदना प्रज्ञाविरोधिनी नहीं है क्योंकि 'रस' में प्रज्ञा का समाहार संभव है। कालिदास ने 'मेघदूत' में केवल भावना का ही उपयोग नहीं किया है, कृति का शिल्प, विस्तार और प्रौढत्व स्पष्ट रूप से प्रज्ञात्मक है। सच तो यह है कि जहाँ पश्चिम की 'विशुद्ध काव्य' की खोज एकदम हास्यास्पद हो गई है, वहाँ काव्य को बौद्धिक चेतना (प्रज्ञा) का पर्याय मात्र मान कर उसने अपने लिये उलझनें पैदा कर ली हैं क्योंकि रसात्मक संवेदना का बौद्धिक चेतना के द्वारा प्रकाशन, एवं ग्रहण उसी तरह असंभव है जिस तरह परिपूर्ण बौद्धिक पर्यायों को संवेद्य बनाने का प्रयत्न अन्त में औपचारिक ही ठहरता है।

प्रश्न काव्य में कवि-व्यक्तित्व के उपयोग का है। यह स्पष्ट है कि पश्चिम में भी इस सम्बन्ध में दो विरोधी मत हैं। जहाँ एक ओर इलियट काव्य को व्यक्तित्व का निरन्तर बलिदान मानते हैं[1], वहाँ वैलेस स्टेवेन्स का कहना है कि व्यक्तित्व के अभाव में काव्य ही असम्भव बन जाता है। वास्तव में व्यक्तित्व सम्बन्धी विचार-धारा के ये दो अन्तिम छोर हैं।

व्यक्तित्व से क्या तात्पर्य है, यह भी जानना आवश्यक है। राबर्ट हेन के अनुसार व्यक्तित्व से तात्पर्य कवि या कलाकार की सर्जन क्षण की मनःस्थिति से है। इसे ही हर्बर्ट रीड ने कलाकार के मन की विशेषता कहा है जो उसकी कला में अनिवार्य रूप से प्रगट होगी। यदि व्यक्तित्व से यही तात्पर्य है तो उससे विरोध होना असम्भव है। परन्तु फिर प्रश्न यह होता है कि क्या कवि अथवा कलाकार जानबूझ कर व्यक्तित्व को कृति में उपसरित करता है। इलियट की यह धारणा ठीक हो सकती है कि कोई भी कलाकार इच्छापूर्वक कला में अपने व्यक्तित्व की अभि-

---

1 The progress of an artist is a continual self-sacrifice, a continual extinction of personality the more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates the more perfectly will the mind digest and transmute the passions which are its material '

(*T.S Eliot Selected Essays, pp 7 7–8*)

व्यंजा नहीं करता। कलाकार का व्यक्तित्व प्रच्छन्न रूप से ही कलाकृति में अभिव्यक्ति पाता है। अपनी बाद की एक रचना में तो इलियट सार्वभौमिक व्यक्तिमत्ता को ही कलाकार की निर्वैयक्तिकता कहने लगे हैं। इसमें संदेह नहीं कि कवि या कलाकार सदैव ही व्यक्तिगत समस्या को महत्व नहीं देते, वे उसे वस्तून्मुख तथा सार्वभौम बना कर प्रस्तुत करते है, जैसा कॉलेरिज के काव्य 'एन्श्येण्ट मेरिनर' में हुआ है, और यह भी सम्भव है कि कवि व्यक्ति रूप में महत्वपूर्ण अपनी अन्यतम भावना को कला का रूप दे ही नही सके। कलाकार के सर्जक व्यक्तित्व और कामकाजी व्यक्तित्व में सब दिन समानता ही रहे, ऐसा आग्रह ठीक नही है, परन्तु सर्जनशील व्यक्तित्व अनिवार्यतः कलाकृति में रहेगा, नही तो उसके अभाव से कला की हानि होगी। कृति कलाकार के व्यक्तित्व से अधिक बड़ी और संजीवनी हो सकती है, जैसा कीट्स की रचनाओं के सम्बन्ध में कहा गया है, परन्तु यहां कवि कीट्स से तात्पर्य नहीं, व्यक्ति कीट्स से ही तात्पर्य ठीक रहेगा। आज की मांग है कि कवि अपने चारों ओर की व्यक्तिपरक संवेदनाएँ नही दे जो सामान्य और निर्विशेष हों, परन्तु कवि पहले व्यक्ति है, कवि बाद में है। व्यक्ति और कवि को हम द्वन्द्वात्मक रूप में क्यों ग्रहण करें?

इन दोनों पक्षों के समाधान की भी चेष्टा हुई है, अर्थात् कवि-व्यक्तित्व की सार्वभौमिकता एवं निर्वैयक्तिकता को उपमानों के माध्यम से प्रगट किया गया है। फ्लाबेर का कहना है कि कवि अपनी रचना में स्रष्टा की भांति रहता है, सर्वव्यापी परन्तु अव्यक्त। हेनरी जेम्स के अनुसार सफल कलाकार अपनी कृति में एकदम लुप्त हो जाता है, कृति के असफल होने पर ही हम उसे खोजने बैठते हैं, पहले नहीं। 'नेगेटिव परसनेल्टी' की भी बात उठाई गई है और कीट्स तथा ऑडन जैसे कवियों पर लागू भी की गई है। यह भी कहा गया है कि व्यक्तित्व ही कवि-वाणी को पहचान देता है, जैसा तूंबा तारों को मूर्च्छना देता है। सच तो यह है कि हम कृति में कविव्यक्तित्व के इसी सूक्ष्म, अगोचर और दुर्ग्राह्य संस्पर्श को ही महत्व दे सकेंगे, कवि-चरित्र की स्थूलता और उसकी व्यक्तिगत असामान्यता न तो कृति के साथ न्याय करती है, न कवि के साथ। यह भी कहा जा सकता है कि कृति में कवि का व्यक्तित्व नहीं मिलेगा, कवि की आँखें मिलेंगी जो हमें उसकी सृष्टि से बांध देंगी। उसे कलाकार के व्यक्तित्व का उदाहरण मात्र समझना ठीक नहीं होगा। कृति क्या कहती है, इससे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उसका कैसा प्रभाव पड़ता है, अथवा वह किस कोटि की चेतना जाग्रत करती है। इस चेतना के निर्माण में कवि की आभ्यंतरिक प्रेरणा, उसकी अनुभूति की तीव्रता, सूक्ष्मता एवं गम्भीरता और उसकी बिम्बों तथा ध्वनियों को उद्दीप्त करने की सामर्थ्य का महत्व रहेगा। कवि की मानसिक जागरूकता, उसकी अन्तःस्फूर्ति और संवेद्यशीलता ही उसके व्यक्तित्व के श्रेष्ठ उपकरण हैं। शेष सब तथ्यमात्र है, सत्य उसे हम कैसे मान लें।

इस प्रकार व्यक्तित्व के प्रश्न का एक समाधान हमें मिल जाता है। वह समाधान यह है कि काव्य में व्यक्तित्व के जिस रूप का योग होता है, वह व्यक्ति

कवि के बहिर्जीवन का लेखाजोखा नही होता, वह अन्तर्मन की प्रतिच्छाया होता है। उसमे कवि-जीवन का तथ्य नही, सत्य बँधता है। कवि की दुर्बलताओ और विकृतियो से उसे सीधी रेखाओं से जोडा नही जा सकता। फ्राइड ने अवचेतन को महत्व देकर काव्य को असामान्य अथवा विकृत बना दिया है। काव्य क्षतिपूर्ति अथवा स्वप्नमात्र है, ऐसा मानने का अर्थ यह हुआ कि उसमे कवि के चेतन मन और स्वस्थ सस्कारो का उपयोग ही नही होता। स्पष्ट ही यह दृष्टि एकागी है क्योकि अवचेतन ही व्यक्तित्व नही है, उसमे चेतन उपलब्धियाँ भी समाहित है। चेतन-अवचेतन दोनों चित्तभूमियो पर चलने पर ही कवि श्रेष्ठ काव्य का निर्माण कर सकेगा क्योकि काव्य अनुभूति मात्र नहीं, वह अभिव्यजना भी है। अनुभूति मे भले ही अवचेतनीय चित्तभूमियो का उपयोग हो, अभिव्यजना के लिये तो सचेतन (या अतिचेतन) मन चाहिये। अत काव्य मे सपूर्ण, अविभक्त और सूक्ष्म व्यक्तित्व का उपयोग वाछनीय है जो आत्मानुभूति को श्रेष्ठ शिल्प का रूप दे सके और जिससे मन के सभी स्तरो को समानरूप से तोष मिले। ऐसी उच्च भूमि पर व्यक्तित्व साधारणीकृत, निर्वैयक्तिक और प्रज्ञात्मक बन जाये तो आश्चर्य नही है।

: १४ :

महाकाव्य और जीवन

(१)

जीवन की अन्तरंगी और बहिरंगी प्रेरणाएं ही साहित्य का विषय है, परन्तु साहित्य के सभी रूप जीवन की इन दो भूमियों को समान रूप से नहीं अपनाते। साहित्य-विधाओं के क्रमागत इतिहास और तत्सम्बन्धी विवेचना से इस तथ्य का पता चल जाता है। अरिस्टाट्ल और होरेस साहित्य की प्रतिनिधि अभिव्यक्ति के लिए दुःखान्त और महाकाव्य के दो भेद करते हैं यद्यपि अरिस्टाट्ल और भी व्यापक जाकर साहित्य को नाटक, महाकाव्य और प्रगीति में विभाजित करता है। गद्य-पद्य के भेद को हम दूर रख सकें तो आज भी कथा (उपन्यास, कहानी, महाकाव्य), नाटक (गद्य-पद्य) और काव्य (प्रमुखतः प्रगीति) के रूप में साहित्य की तीन सर्वमान्य श्रेणियां स्पष्ट ही दिखलाई देंगी। इनमें कथा मुख्यतः बहिरंगी जीवन और प्रगीति अन्तरंगी जीवन की अभिव्यक्तियां है और नाटक में दोनों ही जीवन-भूमियां अलग-अलग और मिली जुली चलती है। इस प्रकार हम महाकाव्य को प्रगीति के एकदम विपरीत बहिर्मुखी चेतना का प्रकाशन मान सकते है। जहां प्रगीति मे स्वयं कवि बोलता है और नाटक मे नाटककार पात्रों के पीछे छिप जाता है, वहां कथा में अंशतः कवि स्वयं बोलता है और अंशतः पात्रों के माध्यम से। इस प्रकार जीवन को ग्रहण करने के साथ-साथ उसकी अभिव्यंजना की सीमाएं भी बंध जाती है और फलतः तीनों साहित्य-कोटियों में भाव-गत भेद के साथ शिल्प-गत भेद भी चलता है। स्थूल रूप से हम यह कह सकते है कि महाकाव्य में बहिरंगी जीवन की प्रधानता रहती है, उसमें 'कथा' अपरिहार्य है और महाकवि अपनी रचना में पात्रों के ही माध्यम से बात नहीं करता, वह 'द्रष्टा' की भांति स्वयं भी जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण प्रगट कर सकता है।

परन्तु वह 'जीवन' क्या है जो महाकाव्य का विषय बनता है और उसकी 'बहिरंगिता' की क्या सीमाएँ है ? यह स्पष्ट है कि न तो पूर्व के आचार्य इस विषय में हमारे सहायक हो सकते है, न पश्चिम के पण्डित, क्योंकि महाकाव्य के सिद्धान्त ग्रन्थ या सिद्धान्त-वाक्य महाकाव्यगत जीवन की तलस्पर्शी परीक्षा करने के लिए तैयार नही है। इनका कारण यह है कि उन्होंने प्रस्तुत रचनाओं के ऊपर से अपने सिद्धान्त उपस्थित किये है और रचनाओं के जातिगत एवं कालगत भेद के अनुसार उनकी महाकाव्य की कल्पना में भेद पड़ गया है। उनकी विवेचना व्यावहारिक है, अतः सतही है। इन सतही व्याख्याओं के पार महाकाव्य मे बंधे जीवन के सार्वभौमिक

स्वरूप को उन्होंने उद्‌घाटित नहीं किया है।

महाकाव्य क्या काव्य की भूमि पर महत् होने के कारण महाकाव्य है, या महत् जीवन का स्रष्टा, व्याख्याता तथा उन्नायक होने के कारण महाकाव्य है, या वह दोनों ही भूमियो पर महत् है, इस सम्बन्ध मे भी विवेचना आवश्यक है। इसमें सदेह नही कि महाकाव्य में काव्य की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ समाहित होनी आवश्यक हैं और ये उपलब्धियाँ प्रगानन शृखलित और अतर्योजित प्रतीकों, सौन्दर्य-बद्ध प्रतिमानों, विस्तृत वर्णनो एव समृद्ध विवरणो के साथ-साथ महाकाव्य के कथानक की सुबद्धता, वास्तुमयता (आरकीटैक्टोनिक) तथा प्रतीकात्मकता को सिमेट कर चलती हैं जिससे महाकाव्य व्यष्टि-मानस का उद्‌गार न होकर राष्ट्रीय मानस अथवा समष्टि मानस का उद्‌घोष बन जाता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि काव्य की ये उदात्त भूमियाँ मात्र ही महाकाव्य को महार्घता नहीं देती, उसमे अभिव्यक्त जीवन का घनत्व, प्रतीकत्व तथा विराटत्व ही महाकाव्य का मूल सवेदन बन सकता है। परन्तु यह घनत्व, प्रतीकत्व तथा विराटत्व क्या है ? उसे कैसे पहचाना जा सकता है और महाकवि उसे पहचान कर किस प्रकार उसमे जातीय अथवा राष्ट्रीय स्पन्दनों का समावेश करता है ? क्या जातीय अथवा राष्ट्रीय जीवन मूल्यो मे परिवर्तन होने पर महाकाव्य के मूल्य भी बदल जाते हैं ? महाकाव्य मे सम्पुटित जीवन के 'महाकाव्यत्व' को नापने के लिए हमारे पास कौन-सा मापदण्ड है।

प्रथित महाकाव्यों को लें। होमर के 'इलियड' और 'ओडेसी' में अथवा वर्जिल के 'एनियड' में शौर्य, साहस, प्रतिकार और बलिदान की विराट् जीवन-भूमियाँ हैं जो महाकाव्य के पात्रों, विशेष रूप से नायक को, महाकार प्रदान करती हैं। वह देवताओं के साथ डग भरता है और उसके भाग्य पर देवगण भी ईर्ष्या करते हैं। इन महाकाव्यो में युद्ध की रक्तरजित गरिमा ही जीवन को विराटत्व देती है। अपने देश मे महाभारत, रामायण, पृथ्वीराज रासो और 'आल्हा' जैसे महाकाव्यो मे युद्ध के परिपार्श्वों को उभार कर ही विराटत्व की सृष्टि की गई है यद्यपि अपने यहाँ युद्धनीति का स्थान धर्म-नीति ने ले लिया है और युद्ध पर हमारी दृष्टि केन्द्रित नहीं रहती, उस महत् जीवन-मूल्य पर केन्द्रित रहती है जिसकी परीक्षा युद्ध-भूमि पर होगी। 'रासो' और 'आल्हा' व्यक्तिगत शौर्य, सामन्ती जीवनादर्श तथा महावीर नेता की प्रतिष्ठा करते हैं और उन्हें हम यूरोपीय महाकाव्यों के समकक्ष रख सकते हैं, परन्तु राष्ट्रीय अथवा मानवीय जीवन की जो अभिव्यक्ति महाभारत और रामायण मे मिलती है, वह जीवन-सम्बन्धी भारतीय दृष्टि है। पश्चिम मे नेता बड़ा है—अरिस्टाट्ल ने 'पोइटिक्स' में उसे बड़ा विस्तार दिया है, परन्तु पूर्व मे 'धर्म' बड़ा है, नेता इसलिए बड़ा है कि उसमे धर्म मूर्तिमान हुआ है। भारतीय महाकाव्य युगधर्म की वज्रग्रन्थि है, परन्तु उसमे शाश्वत मानवधर्म अथवा सार्वभौमिक रूप में धर्म की भी प्रतिष्ठा हुई है। महाभारत का केन्द्र 'भारत'-युद्ध न होकर 'गीता' है और अन्त मे 'सत्य जयति नानृत' मे ही उसकी सार्थकता प्रकट हुई है। गीता के अन्तिम श्लोक में इसी सत्य की अभिव्यक्ति हुई है कि कर्म से योग बड़ा है और भारतीय जीवन की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति केवल कर्म

अथवा शौर्य में न होकर धर्मबोध में है, 'योग' में है। इस धर्मबोध अथवा 'योग' में नैतिकता का श्रेष्ठतम समाहित है। अतः भारतीय महाकाव्य धर्म, नैतिकता, अन्तः-संहति तथा आध्यात्मिक उन्नयन का साधन है। महाभारत की अपेक्षा रामायण भारतीय महाकाव्य का कहीं अधिक व्यापक और श्रेष्ठ प्रतिनिधि ग्रन्थ है। उसमें सत्यनिष्ठा, त्याग, तपस्या एवं दाम्पत्य की साधना और राक्षसत्व के पराभव के महान् व्रत को ही राम-रावण-युद्ध के रूप में पूर्णाहुति प्राप्त हुई है। केवल युद्ध वाल्मीकि का ध्येय नहीं है, उसके पीछे राम-सीता का महान् दाम्पत्य प्रेम है। तुलसी तो राम-रावण-युद्ध को 'रामत्व' और 'रावणत्व' का शाश्वत संघर्ष ही बना देते हैं। रावणत्व के दिग्व्यापी दुर्घोष के बाद ही अयोध्या में राम का जन्म होता है और यही विरथ राम रथी रावण पर विजयी होते हैं क्योंकि वह धर्मरथ पर आरूढ़ हैं। विराट् जीवन की अभिव्यक्ति तभी महाकवि का विषय बनती है जब वह लोकमंगल की साधना के लिए हो और उसमें धर्म की उच्चतर और पूर्णतर अभिव्यंजना हुई हो। अत. भारतीय महाकाव्य बहिरंगी जीवन में आत्मा के श्रेष्ठतम उपकरणों को स्थापित करता है और उसमें चित्रित (अथवा सृष्ट) कार्यव्यापार आध्यात्मिक अथवा धार्मिक बोध के कारण ही महाकाव्य पर बनते हैं।

इस भूमिका पर देखें तो हम महाकाव्य में चित्रित जीवन के दो रूप देखते हैं : एक में रामायण-महाभारत की राष्ट्रीय परम्परा का निर्वाह करते हुए युग-धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप को अभिव्यक्त किया गया है। गुप्तयुग में कालिदास के महाकाव्य (कुमारसम्भव, रघुवंश), मध्ययुग में तुलसी का 'रामचरित-मानस' और आधुनिक युग में प्रसाद की रचना 'कामायनी' इसी कोटि के महाकाव्य हैं। इक़बाल की मसनवी 'इसरारे बेख़ुदी' और योगी अरविंद की रचना 'सावित्री' भी इसी श्रेणी की श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। इन रचनाओं में कथा, नायक एवं कृतित्व व्यापक धर्मबोध के प्रतीक होने के कारण ही महान् हैं। वे पौराणिक हो सकते हैं, या काल्पनिक, परन्तु उनमें राष्ट्रीय चरित्र की श्रेष्ठतम नैतिक अभिव्यक्ति के साथ आध्यात्मिक संदर्भ भी समाहित हैं, और उनके द्वारा नए युगधर्म को शाश्वत धर्म-मूल्यों से जोड़ने की चेष्टा स्पष्ट है। कालिदास में भौतिक जीवन को सौन्दर्यनिष्ठ, आध्यात्मिक तथा चरित्रवान् बनाने की स्पृहा है तो तुलसीदास ने अपने युग के भक्ति-धर्म को श्रेष्ठतम आन्तरिक मूल्यों से सम्वलित किया है और हमारे अपने युग में इक़बाल, प्रसाद और योगी अरविंद आधुनिक युग के महान् द्वन्द्वों के भीतर से आध्यात्मिक सम्पन्नता तथा एकनिष्ठा का मार्ग खोज रहे हैं। ये तीनों कवि दांते के महाकाव्य 'डिवाइन-कोमेडी' से परिचित हैं और इन्होंने गेटे के 'फ़ाउस्ट' की विराट् जिज्ञासा को नया भारतीय स्वरूप दिया है। इक़बाल अपने आध्यात्मिक गुरु श्रेष्ठ सूफ़ी मौलाना जलालुद्दीन रूमी के साथ ग्रह-नक्षत्रों में घूम कर मानव के अतीत और भविष्य की गुत्थियाँ खोलना चाहते हैं तो प्रसाद श्रद्धा का हाथ पकड़ कर ऊर्ध्वारोहण करते हुए 'चित्' दर्शन के सामाहारिक रूप में आधुनिक मनुष्य को नया समन्वय देने का उपक्रम करते हैं। योगी अरविन्द इन दोनों से भी ऊँचे उठ कर अतिमानस के भव्य लोकों का संचरण

करते हैं जिससे भविष्यत् जीवन की औपनिषदिक अन्तस्थ एकता का संदेश दे सकें। इन महाकवियों ने महाकाव्य को शिल्प के माध्यम से नहीं पहचाना है और जीवन की ओर देखने वाली उनकी दृष्टि स्थूल नहीं है। वे बहुत दूर तक दार्शनिक कवि हैं, या विचारक-कवि हैं। उपनिषद् के शब्दों में हम उन्हें 'धीर' कह सकते हैं। उनके महाकाव्य उनकी अन्तर्समाधि का वाणी-मन्दिर हैं। उनका शिल्प काव्य नहीं, आत्मा का शिल्प है, अतः उसका विश्लेषण असम्भव है। महाकाव्य इन महाकवियों के लिए सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' की साधना है, भावयोगात्मक अन्तर्यात्रा है। अन्तर्जीवन के महान् सत्यों के आलोक में ही उन्होंने बहिर्जीवन की देव-प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की हैं। उन्हें हम केवल *'क्लासिकल'* कह कर ही सन्तुष्ट नहीं हो सकते। वे महत् जीवन के उद्गाता हैं और उनकी क्रान्तदर्शिता में राष्ट्रीय एवं मानवीय चेतनाओं के विराटतम एवं सूक्ष्मतम पक्ष ग्रहीत हुए हैं।

इन महाकाव्यों से नीचे उतर कर वे कृतियाँ हैं जिन्हें हम श्रेष्ठतम जीवन-बोध अथवा महान् 'कवित्व' के आधार पर महाकाव्य कह सकेंगे। भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि महाकवियों को संस्कृत-परम्परा और अपने युग की हिन्दी परम्परा में 'हरिऔध' तथा मैथिलीशरण गुप्त को हम महाकवियों की इसी कोटि में रखेंगे। इनके काव्य-विषय महत् हैं, परन्तु इनमें न तो अन्तर्योग की वह परिपक्वता है, न जीवनद्रष्टा की वह तलस्पर्शी एवं व्यापक सामर्थ्य जो पहली श्रेणी के महाकवियों और उनकी कृतियों में मिलती है। इन कवियों ने शास्त्र में विवेचित महाकाव्य के ढाँचे को कमोबेश स्वीकार कर लिया है और इस ढाँचे के भीतर ही राष्ट्रीय आदर्शों की अभिव्यक्ति भी इनके महाकाव्यों में हुई है, परन्तु समर्थ जीवन-चेतना और परिपूर्ण धर्मबोध का आग्रह उनमें नहीं है। वे महाकवि मात्र हैं, 'ऋषि' वे नहीं हैं।

इन महाकवियों की कृति के पश्चात् वे कृतियाँ भी रखी जा सकती हैं जो महाकाव्य का आभास देती हैं अथवा महाकाव्य के समादर की आकांक्षी हैं। इन्हें हम 'महाकाव्य' न कह कर 'महत् काव्य' कहेंगे यद्यपि यहाँ 'महत् काव्य' शब्द का प्रयोग ठीक उस अर्थ में नहीं होगा जिस अर्थ में उसका प्रयोग इलियट ने अपने निबन्ध 'माइनर पोइटरी' में किया है। 'महाकाव्यात्मक काव्य' की भी हम कल्पना कर सकते हैं और निराला के 'तुलसीदास' अथवा 'राम की शक्ति-पूजा' को हम इस नई कोटि में रख सकते हैं।

इस प्रकार महाकाव्य और जीवन का सम्बन्ध-उद्घाटन केवल उन श्रेष्ठतम रचनाओं तक ही सीमित रह जाता है जो राष्ट्रीय अथवा मानवीय जीवन-बोध की विराट् भूमियाँ ग्रहण करती हैं और जिनमें जीवन के उदात्त, परिपूर्ण और अन्तर्योगिक स्वरूपों का महाकार प्रतिबिंबित हो उठता है। श्रेष्ठ महाकाव्य में अभिव्यक्त जीवन कवि का अन्तर्भुक्त जीवन होता है, भले ही उसका आधार कोई पौराणिक आख्यान हो, या काल्पनिक कथा। इसीलिए प्रत्येक महाकवि प्रथित कथा का पुनर्निर्माण करता है और महाकाव्य में वस्तुशिल्प की प्रमुखता रहती है। अनुदात्त एवं सामान्य जीवन-स्वरों को श्रेष्ठ महाकाव्य में स्थान नहीं मिलेगा। इसीलिये इस प्रकार के आधुनिक यूरोपीय प्रयत्न महाकाव्याभास या विडम्बना काव्य ही कहे जायेंगे।

(२)

कहा जाता है कि आधुनिक युग में महाकाव्य का स्थान उपन्यास ने ले लिया है। रेल्फ़ फ़ाक्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्क 'द नावेल एण्ड द पीपुल' में उपन्यासकार को नए (बुर्जुआ) समाज का महाकवि कहा है। उपन्यास मानव-जीवन एवं मानव-सम्बन्धों की महागाथा है और महान् उपन्यासकार महान् जीवन-चिन्तक रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस कथन में पर्याप्त सच्चाई है, परन्तु बड़े-से-बड़े उपन्यासकार को भी क्या हम महाकवि की संज्ञा दे सकेंगे। तॉल्सताय का 'युद्ध और शान्ति' जैसा उपन्यास जीवन की विशद् चित्रपटी लेकर उपस्थित होता है और स्वयं लेखक एक महान द्रष्टा की भांति रोम से मॉस्को तक फैले हुए विशाल जीवन-पट की ऐतिहासिक प्रगति को दार्शनिक की दृष्टि से देखता है और उस पर अपने विचार प्रगट करता है। परन्तु उपन्यास का मूलाधार है मानव-चरित्र का वैचित्र्य और इस वैचित्र्य को आभासित करने के लिए उपन्यासकार को मानव-मन के सूक्ष्म ताने-बाने बुनने पड़ते हैं। वह अपनी ही सृष्टि में खो जाता है और दृश्य पर इस प्रकार हावी नहीं रह पाता जैसे महाकवि रह सकता है। अतः अन्तरंगी, सूक्ष्म तथा क्षणस्थायी संवेदन महाकवि के उपजीव्य नहीं हो सकते। उसे उपन्यासकार की भांति मानव-प्रकृति का उद्घाटन नहीं करना है, उसे जीवन के मूलगत स्वभाव या जीवन-धर्म को वाणी देना है। फलतः वह वैचित्र्य का जादू नहीं जगाता, असामान्य को महान् के आसन पर नहीं बिठाता। वह राष्ट्र अथवा जाति के लक्ष-लक्ष मानवों के प्रकृति-भेद को लांघ कर राष्ट्रगत या जातिगत समानधर्मिता के आधार पर राष्ट्रीय अथवा जातीय जीवन का सार्वभौम, पर्वताकार, मूलबद्ध स्वरूप उद्घाटित करता है। संक्षेप में कहें तो उपन्यास तथ्य को ग्रहण करता है, महाकाव्य सत्य को। उपन्यास यथार्थमूलक है तो महाकाव्य आदर्शमूलक। एक गद्य है तो दूसरा पद्य है, पद्य ही क्यों, श्रेष्ठतम काव्य है। इसी से महाकाव्य में जातीय अथवा राष्ट्रीय संवेदना का व्यापकतम, पुष्टतम, उदात्ततम रूप अंकित होता है। महाकाव्य के चरित्रों में प्रतीकबद्धता रहती है और उसकी भाषा तथा मूर्तिमत्ता महाकाव्यात्मक एवं उदात्त संवेदना की वाहक। महाकवि की वाणी में राष्ट्रीय इतिहास मुखरित होता है, घटनामूलक इतिहास नहीं, चारित्रिक और आध्यात्मिक इतिहास जो राष्ट्रीय मानस का सफल प्रतिनिधि होता है। वर्जिल जिस प्रकार यूरोपीय मूल्यों का प्रतिनिधि है, उसी प्रकार कालिदास या तुलसीदास भारतीय मूल्यों के प्रतिनिधि हैं। शताब्दियों का व्यवधान भी इन मूल्यों को बदल नहीं सकता यद्यपि प्रत्येक नया महाकवि जातीय अथवा राष्ट्रीय जीवन-मूल्यों को नए युग-धर्म के भीतर से ही प्रतिष्ठित करता है। क्या है जो महाकाव्य को 'क्लासिक' बनाता है? इलियट ने उसे 'प्रौढ़ता' की संज्ञा दी है और उसके विचार में यह प्रौढ़ता तत्कालीन संस्कृति की प्रौढ़ता की द्योतक है जो भाषा और साहित्य की प्रौढ़तम अभिव्यक्ति में अनिवार्यतः प्रगट होती है। महाकवि का मन प्रौढ़ता के उच्चतम आयामों को उपलब्ध करता है और इसी से उसकी रचना में सार्वग्राहिता तथा सार्वभौमिकता के दर्शन होते हैं। इस प्रौढता को पहचानने के लिए प्रौढ़ अंतर्दृष्टि

चाहिये—उसे हम व्याख्यापित नहीं कर सकेंगे। परन्तु कम-से-कम महाकाव्य की भाषागत प्रौढता अथवा अभिव्यंजनात्मक प्रौढ़ता तो हमारी पहचान में आ ही जाती है और सामान्य जन इसी के आधार पर महाकाव्य या महाकवि को समादृत कर सकते हैं। 'कामायनी' का जीवन-बोध बड़ा व्यापक, प्रौढ और गम्भीर है परन्तु नवजागरण-युग की रचना होने के कारण वह अभिव्यंजना के क्षेत्र में महाकाव्यात्मक प्रौढता को नही पहुँच सकी है। उसमे खडी बोली की सम्भावनाएँ समाप्त नही हुई हैं, प्रगट ही हुई हैं। अत उसमे निश्चय ही हमारे युग का महाकाव्य आते-आते रह गया है। फिर भी यदि पिछले सौ वर्षों के भारतीय जीवन को कोई इकेली रचना मूर्तिमान करती है तो वह 'कामायनी' ही है, यद्यपि पिछले महाकाव्यों की तुलना में वह जातीय अतीत की ओर न देख कर भविष्यत् को ही अधिक देखती है। अभिव्यंजना के क्षेत्र मे भी महाकाव्य वैचित्र्य की अपेक्षा समभाव की ओर अथवा जातीय शैली की ओर अधिक सक्रमित होता है। इसीलिए स्वच्छंदतावादी काव्य-शैली महाकाव्य के लिये उपयुक्त नही मानी जा सकती।

इस परिपार्श्व मे महाकाव्य और जीवन के सम्बन्ध मे विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्य मे जातीय जीवन का अन्तरगी बोध रहता है, उसमे जाति अथवा राष्ट्र के ऊपरी जीवन की हलचलें लिपिबद्ध नही होती। महान् राष्ट्रीय नायकों का जीवन महाकाव्य का विषय बन सकता है परन्तु उस जीवन का आलेखन नायक की व्यक्तिगत चेतना की भूमि पर न होकर राष्ट्रगत चेतना की व्यापक भूमि पर होगा। इस प्रकार महाकाव्य का नायक लोकनायक बन कर समस्त जाति या राष्ट्र का प्रतीक पुरुष बन जायेगा और उसके द्वारा युगधर्म की भूमि पर युगयुगीन मानवीय अथवा राष्ट्रीय सत्य की अभिव्यक्ति होगी। वाल्मीकि ने राम के रूप मे राष्ट्रीय चरित्र की जो अभिव्यंजना की है वह ऐतिहासिक सिद्ध न होने पर भी सपूर्ण रूप से ऐतिहासिक है क्योंकि राष्ट्र का ऐतिहासिक चरित्र ही उसका मूलाधार है। कालिदास ने केवल राम को ही न लेकर सपूर्ण रघुवंश को समाहित राष्ट्रीय चरित्र के रूप मे लिया और उसमे राजनीति, समाजनीति और वैयक्तिक नीति के तीन 'धर्मों' को इस प्रकार चरितार्थ किया कि उनका काव्य केवल सूर्यवंश की जय-गाथा न होकर सपूर्ण आर्यजाति की नैतिक-विजय की गाथा बन गया। तुलसीदास ने उसी रामचरित्र को मर्यादा-पुरुषोत्तम की 'लीला' बना कर उसमे श्रेष्ठतम धर्मबोध और उच्चतर जीवनदृष्टि का आरोपण किया। तुलसीदास के राम भी उतने ही ऐतिहासिक है जितने वाल्मीकि के या कालिदास के, क्योंकि उनके माध्यम से तुलसी ने मध्ययुग के धर्म-अधर्म के द्वंद्व से पीडित अत त्रस्त मानव को धर्म-चेतना की दिव्य दृष्टि दी और इस प्रकार अपने युग की ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति की। वही भगवान राम है, परन्तु तीन ऐतिहासिक युगो मे उन्ही के इतिवृत्त के माध्यम से तीन विभिन्न युग-धर्मों का प्रकाशन हुआ है जो जातीय जीवन के तीन आयामों का प्रतिनिधित्व करते हैं। राम का चरित्र जातीय आदर्श का पर्वताकार महादर्पण बन कर ही जीवन की सार्थक और परिपूर्ण अभिव्यक्ति बन सका है। बुद्धचरित्र को लेकर अश्वघोष ने इसी कार की एक महान् साहित्यिक चेष्टा 'बुद्धचरित्र' मे की है क्योंकि ऐतिहासिक

बुद्ध विराग और करुणा के महान् प्रतीक थे। कालिदास के 'कुमारसम्भव' में जातीय सौन्दर्यदृष्टि को परिपूर्णता मिली है और तपःपूत काम अंत में दाम्पत्य तथा लोकमंगल में चरम परिणति प्राप्त करता है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि महाकाव्य राष्ट्रीय अथवा जातीय जीवन की संकेतात्मक अथवा प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। दूसरे शब्दों में उसे प्रतिनिधि अभिव्यक्ति भी कहा जा सकता है। इतिहास-पुरुष गांधी और पौराणिक मनु दोनों ही महाकाव्य का विषय बन सकते हैं यदि उनके व्यक्तित्व राष्ट्रीय व्यक्तित्व बन सकें। गांधी जी निश्चय ही राष्ट्रपिता हैं परन्तु अभी महाकाव्य के भीतर से उनके राष्ट्रीय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होना शेष है। केवल इतिवृत्त-मात्र से हम इस व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर सकते। उसके लिए महाकवि की एक ही परिप्रेक्षा में सब कुछ सिमेट लेने वाली दृष्टि चाहिये। काल की भूमि पर ऐतिहासिक व्यक्ति गांधी से कुछ दूर चल कर ही हम उनके महाकाव्यात्मक राष्ट्रीय व्यक्तित्व की उपलब्धि कर सकेंगे। प्रसाद जी भी मनु को राष्ट्रीय व्यक्तित्व नहीं दे सके हैं। उन्होंने मनु में आधुनिक जीवन-चिन्ता और शाश्वत धर्म-जिज्ञासा को मूर्त्तिमान अवश्य किया है, परन्तु महाकवि कोरा दार्शनिक या विचारक नहीं होता। उसका जीवन-बोध या धर्मबोध दार्शनिक ऊहापोह से ऊपर उठ कर 'जीवन-स्वप्न' (विज़न) का रूप धारण कर लेता है और उसका महानायक उस जीवन-स्वप्न का जीवंत स्वरूप होता है। महाकवि की माप-क्षमता और प्रौढ़ अभिव्यंजना उसे एक साथ प्रतीक और व्यक्तिगत बनाने में सफल होती है क्योंकि उसमें महाकवि का जीवन स्वप्न व्यंजित ही नहीं होता, चरितार्थ भी होता है।

प्रत्येक युग का जीवन महाकाव्य की मांग करता है क्योंकि महाकाव्यबद्ध हो कर ही वह परिपूर्णता और सार्थकता को प्राप्त होता है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक युग को महाकाव्य मिले ही। इसी से अनेक युगों को पूर्ववर्त्ती महाकाव्य या महाकाव्यों से संतोष करना होता है। कोई भी महाकाव्य अपने ही युग तक अपनी संवेदना शेष नहीं कर देता क्योंकि प्रत्येक युग के गर्भ में भविष्यत् का ज्योति-बीज विद्यमान है और राष्ट्रीय अथवा जातीय जीवन-दृष्टि युगों के आर-पार देखने में समर्थ है। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी की जीवनदृष्टियाँ आज भी दुर्बल नहीं हो पाई हैं क्योंकि भारतीय चरित्र बदलते इतिहास में भी अपनी केन्द्रीय एवं सारभूत सत्ता सुरक्षित रख सका है। जातीय (राष्ट्रीय) चारित्र्य के मूलबद्ध परिवर्त्तन अथवा ह्रास के पश्चात् ही इन महाकवियों की कृतियाँ हमारे लिए अजनबी बन सकेंगी। नए महाकवि को इन महाकवियों की ऊँचाई तक उठना होगा और इनकी चारित्रिक अंतर्दृष्टि एवं धर्मबोध को अपनी रचना का मापदण्ड बनाना होगा। यह भी आवश्यक नहीं है कि सभी भाषाएँ महाकाव्य की ऊँचाई तक उठ सकें परन्तु प्रत्येक भाषा और साहित्य के सामने महाकाव्य-सृजन की प्रेरणा तो अवश्य रहेगी। महाकाव्य में समस्त राष्ट्र की सामासिक प्रतिभा प्रगट अथवा प्रच्छन्न रूप में अभिव्यक्ति पाती है और इसीलिए उसका माध्यम ऐसी केन्द्रीय भाषा ही हो सकती है जो संपूर्ण राष्ट्र की महाकांक्षाओं तथा आदर्शों का जयघोष हो। महान् धर्मबोध को महती काव्य-प्रतिमा, श्रेष्ठ वास्तुशिल्प तथा सूक्ष्म कारु-कर्म में संश्लिष्ट करने पर

ही महाकवि महानायक की आलोक-मूर्ति तक्षणित करता है। इस मूर्ति पर राष्ट्रीय तथा मानवीय मूल्यों की स्वर्ण-रेखाएं मुद्रित होती हैं और युग धर्म का आकर्षक पीताम्बर धारण करने पर भी इस मूर्ति के अधरों पर देश-काल-जाति-धर्म निरपेक्ष शाश्वत जीवन-सत्य की गम्भीर मुस्कान खेलती रहती है। निःसंदेह हम उत्कृष्टतम राष्ट्रीय महाकाव्यों की बात कह रहे हैं, तथाकथित महाकाव्य-परम्परा में चलने वाली शास्त्रीय रचनाओं की नहीं। महाकाव्यों में अभिव्यक्त जीवन ही राष्ट्र का सच्चा जीवन होता है क्योंकि वह सतही जीवन न होकर, मूलगत, अन्तर्भूत, सामासिक एवं सारभूत रहता है। वह दैनंदिन नहीं होता, इसीलिए उसमें राष्ट्रीय चर्या, चारित्रिकता तथा धर्मदृष्टि का अकल्पित माधुर्य समाहित रहता है। अपनी चेतना में उसे ग्रहण करने के पश्चात् ही हम क्षणभंगुर वर्तमान जीवन की क्षुद्रताओं तथा विशृंखलताओं से ऊपर उठ सकेंगे। यही महाकाव्य की सार्थकता है कि वह हमारे भीतर के विराट् को जगाता है।

: १५ :

उपन्यास और महाकाव्य

कदाचित् रेल्फ़ फ़ाक्स ने अपने ग्रन्थ 'द नावेल एण्ड द पीपुल' में पहली बार कहा कि उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है जिसमें बुर्जुआ संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ और लोकप्रिय कला-रूप हमें प्राप्त हुआ है और तब से यह लीक पड़ गई है कि हम उपन्यास और महाकाव्य का समीकरण बना कर चलने लगे हैं। परन्तु उपन्यास प्रजातन्त्र और औद्योगिक संस्कृति की भी उपज माना गया है क्योंकि उसमें सामान्य जीवन के प्रति हमारा आग्रह है और उसकी लोकप्रियता विशिष्ट होने में नहीं, सामान्य होने में है। अतः दोनों की प्रकृति में स्पष्ट रूप से भेद दिखलाई पड़ता है और इस भेद को समझ लेना आवश्यक है। नही तो हम उपन्यास से महाकाव्यात्मक विशेषताओं की माँग करने लगेंगे और उन्हें नही पायेंगे तो असंतुष्ट होंगे। पश्चिम से यह आवाज भी उठी है कि उपन्यास का युग समाप्त हो गया (या हो रहा है) और वह कार्यशेष हो गया है। इस भ्रान्ति का मूल कारण उपन्यास की प्रकृति और उसकी सीमाओं के सम्बन्ध में हमारी भ्रांत धारणा ही है।

प्रत्येक कला-कोटि का जन्म सांस्कृतिक आवश्यकताओं के द्वारा ही होता है परन्तु धीरे-धीरे उसका विशिष्ट स्वरूप निर्मित हो जाता है जो बदलते हुए युग-धर्म के अनुसार नये आयाम धारण कर सकता है। महाकाव्य प्राचीन युगों के सरल और साहसी जीवन की पुकार है जो राजाओं, सामंतों तथा अभिजात वर्गों को अपनी चेतना का प्रतीक बनाता है। उस युग में वर्ग-चेतना का अभाव था और महाकवि जनता से अभिन्न होता था। फलतः उसकी रचना में जनाकांक्षा का प्रदीप्त स्वरूप प्रतीकबद्ध था। महाकाव्य मे विराट् जीवन को प्रस्तुत किया जाता था, सूक्ष्म जीवन को नही, क्योंकि मनुष्य का व्यापक जीवन मानवीय होने के नाते साधारणीकरण की क्षमता रखता है। इसीलिए महाकाव्य में घटनाचक्र अथवा चारित्रिक लेखन व्यक्तिगत न होकर प्रतीकात्मक रहता है। जैसा लाउत्से ने कहा है, हम सब नदी के द्वीप हैं परन्तु नीचे तल में ठोस मिट्टी के द्वारा एक दूसरे को छूते हैं।

महाकाव्य के चरित्रों की भी यही स्थिति है और इसीलिये उनमें अनुवीक्षणीय सत्य नहीं, भावात्मक जीवन के प्रतिनिधि सत्य के दर्शन हमें होते हैं। उसमें दैनन्दिन जीवन की अपेक्षा प्रतिनिधि जीवन ही अधिक रहता है, इसीलिए महाकाव्य महाकार दर्पण बन जाता है जिसमें कुछ थोड़े से पात्रों में समस्त संस्कृति अथवा सारे युग की वाणी मिलती है। इसीलिए ब्यौरा महाकाव्य की वस्तु नहीं है। उसमें नायक के चरित्र को अपने युग और कवि के व्यक्तित्व से दूर ले जाकर कल्पना के शिखर पर खड़ा कर दिया जाता है और फिर उसे प्रकृति और परिवेश

से महाघ बना कर देखने का प्रयत्न होता है। सच तो यह है कि महाकाव्य हमें पात्रों का व्यक्तित्व देता है, चरित्र नही क्योंकि चरित्र के लिए जिस सूक्ष्म कलम की आवश्यकता होती है वह महाकाव्य में नहीं लगती। वह उपन्यास का विषय है। उपन्यास ब्यौरे की चीज है। उसमें जीवन की एकता वाछनीय नहीं है—इस एकता के भीतर वैविध्य किस प्रकार सगठित हुआ है, यह दिखाना उपन्यासकार का कर्त्तव्य है। प्राचीन युग सश्लिष्ट सस्कृतियो के युग थे, अत उन युगों में हमारी दृष्टि जीवन की एकता पर जाती थी। वर्त्तमान युग में हम जीवन की अनेकरूपता को देखते हैं और चमत्कृत होते हैं। यह नहीं कि उन युगो में व्यक्तिगत जीवन के सघर्ष जटिल नही थे, परन्तु कवि उन्हें जटिल बना कर प्रस्तुत नहीं करता था क्योंकि ध्येय जिजीविषा था। प्राचीन महाकाव्यों में उद्दाम जीवन-शक्ति के दर्शन होते हैं जो विजिगीषा के रूप मे प्रगट होती है। यह विजिगीषा युद्ध, समुद्रयात्रा, विकट शौर्य अथवा महान तप के रूप मे दिखलाई देती है। इसीलिए महाकाव्य मे दुखात भी सुखात बन जाता है क्योंकि उसमे जीवन की विजय प्रतिभासित होती है, मरण की नही। होमर के काव्यो मे यही उद्दाम वासना जीवन का प्रतिरूप बन कर आती है। यूरोप के प्राचीन जनकण्ठी महाकाव्या, फरदोसी के 'शाहनामा' और चन्द के 'पृथ्वीराज रासो' में हम जीवन का यही जन-घोष पाते हैं। जगनिक का 'आल्हा' भी इसी परम्परा मे आता है।

परन्तु महाकाव्य का एक दूसरा रूप हमें वाल्मीकि रामायण मे मिलता है। इस महाकाव्य मे राम-रावण महायुद्ध को दाम्पत्य के महान आदर्श की नींव पर खडा किया गया है। युद्ध ध्येय नहीं है, धर्म-सथापन ध्येय है क्योंकि रावण असत् का प्रतीक बन गया है, परन्तु इस युद्ध मे सेनाओं के कोलाहल के पीछे राम का महान् विरह भाव और सीता का अपार्थिव चरित्र है जिनके आगे आसुरी हिंसा परास्त हो जाती है। रामायण के पात्रों मे जिस चारित्रिक उदात्त के दर्शन होते हैं वह अप्रतिम है, सम्पूर्ण रूप मे भारतीय है और उसमें मर्यादा, सतुलन और मानव मात्र के प्रति सम्मान की पराकाष्ठा है। आदि काव्य के आरम्भ मे ही नारद विष्णु के सामने श्रेष्ठ पुरुष के रूप मे राम का उल्लेख करते हैं और यह चारित्रिक उत्कर्ष ही राम को महामानव बनाता है परन्तु अयोध्या काण्ड के अन्त मे ही राम का यह महामानवत्व परिपूर्ण हो जाता है। इसके बाद राम अवतारी पुरुष बन जाते हैं और उनका जीवन व्यक्तिगत न रह कर लोकसग्रही रह जाता है। वह 'धर्म' के प्रतीक बन कर रावण-रूपी अधर्म पर विजय प्राप्त करते हैं। मानवीय प्रेम का विभिन्न जीवन क्षेत्रो मे जैसा विस्तार रामायण में है वैसा अन्यत्र नहीं है। स्वयभू, तुलसी, कंबन और कृत्तिवास ने राम के इस महामानवत्व की रक्षा करते हुए उनमे युगधर्म की भी प्रतिष्ठा की है। स्वयभू मे वह जैनादर्श के प्रतिनिधि बनते हैं तो अन्य तीन महाकवियों मे उन्हें भक्त के हृदयस्पन्दन से इस प्रकार गूथ दिया गया है कि वह 'भगवान' बन गये हैं। जहाँ वाल्मीकि ने उनमे मानव का पुरुषोत्तमत्व देखा है, वहाँ परवर्ती महाकवियो ने उनमे परात्पर सत्ता को भी मूर्तिमान किया है। उनमे नर नारायण बन गया है।

महाकाव्य का तीसरा रूप हमें व्यास के महाभारत में मिलता है जो जीवन के आदर्श की ओर उन्मुख नहीं होते, उसके यथार्थ को ही क्रियमाण रूप देते है। महाभारत में नारी के सतीत्व के ऊपर उसके नारीत्व की प्रतिष्ठा की गई है। सतीत्व की चरम सीमा सावित्री और गांधारी में मिलती है तो नारीत्व की पराकाष्ठा द्रौपदी मे। महाभारत का महाकाव्यत्व जहाँ एक ओर उसकी अखिल भारतीय पृष्ठभूमि है, वहाँ दूसरी ओर चरित्रों की बहुसंख्यता तथा विविधता उसे जीवन का प्रतिरूप बना देती है। परन्तु महाभारतकार की सर्जनात्मक व्यथा इस उक्ति में है कि धर्म सर्वोपरि है, यह जानते हुए भी कोई उनकी बात नहीं सुनता। अधर्म की जैसी व्यापकता महाभारत में प्रदर्शित है वैसी अन्यत्र नहीं, परन्तु यहाँ वह राजनीति बन कर प्रगट हुई है और पात्रों की प्रेरक अन्तर्वृत्ति के रूप में सम्पूर्णतः माननीय है। इसी से उनके पात्र आसुरी नहीं हैं, अधर्मी होते हुए भी मानवीय हैं, हमारे निकट हैं। आदि कवि की भाँति महाभारतकार धर्म-अधर्म, सत्-असत् की दो कृष्ण-शुक्ल रेखाएँ नहीं गढ़ता, वह इन दोनों रंगों को इस प्रकार मिला देता है कि हम एक व्यक्ति में दोनों भूमियाँ देख लेते हैं। महाभारत में व्यक्ति-धर्म ही राजनीति बन गया है और कुरुओं का पारिवारिक विग्रह ही कुरुक्षेत्र को धर्म-भूमि बना देता है। केवल कृष्ण का व्यक्तित्व सबके ऊपर प्रतिष्ठित है। महाभारत के कृष्ण को चरित्र के रूप में देख कर हम ग़लती करते हैं, उन्हें अवतारी व्यक्तित्व के रूप में देख कर ही हम न्याय कर सकेंगे क्योंकि तब वह सत्-असत्-परम् चिन्मय सत्ता का प्रतीक बन जाते हैं जो अन्तर्यामिन् के रूप में सर्वनियामक है। इसी से वह अविनाशी और शुद्धाद्वैती है। महाभारत के रूप में हमें महाकाव्य की श्रेष्ठतम उपलब्धि मिली है जो एक साथ इतिहास, पुराण, महाकाव्य और धर्मशास्त्र हैं। उसे भारतवर्ष की सर्जनात्मक कल्पना का चरमोत्कर्ष कहा जा सकता है।

आधुनिक युग के महाकाव्य पिछले युगों की इस सामासिक दृष्टि को लेकर नहीं चल पाते। वे या तो कालिदास के 'रघुवंश' और 'कुमारसंभव' तक पहुँचते हैं या वर्जिल, मिल्टन, दांते की महाकृतियों तक। 'एनियड', 'पेरेडाइस-लॉस्ट' और 'डिवाइन-कॉमेडी' ही आधुनिक भारतवर्ष में 'मेघनाद-वध', 'कामायनी' और 'इसरारे-बेखुदी' का रूप लेते हैं। गेटे के 'फॉउस्ट' और हार्डी के 'डाइनेस्ट' में हमें नवीन चेतना के अनुरूप नए महाकाव्य भी मिलते हैं परन्तु अभी हमारी दृष्टि उनकी ओर नहीं जा सकी है। ये महाकाव्य चौथी कोटि की रचनाएँ हैं जो धर्म के सौन्दर्य की अपेक्षा काव्य और कल्पना के सौन्दर्य की ओर अधिक देखते हैं और जिनमें अपेक्षाकृत संकीर्ण भूमिका पर महत् जीवन के प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया गया है। इनमें प्रतीक-चरित्रों, प्रतिनिधि समस्याओं, अन्तर्जगत और बहिर्जगत के मनोरम स्वरूपों तथा भविष्यत् स्वप्नों का ऊहापोह है। उनमें जीवन की सूक्ष्मता नहीं, व्यापकता का प्रतिनिधित्व है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि महाकाव्य मानव की सर्जनात्मक प्रतिभा का चरमोत्कर्ष है जहाँ कवि परिभूः तथा स्वयंभू होकर विधाता से होड़ करता है। उसकी दृष्टि जीवन की एकता पर रहती है उसके विभेद पर नहीं। वह अन्वेषी नहीं

होता, "द्रष्टा" होता है, सर्जक होता है। वह जीवन के द्वन्द्वों तथा वैषम्यों के नीचे जाकर तलस्पर्शी समानता को उभारता है। वह जीवन में महत् काव्य की प्रतिष्ठा करता है। महाकाव्य महत् जीवन का काव्य है, विराट् के प्रति महाकवि की श्रद्धांजलि है, भविष्यत् का नवनिर्माण है। उसमें समस्त जाति, समूचे राष्ट्र की आकांक्षा प्रतिध्वनित होती है और उसके पवताकार महादर्पण में अनागत पीढ़ियाँ अपना मुख देखती हैं। महाकाव्य वह देता है जो हम बनना चाहते हैं, उपन्यास की तरह वह नहीं देता जो हम हैं। वह हमारा भविष्यत् स्वप्न है, वह सम्पूर्ण राष्ट्र अथवा सम्पूर्ण मानव की परिबद्धता है।

इसके विपरीत उपन्यास गद्य कृति है। उसमें जीवन का गद्य प्रतिबिंबित होता है, जीवन का काव्य उसके बाहर रह जाता है। उसमें अणुवीक्षणीय दृष्टि का उपयोग होता है, योग-समाधि के सर्वग्राही विराट् दर्शन का नहीं। इसीलिए उपन्यासकार सूक्ष्म की ओर बढ़ता है, विराट् की ओर नहीं। उसमें चारित्रिक वैलक्षण्य तथा वैविध्य ही अधिक मिलता है, सहृति तथा समन्वय के दर्शन नहीं होते। उपन्यास को मध्यवित्त समाज की सृष्टि कहा जाता है जिसने प्रकृति, राष्ट्र तथा धर्म के अखण्ड जीवनबोध से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया है। यह समाज, बुद्धि को ढाल बना कर आगे बढ़ता है। फलत उसकी गद्यकृतियाँ जीवन की प्रतिच्छाया मात्र रह जाती हैं। पिछले तीन सौ वर्षों से उपन्यास समाज, राष्ट्र, इतिहास, तत्कालीन जीवन अथवा अतर्जगत का चित्रण करता रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के महान् उपन्यासकारों में उसने अपने चित्रफलक को अपरिसीम विस्तार दिया है। स्तान्धेन से लेकर तॉल्सताय तक हम उपन्यासकार को अधिक सूक्ष्म, विस्तृत एवं क्षणलेखी यथार्थ को पकड़ने का उपक्रम करते देखते हैं और 'अन्नाकरेनिन' तथा 'युद्ध और शांति' में व्यक्तिगत जीवन तथा समष्टिगत जीवन की इकाइयों को नि शेष होता पाते हैं। लगता है जैसे उपन्यासकार ने जीवन का सारा रस निचोड़ लिया है, वह अन्तर्यामिन् बन गया है, परन्तु शीघ्र ही यह पता चल गया कि मन के अनेक कोने अब भी अछूते रह गये हैं। दोस्तोव्स्की, जेम्स ज्वॉइस, प्रॉउस्त और वर्जीनिया वुल्फ की कृतियों में उपन्यास ने अ तर्मन को उधेड़ना चाहा और उसे अन्तश्चेतना प्रवाह का नया शिल्प देकर अपने सूक्ष्म दर्शन को विराटत्व देने का प्रयत्न किया। परन्तु इसका फल यह हुआ कि वह जीवन के कवित्व को खोकर उसके गद्य में ही उलझ कर रह गया। पश्चिम में आज जो उपन्यास के निधन पर शोकप्रस्ताव पास किये जा रहे हैं उसका मूल कारण यही है कि उपन्यास मनोविश्लेषण की चक्करदार सीढ़ियों पर उतरते उतरते श्रांत हो गया है और उसकी चेतना अन्धी गलियों में पहुँच गई है। आज का उपन्यासकार जीवन का पुनर्निर्माण करना चाहता है, जीवन की वास्तविकता का भ्रम देना चाहता है, परन्तु जिस आधुनिक मनुष्य के मन का चित्रण वह कर रहा है वह स्वयं इतना विघटित है कि टूटे सपनों की दृष्टि इतनी अधिक वस्तुमुखी, सूक्ष्म, नश्वर तथा विश्लेषणात्मक हो गई है कि जीवन की मूलभूत एकता तक पहुँचना हमारे लिए असम्भव हो गया है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य की भावुकता ही समाप्त हो जायेगी और उसकी सर्जनात्मक कल्पना इतनी जीर्ण बनेगी कि वह

विराट्, अविकृत, रसस्रोती जीवनस्पन्दनों को किसी महत् कृति के रूप में बांध ही नहीं सकेगा। महाकाव्य का शिल्प बदल सकता है, उसमें कालान्तर मे उपन्यास-जगत की उपलब्धियां भी आंशिक रूप में समाहित हो सकती हैं, परन्तु मानव का महत् जीवन की कल्पना को क्रियमाण रूप देने का प्रयत्न ही महाकाव्य की अन्तरात्मा बन सकेगा, यह निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है। खण्ड चेतनाओं के इस युग में हम भले ही सम्पूर्ण जीवन की उदात्त, अखण्ड एव शिव-संकल्पी अभिव्यक्ति नहीं कर सकें, ऐसी अभिव्यक्ति की अनिवार्यता बनी रहेगी। सैकड़ों उपन्यासों से भी एक महाकाव्य की पूर्ति नहीं हो सकती क्योंकि उपन्यास जीवन को खण्ड-खण्ड करता है और उसके वस्तून्मुख तथा विश्लेषणप्रधान चित्रण के पीछे किसी बड़े आदर्श या उदात्त जीवनदर्शन की सम्भावना नहीं रहती। उपन्यास का जीवनदर्शन व्यावहारिक सत्य मात्र है, वह देशकालबद्ध परिस्थितियों पर आधारित है परन्तु महाकवि का जीवनदर्शन सम्पन्न भावबोध पर आवृत होने के कारण चिरकालिक तथा नित्यनवीन है। जीवन की अनेकरूपता, व्यावहारिकता तथा व्यापकता उसका आधार नहीं है, आधार है अव्याकृत ऋषि-दृष्टि जो शाश्वत प्रश्नों का समाधान बनती है और कालातीत गहराइयों को छूती है। मानना होगा कि महाकाव्य मनुष्य के प्रति हमारी अगाध आस्था का द्योतक है और उसमें अखिल मानव की प्रतिष्ठा है। उपन्यास उतनी दूर नहीं जाता। उसका विस्तार जीवन को तरल, अग्राह्य और रहस्यमय बना देता है। उसके द्वारा हम जीवन की असंख्य अभिव्यक्तियों का स्पर्श कर सकते है और उनमें अपनी जिजीविषा का विस्तार देख सकते हैं। इसके विपरीत महाकाव्य हमें आत्मदर्शन का अवसर देता है और इस आत्मदर्शन में हम अपनी क्षुद्रताओं को देख कर त्रस्त नहीं होते, अपनी महानताओं को देख कर आश्वस्त होते हैं। यहां हम उन सामान्य उपन्यासों की बात नहीं उठाते जो राष्ट्रीय महापुरुषों, अवतारों तथा काल्पनिक कथानकों को सर्गबद्ध विस्तार के साथ काव्य का रूप दे देते हैं। हमारी दृष्टि में वे महाकाव्य हैं जो मनुष्य के विभिन्न सांस्कृतिक युगों के प्रतीक बन गये हैं और 'क्लासिक' कहे जाते हैं। ऐसे किसी महाकाव्य को जन्म देकर ही युग अपनी परिणति को प्राप्त होता है क्योंकि फिर उसके लिए कुछ भी कहने को बाक़ी नहीं रह जाता। साहित्य के क्षेत्र में शेष सब कुछ ऐसे महाकाव्य की तैयारी बन कर ही सार्थक है। इस शेष में उपन्यास भी आ जाता है।

———

: १६ :

साहित्यकार की परिबद्धता

(१)

साहित्यकार सर्वस्वतन्त्र है या परिबद्ध? उसका उत्तरदायित्व किसके प्रति है—अपने प्रति या अपने से बाहर किसी, तन्त्र, विचार, धारणा या वर्ग के प्रति? प्रश्न वर्तमानकालिक नहीं है, शाश्वत है, परन्तु आज वह जैसे अनिवार्य बन गया है और तात्कालिक उत्तर माँगता है। यह स्पष्ट है कि पिछले युगों में साहित्यकार और उसके पाठक के बीच में कुछ ऐसा आ गया है जो गहरा है और अबूझ पड़ा है। साहित्यकार ने सकोच को अपना लिया है और वह अपने भीतर सिमट कर बैठ गया है और समाज जैसे उसे चुनौती देकर इस कूर्म-कवच से बाहर निकालना चाहता है। सम्बद्धता का तात्पर्य ही यह है कि साहित्य पर जीवन का दावा है, परन्तु प्रश्न यह है कि यह जीवन व्यक्तिगत है या व्यापक है या वर्गनिष्ठ। साहित्यकार जीवन का द्रष्टा है, स्रष्टा है अथवा समीक्षक है। स्पष्ट है कि प्रश्न का सम्बन्ध साहित्यकार के समीक्षक-रूप से ही अधिक है।

प्रश्न के मूल में साहित्यकार की धारणा (फ़िलॉसफ़ी) है। किसी भी सर्जनात्मक रचना के निर्माण और मूल्यांकन में नैतिक, राजनैतिक और दार्शनिक मन्तव्यों की क्या सार्थकता है? ये मन्तव्य तात्कालिक भी हो सकते हैं और मूलभूत भी रह सकते हैं। इस विषय पर विचार करने से पहले हमें साहित्य के वास्तविक लक्ष्य को स्थिर करना होगा क्योंकि लक्ष्य-स्थापना के बिना हम किसी साहित्यिक रचना को अच्छा बुरा कैसे कह सकते हैं।

सर्जनात्मक साहित्य से हमारा तात्पर्य ऐसे साहित्य से है जहाँ साहित्यकार 'स्रष्टा' है और उसमें काव्य, नाटक, उपन्यास आदि आते हैं। संस्कृत साहित्य में इन्हें 'काव्य' कहा गया है और 'शास्त्र' से अलग रखा गया है। आज हम इसे विशुद्ध साहित्य कहेंगे। जब हम विशुद्ध साहित्य या काव्य के लक्ष्य की बात उठाते हैं तो साहित्यिक या काव्य की प्रकृति की बात सामने आती है क्योंकि लक्ष्य प्रकृति से ही उद्भूत होता है। प्रत्येक वस्तु अपनी प्रकृति को चरितार्थ करके ही सफल और सार्थक होती है। साहित्य को अनेक लक्ष्यों या उद्देश्यों का साधन बनाया गया है। धर्म, दर्शन और राजनीति से उसका गठबंधन हुआ है परन्तु अधिकांश लक्ष्य साहित्य के अपने लक्ष्य नहीं हैं, बाहर के आरोप हैं अर्थात् वे उसके अस्तित्व की पुकार नहीं हैं कि परमावश्यक और अनिवार्य हों। सच तो यह है कि साहित्य साधन नहीं, साध्य है। वह अपने में पूर्ण इकाई है और उसका स्वरूप तथा लक्ष्य उसकी प्रकृति में ही परिलक्षित है।

साहित्य को कला माना जाता है। यदि साहित्य कला है तो साहित्यिक प्रक्रिया का लक्ष्य सौन्दर्य-निर्माण है। यदि सर्जनात्मक साहित्य का लक्ष्य सुन्दरम् है तो यह लक्ष्य अपने में पूर्ण है क्योंकि सुन्दरम् को हम अन्तिम लक्ष्य मान सकते हैं। परन्तु काव्य का सुन्दरम् चित्र, संगीत या मूर्ति के सुन्दरम् से भिन्न है। साहित्य में जिस माध्यम का उपयोग होता है, अर्थात् शब्द, वह व्यामिश्र है, सरल नहीं। परन्तु चाहे माध्यम जो हो, कलाकृति में रूपगत सौष्ठव अवश्य होता है जो उसके अन्तस्थ सौन्दर्य की दीप्ति बनता है।

देखना यह है कि कोई साहित्यिक कृति कब कला की चीज बन जाती है अथवा उसका सौन्दर्य किन उपकरणों पर आधारित है। परन्तु सौन्दर्य को हम विशुद्ध वस्तून्मुखी मूल्यों पर आधारित नहीं कर सकेंगे क्योंकि आह्लादन या आस्वादन के बिना सौन्दर्य की स्थिति ही नहीं है। वस्तु को हम सुन्दर तभी कहते हैं जब वह हमारे रस-कोष को स्पर्श करती है और आह्लादक बनती है। सौन्दर्यबोध मात्र संज्ञान नहीं है, वह संवेदनात्मक (या भावात्मक) ज्ञान है। सौन्दर्य-चेतना उस विशेष संवेदन के द्वारा उपलब्ध होती है जिसे रसबोध (एसथेटिक एन्ज्वॉयमेण्ट) या रसग्रहण (एप्रीशियेशन) कहते हैं। रसबोधी वस्तु रसप्रक्रिया से अभिन्न हो जाती है जब कि संज्ञानी वस्तु जानने की प्रक्रिया से एकदम भिन्न रहती है।

कला का आनन्द इन्द्रियगत आनन्द से भिन्न है क्योंकि उसे हम इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध नहीं करते, वह हमें मानसिक या आत्मिक रूप में ही प्राप्त होता है। इन्द्रियगत आनन्द सविशेष और आत्मगत है, कलाजन्य आनन्द सार्वभौमिक और तद्गत या निर्विशेष। इसीलिए जहाँ इन्द्रियगत आनन्द में व्यक्तिगत अभिरुचि ही सब कुछ है, कलाजन्य आनन्द के स्वरूप और उसकी बोधिप्रक्रिया के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क चल सकते हैं। कहा जाता है कि कलाजन्य आनन्द तटस्थ वृत्ति की चीज है अर्थात् उसमें व्यक्तिगत या दैहिक लिप्ति नहीं है परन्तु संवेदनात्मक होने के कारण वह हमारी बौद्धिक और आत्मिक उपलब्धियों तथा दिलचस्पियों को जगाता है। इस प्रकार उत्कृष्ट साहित्य का आह्लादक और रसबोधी होना आवश्यक है। आचार्य ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' कह कर इसी सत्य का प्रकाशन किया है।

अतः साहित्य की प्रकृति सौन्दर्यान्वेषिणी है, उसका आग्रह 'सुन्दरम्' की ओर है और यह सुन्दरम् संवेदनात्मक या रसात्मक बनकर ही सार्थक होता है तथा आह्लादक बनता है। परन्तु जब हम कहते हैं कि साहित्य में नैतिक, राजनैतिक और दार्शनिक मूल्यों की भी अनिवार्यता है तो देखना होगा कि ये सब क्या हैं? नैतिक क्या है? राजनैतिक क्या है? दार्शनिक क्या है? पहले 'नैतिकता' को लें। क्या नैतिक है, क्या अनैतिक, यह हम नहीं जानते। मान लिया जाता है कि नैतिकता का सम्बन्ध हमारे उन कार्यव्यापारों से है जो अन्य मनुष्यों के सुख-दुख से संबन्धित हो जाते हैं परन्तु हम मनुष्य पर ही क्यों रुकें, अन्य प्राणियों को भी अपनी नैतिक दृष्टि में क्यों न समेटें। फिर केवल कार्य-व्यापारों पर ही हमारी नैतिकता की जिम्मेवारी क्यों हो, ईर्ष्या-द्वेष भी अनैतिक क्यों नहीं हों, चाहे कार्य के रूप में वे अभी प्रकट नहीं हुए हों। नैतिकता में हमारी सर्वकल्याण (शिवं) की भावना चरितार्थ होती है। शिव-संकल्प परिपूर्ण

सदिच्छा है जिसमें आकांक्षाओं अथवा इन्द्रियासक्तियों का स्थान नहीं है। शिव-सकल्प मात्र नैतिक है। अतः नैतिकता से हमारा तात्पर्य किसी वस्तु के परिपूर्ण या खण्डित शिव-सकल्प अथवा उसके अभाव से होगा। राजनैतिक भी नैतिक ही है क्योंकि राजनीति का सम्बन्ध मानव-जीवन की शिव-सकल्पी व्यवस्था से ही है। अरस्तू ने स्पष्ट रूप से कहा है कि राजनीति का अन्तिम लक्ष्य श्रेष्ठ जीवन या नीतिमय जीवन (गुड लाइफ) है और इसीलिए राजनैतिक सदर्भ अन्ततः नैतिक सदर्भ रह जाते हैं। परन्तु जहाँ नैतिक सदर्भ व्यापक और युगनिरपेक्ष हैं, वहाँ राजनैतिक सदर्भ किसी विशिष्ट दल अथवा राज्य के मंगल से सम्बन्ध रखते हैं। आज राजनैतिकता के नाम पर हमारे पास राज्य है, या अनेक दल हैं जो प्रगटतः या प्रच्छन्नतः सघर्षशील हैं। इसीलिए राजनैतिक सदर्भ वर्गगत दृष्टिकोण से बँध गए और ऐसे स्वतन्त्र बौद्धिक निष्कर्षों तक पहुँचना असम्भव बात है जो सर्वव्यापक हो। इसके अतिरिक्त राजनीति केवल भौतिक जीवन की व्यवस्था करती है और व्यक्ति या समाज के आन्तरिक जीवन अथवा जीवन की उच्चतर सम्भावनाओं के सम्बन्ध मे मौन है। इसी तरह दार्शनिक समाधान में हम वस्तुजगत या वस्तुस्थिति के तल में स्थापित सत्य तक पहुँचना चाहते हैं। ये मूल्य 'सत्यम्' कहे जा सकते हैं। यहाँ दृष्टिकोण 'तथता' का है, अर्थात् हम अन्तिम, मूल अथवा सार्वभौमिक सत्य पर पहुँचना चाहते हैं।

यह स्पष्ट है कि सत्य-शिव-सुन्दरम् मे साहित्य का मूलाधार सुन्दरम् है, अर्थात् सौन्दर्य-सवेदन (एसथेटिक वेल्यू)। इस सौन्दर्य-सवेदन का कोई सार्वभौम मान होना आवश्यक है जो तर्कबुद्धि को स्वीकृत हो। यह स्पष्ट है कि राजनीति या समाज-नीति को सुन्दरम् का मानदण्ड नहीं बनाया जा सकता। राजनीतिज्ञ को हम साहित्य-समीक्षक का आसन नहीं दे सकते क्योंकि राजनीति के मूल्य साहित्य के मूल्यों से नितान्त भिन्न हैं। इसी प्रकार नैतिक और दार्शनिक मूल्यों का भी विशुद्ध साहित्यिक मूल्यांकन मे कोई स्थान नहीं है। सौन्दर्य अनुभूति (फीलिंग) का क्षेत्र है, नीति, शिक्षा या लोककल्याण का क्षेत्र नहीं जिनसे हमारी धारणा का निर्माण होता है। इसी प्रकार सत्य ज्ञान का विषय है, अनुभूति का नहीं। सत्य-शिव-सुन्दरम् मौलिक मूल्य होने पर भी मानवीय चेतना के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के मूल्य हैं। साहित्य का लक्ष्य न चरित्र-निर्माण है, न सत्य-सधान। अतः साहित्यिक मूल्यांकन मे सत्य-शिव का आग्रह समीचीन नहीं है। साहित्यालोचन को हम सौन्दर्य-बोध या रसबोध पर ही आधृत कर सकते हैं जो वस्तुतः एक ही सिक्के के दो पहलू हैं क्योंकि रसबोध से ही सौन्दर्यबोध का जन्म होता है।

यह कहा जा सकता है कि विशुद्ध साहित्यरस उपजीव्य नहीं है अथवा साहित्य मे नीति, धर्म या दर्शन के समावेश से उसकी रस-तीव्रता बढ़ जाती है और वह महार्घ बन जाता है। फलतः साहित्य के लिए नैतिक या धार्मिक परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता है। परन्तु यह भ्रान्ति-मात्र है क्योंकि रसबोध अपने में पूर्ण भाव-स्थिति है। इस भावस्थिति मे हम इन्द्रियासक्तियों से ऊपर उठ जाते हैं। सौन्दर्य के उपकरण भौतिक होते हैं परन्तु रसबोध की स्थिति में हम सौन्दर्य का आस्वादन सूक्ष्म

भावभूमि पर ही करते हैं। इन्द्रिय-ज्ञान की भूमिका पर सौन्दर्यानुभूति का निर्माण नहीं हो सकता क्योंकि सौन्दर्यानुभूति सम्पूर्णतः मानसिक, बौद्धिक अथवा आत्मिक गुण है। सौन्दर्यानुभूति स्वयं एक पूर्ण और मौलिक अनुभूति है और व्यक्तिगत तथा सामाजिक चेतना के विकास मे उसका अपना महत्व है। नैतिक अथवा धार्मिक तत्वों के समावेश से उसका मूल्य बढ़ाया नहीं जा सकता। सौन्दर्यानुभूति में भी हम परोक्ष या दिव्य के दर्शन कर सकते हैं। इस विषय में वह नैतिक और धार्मिक अनुभूति से कम सम्पन्न नहीं है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साहित्यिक मूल्यांकन में नैतिक, दार्शनिक अथवा राजनैतिक मूल्यों की अपेक्षा आवश्यक नहीं है। वह विशुद्ध साहित्य-मूल्यांकन में बाधा भी सिद्ध हो सकती है। परन्तु सत्य, शिव और सुन्दर की भूमिकाएँ स्वतन्त्र होने पर भी नितान्त असंपृक्त नहीं हैं। सत्य के उपासक दार्शनिक शिव-संकल्पी मूल्यों को निरन्तर महत्व देते रहे है और कवियों ने सुन्दर में ही सत्य के दर्शन किये हैं। हम यह मान कर चल सकते है कि ये तीनों एक ही वास्तविकता के तीन पहलू हैं। इनकी मौलिक एकता इन्हें स्वतन्त्र रूप से अधिक मूल्यवान बनाती है। सत्य और शिव के प्रति समर्पित होकर ही सुन्दर गहनता और महार्घता को प्राप्त करता है, नहीं तो वायवी और सतही रह जाता है। यही बात सत्यम् और शिवम् के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। दूसरी बात यह है कि सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् को हम आत्मानुभूति में ही सार्थक कर सकते हैं और भोक्ता में ये तीनों मिल कर एक ही बिन्दु का निर्माण करती हैं क्योंकि इनमें इच्छा, ज्ञान और क्रिया की तीन मौलिक प्रवृत्तियाँ अभिव्यंजित हैं। मनोविज्ञान के अनुसार ये तीनों प्रवृत्तियाँ संग्रथित हैं और सौन्दर्यानुभूति (रसानुभूति) में ज्ञान और क्रिया (संकल्प) सम्बन्धी अनुभूतियों का भी संश्लेषण रहता है। इन प्रवृत्तियों की तुष्टि के बिना सौन्दर्यानुभूति असम्पूर्ण और दुर्बल रहती है। भक्ति-काव्य में काव्य तथा संगीत की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्तियाँ आध्यात्मिक संवेदना से पुष्ट होकर महार्घ बनी हैं और यह आध्यात्मिकता नैतिक तथा दार्शनिक संवेदनाओं का समीकरण है। तुलसी के रामचरितमानस को यही योगायोग युग की सर्वश्रेष्ठ कृति बना देता है। सूरदास और मीरा के काव्य से हमें उतना परिपूर्ण तोष प्राप्त नहीं होता जितना तुलसी की रचनाओं से। अतः यह स्पष्ट है कि उत्कृष्ट साहित्य के मूल्यांकन में नैतिक और दार्शनिक प्रपत्तियाँ एकदम अप्रासंगिक नहीं हैं परन्तु उनका स्थान सौन्दर्यबोध या रसबोध से नीचे होगा जो साहित्य और कला की मूलगत संवेदना है। इस भूमिका पर हम साहित्य में धारणा के महत्व को तत्सम्बन्धी मूल्यांकन में उचित स्थान ही दे सकेंगे। साहित्यकार मूलतः अपने सौन्दर्यबोध से परिबद्ध है जो रसबोध से भिन्न नहीं है। अतः, अन्ततोगत्वा उसकी परिबद्धता अपने ही प्रति है। उसे रसग्रहण-शक्ति को तीव्र, गम्भीर और व्यापक बनाना है और अपने सौन्दर्यबोध का संस्कार करना है। धारणा की बात इसके बाद उठती है।

आधुनिक समीक्षा में काव्यगत धारणा के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार हुआ है क्योंकि बौद्धिकता के प्रश्रय और विज्ञानवाद के प्रचार के कारण काव्य और

साहित्य को सौन्दर्य चेतना अथवा रसबोध तक सीमित रखना आज असम्भव हो गया है। वैज्ञानिक धारणाओं के साथ-साथ धर्म, यौन सम्बन्ध तथा राजनैतिक धारणाओं का भी आग्रह बढ़ा है। कहा जाता है कि आज कोई भी लेखक परिबद्ध हुए बिना जीवित नहीं रह सकता। परन्तु प्रश्न यह है कि परिबद्धता जीवन की समग्रता से है, या खण्ड जीवन से, मानव के व्यापक कल्याण से है या किसी विशेष राजनैतिक दल से। एक समाधान यह भी प्रस्तुत हुआ है कि लेखक अपनी राष्ट्रीय परम्परा के प्रति परिबद्ध हो। परन्तु राष्ट्रीय परम्परा ही क्यों, मनुष्य की समस्त पूर्वपरम्परा ही लेखक को परिबद्धता क्यों न प्रदान करे। फिर यह भी पूछा जा सकता है कि नव-सृजन मे परम्परा कहाँ तक और किस रूप में स्वीकृत हो। जहाँ एक बार हम काव्य या साहित्य मे धारणा की अवस्थिति को स्वीकार कर लेते हैं, वहाँ ये सब और इसी श्रेणी के अन्य प्रश्न स्वभावत उठते हैं।

धारणा के प्रश्न को लेकर विचारकों ने कई प्रकार के समाधान प्रस्तुत किये हैं (१) रसग्रहण के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम कवि की धारणाओ से पूर्णत सहभागी बनें।

(२) हम कवि की उन धारणाओं को ग्रहण कर लें जो काव्यगत हैं, परन्तु आरोपित या वैचारिक धारणाओं को निष्कृत कर दें। ऐसी स्थिति मे हमें मनुष्य और कवि के रूप में साहित्यकार के व्यक्तित्व को अलग-अलग लेकर चलना होगा।

(३) हम कवि की कृति मे वस्तुमुखी सत्य अथवा सामाजिक क्रियाशीलता के दर्शन का आग्रह छोड दें और यह मान लें कि साहित्य और काव्य राजनैतिक आदर्शों से स्वतन्त्र और बहिर्गत हैं। ऐसी स्थिति मे लेखक और पाठक दोनों वास्तविक जीवन की परिबद्धता से बच जायेंगे और रचना केवल विशुद्ध दृष्टिकोण रह जायेगी। यहाँ सामाजिक प्रबुद्धता का स्थान काव्य ले लेगा।

(४) यह मान लें कि अधिकांश काव्य या साहित्य धारणा से स्वतन्त्र रह सकता है, परन्तु वह उच्चकोटि का नहीं हो सकता क्योंकि धारणाएँ ही हमारे दृष्टिकोण को सशक्त बनाती हैं।[1]

(५) प्रत्येक कवि या साहित्यकार का व्यक्तिगत जगत होता है, ऐसा हम मानें। इसी जगत के प्रति लेखक और पाठक उत्तरदायी हैं, वस्तु-जगत के प्रति नहीं। यदि कवि को पूर्वनिश्चित धारणा को लेकर चलना है तो उसे उसकी सीमा में नवनिर्मिति की सुविधा होगी और सम्भवत वह प्रथित धारणाओं के बल पर ऐसे कवि की अपेक्षा अधिक ऊँचा उठ सकेगा जिसे अपनी धारणाओ का भी निर्माण करना है।

ऊपर के कतिपय समाधानों से कवि की परिबद्धता के सम्बन्ध में जटिलता का अनुमान लगाया जा सकता है। आई० ए० रिचर्ड्स का स्पष्ट मत है कि परिबद्ध

1 "A great deal of poetry can, of course be written for which total independence of all beliefs is an easy matter But it is never poetry of the more important kind because the temptation to introduce the attitudes involved" (*Science & Poetry*, p 86)

काव्य में निश्चय रूप से काव्य-गुणों की हानि होगी और भावातिशयता के कारण कुछ प्रचलित सैद्धान्तिक तथ्यों के प्रति ही अधिक आग्रह होगा।[1] यह भी प्रयत्न किया गया है कि धारणा के दो भेद किये जायें—वस्तुस्थिति द्वारा प्रमाणित (प्रमाण्य) और कल्पना-द्वारा स्वीकृत (कल्पित)। यह कहा गया है कि काव्यगत धारणा कल्पना-जगत की चीज़ है, वस्तु-जगत की चीज नहीं है। अतः वह निर्विशेष, स्वतंत्र और स्वयंसिद्ध है। वह तर्क-शास्त्र के नियमों पर आधारित न होकर भाव-योग पर आश्रित रहती है। फलतः काव्य या साहित्य के क्षेत्र में विभिन्न अथवा विरोधी धारणाओं का समावेश सम्भव है। आधुनिक युग की सब से बड़ी विडम्बना यह है कि ईश्वर, सृष्टि, धर्म, प्रकृति तथा मानव-भविष्य के सम्बन्ध में पुरातन धारणाओं का अंत हो गया है और उतनी उच्चकोटि की धारणाएँ अभी हमें प्राप्त नहीं हुई है। फलतः राजनैतिक वादों को ही धारणा का विषय बनाया गया है। इनसे हमारे रसबोध की पुष्टि नहीं होती—धर्म और दर्शन मे जिस उच्चकोटि की जीवनानुभूतियों और धारणाओं के निर्माण की शक्ति थी, वैसी आज के समाज-सिद्धान्तों और राजनैतिक वादों में नहीं है। कालिदास, तुलसी, रवीन्द्र, दांते, शेक्सपिअर और ब्लेक के सामने जो सम्प्रतीति (व्हिज़न) था, वह आधुनिक कवि को अलभ्य है। अतः वह तथ्य को ही पकड़ कर चलता है और सामाजशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र की उपपत्तियाँ ही उसकी धारणा बन जाती हैं। इसके साथ ही वह वस्तून्मुखता को प्रश्रय देता है। फलस्वरूप ऐसी जीवनानुभूति के स्थान पर जिससे समग्र संस्कृति अध्यात्मनिष्ठ और प्राणवान बनती है, आज हमारे पास व्यक्तिगत धारणाएँ और खण्डित "वाद" है। इसीलिए हमारे कलाकार आज मूल्यों की खोज में ही उलझ गये है। कला और धर्म समान मनःस्थितियाँ हैं। उनके समन्वय से श्रेष्ठतम कृतियों की सृष्टि हुई क्योंकि दोनों में एक ही कोटि की संवेदनाओं और अनुभूतियों का उपयोग सम्भव था। धर्म का स्थान आज राजनीति और विज्ञान ने ले लिया है जो मूलभूत वास्तविकता से सम्बन्धित है, भावना और कल्पना के सत्य से नहीं। फलतः हमारे प्रतीक बौद्धिक हो गये हैं और हमारे उपमान रसबोध की अपेक्षा चमत्कार ही अधिक देते हैं। आज के बुद्धिवादी और विज्ञानवादी युग में हम भावनाओं और कल्पनाओं के प्रति अविश्वासी हो गये हैं। कहा जाता है कि यह अनास्था का युग है, परन्तु बाहर के ही प्रति नहीं, भीतर के भी प्रति हमारा विश्वास खण्डित हो गया है। क्षुद्र, रुग्ण, दुर्बल और अशक्त धारणाओं को नींव में डाल कर हम महान् कला और काव्य की सृष्टि कैसे कर सकते हैं।

यह कहा जा सकता है कि इस अनास्था के युग में भी इलियट ने अपने काव्य में अनेक धर्मों और परम्पराओं को ग्रहण किया है और आधुनिक जीवन की रिक्तता

1. The absence of intellectual belief need not cripple emotional belief, though evidently enough in some persons it may. But the habit of attaching emotional belief only to intellectually certified ideas is strong in some people; it is encouraged by some forms of education; it is perhaps becoming, through the increased prestige of science, more common. For those whom it conquers, it means "Good-bye to poetry—" (*Richads ; Practical Criticism*, p. 278)

को अभिव्यंजित करने के लिए समस्त मानव-परम्परा तथा सम्पूर्ण देवगाथा को उसने आधार बनाया है। इस प्रकार उसने अपने युग की सांस्कृतिक समस्या का हल पाना चाहा है। किसी एक निश्चित धारणा को न अपनाने पर भी इलियट धारणा के महत्त्व को स्थापित करने में सफल हुआ है, परन्तु यह कहना कठिन है कि इससे किसी नई आस्था की सृष्टि हुई है अथवा युग की अनास्था का स्वरूप और भी भयावह हो उठा है।

राष्ट्रीय परम्परा को लेकर भी हम मूल्यों की समस्या का समाधान नहीं कर सकते। हम राष्ट्रीय परम्परा के प्रति परिबद्ध हो सकते हैं परन्तु राष्ट्रीय परम्परा का रूप निश्चित करना कठिन है और भय यह है कि हम पुनरुत्थानवादी मात्र न रह जाएँ। नैतिक, धार्मिक और दार्शनिक धारणाएँ युग-सापेक्ष हैं और उनके मानदण्ड स्थिर नहीं हैं। सौन्दर्यबोध (या रसबोध) के स्वरूप में ही विकासजन्य विभेद सम्भव है। अतः प्राचीन मूल्यों के खण्डहर पर नए मूल्यों की स्थापना नहीं हो सकती। इसकी अपेक्षा क्या यह श्रेयस्कर नहीं है कि हम भविष्य के प्रति परिबद्ध हों और हमारी आस्था कलाकार और कवि की सौन्दर्य-चेतना और तज्जन्य रसबोध पर टिके। अतीत की अपेक्षा भावी के प्रति और शास्त्र की अपेक्षा हार्दिक संवेदना के प्रति परिबद्ध होना कहीं अधिक श्रेष्ठ होगा।

: १७ :

कला : क्षतिपूर्ति अथवा उदात्तीकरण

साहित्य और कला के संबंध में फ्राइड के उन्नयन-सिद्धान्त का इतना अधिक उपयोग हुआ है कि हम उसे ही अकाट्य सिद्धान्त मान बैठे हैं। उन्नयन के मूल में दमन अथवा निरोध है। फ्राइड ने कला-मात्र के मूल में कामवृत्ति के दमन को मान्यता दी है। दमन के फलस्वरूप कामवृत्ति ऐसे प्रच्छन्न रूपों में प्रकाशित होती है जिनमें हमें मूल वृत्ति का आभास ही नहीं मिलता। यह उन्नयन अवांछित, अनायासित और तात्कालिक रहता है और विश्लेषण के द्वारा ही इसके मूल में कामवृत्ति की स्थापना हो सकती है। फ्राइड स्वप्न और कला को एक ही धरातल पर रखते हैं और दोनों में दमित काम की प्रच्छन्न अभिव्यक्ति मानते हैं। अतः निरोधित कामवृत्ति से भिन्न कोटि की वस्तु का जन्म होता है और उसकी प्रकृति का पता लगने पर कदाचित् सर्जन सम्भव नहीं हो सकेगा। उदात्तीकरण के लिए अभिव्यंजित वस्तु में मूल प्रेरणा का प्रच्छन्न होना अनिवार्य है। वह चेतन मन की प्रक्रिया न होकर उपचेतन मन की प्रक्रिया है। अतः उदात्तीकृत साहित्य और कला मूलतः और प्रधानतः अवचेतनीय है।

क्षतिपूर्ति के रूप में भी कला और साहित्य की सृष्टि संभव है परन्तु उसमें दमन तथा उदात्तीकरण के स्थान पर अवरोध और स्थानांतरकरण को प्रमुखता मिलेगी। दमन में केवल कामवृत्ति को ही महत्ता मिलती है परन्तु क्षतिपूर्ति में जीवन के सभी पक्ष आ सकते हैं। इसके अतिरिक्त जहां उदात्तीकरण अवचेतनीय प्रक्रिया है और फलस्वरूप प्रतीकात्मक कला को जन्म देती है, वहां अवरोध और स्थानांतरकरण के द्वारा चेतन कला का सर्जन होता है और वह प्रतीकात्मक न होकर अभिधेय होती है। दमन के पीछे समाज का दबाव है। समाज जिसे गर्हित और अमर्यादित मानता है उसे ही मन अवचेतन में डाल देता है जहां से वह स्वप्न अथवा काव्य के नए जादुई रूप में ढक-मुंद कर प्रगट होता है। अवरोध चेतन वस्तु है और वह व्यक्ति का अपना सचेतन चुनाव है अथवा प्रिय वस्तु मनुष्य या दैव द्वारा हटा ली गई है और उसकी क्षतिपूर्ति के लिए मन नए आलंबन खोज लेता है। यह गुह्य व्यापार नहीं, चेतन व्यापार है। फलस्वरूप नई सृष्टि आदर्शप्राण, सुसंगठित और प्रेय वस्तु से अधिक श्रेयस्कर होगी। उसमें अवचेतनीय उपकरणों का उपयोग उसी अंश तक होगा जिस अंश तक भावना का उदात्तीकरण होगा।

सूरदास और तुलसीदास का काव्य इन दो काव्यप्रक्रियाओं को स्पष्ट कर सकेगा। सूर का शृंगार-काव्य दमन से जन्म लेता है, अतः उनकी शृंगार-भावना का गोपीकृष्ण अथवा राधाकृष्ण संबंधी संदर्भों में उदात्तीकरण हुआ है। राधाकृष्ण उनके

लिए प्रतीक हैं और इन प्रतीकों में उनका व्यक्तित्व एकदम लुप्त हो गया है। उनके दमन ने लौकिक शृगार-भाव को अलौकिक का शृगार बना कर प्रस्तुत किया है जिससे वह अध्यात्म के रूप में सामाजिक मन को ग्रहण हो सके। जहाँ फिर भी सामाजिक मन द्वारा गलत समझे जाने का भय है वहाँ सूरदास केवल प्रतीकों से ही सतोष नहीं कर लेते, ये कूट-काव्य के रूप में अपने और समाज के बीच मे एक दीवार खडी कर देते हैं और साहित्यिक रूढि की ओट मे अपने अवचेतनीय मन को मुक्त छोड देते हैं। उनके वात्सल्य-काव्य की हम इस प्रकार व्याख्यापित नहीं कर सकते। वह निश्चय ही क्षतिपूर्ति है, अत उसमें कवि जागरूक कलाकार और रस के भोक्ता के रूप मे सामने आया है। कृष्ण परात्पर ब्रह्म हैं, यह उन्हें बताना नहीं होता। वह बालक की क्रीडाओं मे अपनी जिजीविषा की पूर्ति करता है। इसी प्रकार तुलसी का सारा काव्य क्षतिपूर्ति मात्र है। उन्होंने गृहत्याग कर एक महत् गार्हस्थ्य का निर्माण किया है और राम-सीता के पवित्र दाम्पत्य तथा उत्सर्ग के रूप मे प्रकारातर से गृहसुख का ही उपयोग किया है। तुलसी का कथा-सगठन उनके सुसगठित मन और उनकी जागरूक कला-चेतना की ही उपज है। उनकी कला परपरा से पुष्ट और चेतन मन के सपूर्ण सौन्दर्य, पाण्डित्य और कौशल से समृद्ध है।

वास्तव मे ये दोनों सिद्धान्त एकागी रूप मे साहित्य एव कला की परिपूर्ण विवेचना उपस्थित नही कर सकते। दोनों सिद्धान्त किसी एक ही कवि और काव्य की विभिन्न उपलब्धियो पर लागू किये जा सकते हैं। क्षतिपूर्ति और महत्वाकाक्षा का चोली-दामन का साथ है। अत साहित्य और कला के क्षेत्र मे महत् रचनाओ के पीछे इन्ही चेतनाओं को देखा जा सकता है और क्लासिकल कही जाने वाली अधिकाश कृतियाँ इन्ही मनोभावों की सृष्टि हैं। इसके विपरीत 'रोमाटिक' रचनाओ का आधार अवचेतनीय उपकरण हैं जो दमन और उदात्तीकरण के सूत्रों मे बँधे हैं। अधिकाश रहस्यवादी काव्य इसी कोटि के अतर्गत आता है क्योंकि वह निरोधजन्य और सदर्भ-विपर्यासी है। उसमे लौकिक पर अलौकिक का आरोप है।

फ्राइड काव्य और कला को स्नायुविकृति या न्यूरासिस से भिन्न नही मानते। अतर यह है कि स्नायुविकार-ग्रस्त (न्यूराटिक) व्यक्ति अपनी दमित भावनाओ का शिकार बन जाता है और कवि-कलाकार उनसे ऊपर उठकर उदात्तीकरण के द्वारा अवरोधित चेतना के प्रसार का मार्ग खोज लेता है। इस भूमिका पर कलाकार के सम्बन्ध मे शेक्सपियर का समीकरण 'द ल्यूनैटिक, द पोएट एण्ड द लवर' (पागल-कवि प्रेमी) उचित ही जान पडता है। फ्राइड की मान्यताएँ लिबिडियो, अवचेतन और ओडीपस कॉम्प्लेक्स जैसी धारणाओ पर आधारित हैं। बाद मे उन्होंने अतिचेतन (सुपरईगो) की धारणा का भी आविष्कार किया है। उन्होंने काव्य और कला के मूल स्रोत लिबिडियो (यौन-सस्कार) मे खोज निकाले हैं। फलत काव्य और कला अवचेतनीय वस्तुएँ बन गई हैं। हारने, फाम्म और सल्वया फ्राइड की इन मूल प्रपत्तियों से सहमत नहीं हैं और वे मनुष्य को मूल रूप से सदाशयी, पवित्र और दैवी मानते हैं। हारने ने ओडीपस ग्रन्थि को अस्वीकार करते हुए बालक के अभिभावक पिता के अनुशासन के प्रति विद्रोह को प्रधानता दी है और सदाशयता, प्रेम और

आत्मीयता जैसी स्वीकारात्मक संवेदनाओं को महत्त्व दिया है । फ्राम्म ने सर्जनशील प्रेम के तत्त्व को प्रधान माना है । इस विचारणा को मानववादी मनः-विश्लेषण कहा गया है । फ्राम्म के अनुसार अतिमानस प्रेमपूर्ण तथा सर्जनशील है जो हमें कर्त्तव्य, अबाध प्रेम एवं क्षमा जैसे सद्गुणों की ओर परिचालित करता है। सत्वयां रति अथवा प्रेम को मूल संवेदना मानता है । इन मनोविश्लेषकों ने स्वरति को विश्वप्रेम का मूल उत्स माना है । अतः मनुष्य का 'स्व' ही फैल कर 'पर' बन जाता है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि फ्राइड-पर युग में मनोविश्लेषक मनुष्य की कल्पना स्वार्थी, आत्मरत, भीरु तथा द्वैतजड़ित व्यक्तित्व के रूप में नहीं करते । वे उसे उच्चाशयी और प्रेमभाव मानते हैं। इन दृष्टिकोणों को लें तो काव्य और कला के मूल में आत्मविस्तार की भावना है, अथवा 'अल्प' का 'भूमा' के प्रति उत्सर्ग । फ्राइड ने अपने प्रबन्ध 'बियाण्ड द प्लेज़र प्रिंसिपल' (१९२०) में 'इरॉस' और 'डेथइंस्टिंक्ट (अथवा प्रेम और मरण सम्बन्धी संवेदनाओं) को आदिम प्रवृत्तियां माना है और इन्हें एक ही सिक्के के दो पहलू कहा है। 'वे पूर्णता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति' को अपनी योजना में स्थान नहीं देते परन्तु यह अवश्य मानते हैं कि कतिपय संवेदनशील मनुष्यों में यह प्रवृत्ति हो सकती है यद्यपि इसे हम 'दमन' की प्रतिक्रिया ही कह सकते हैं । दमन के कारण एक विशेष दिशा की ओर निरोध हो जाता है तो दूसरी दिशा में विकास का अपरिसीम विस्तार खुल जाता है । यह स्पष्ट है कि कलाचेतना 'इरॉस' अथवा जीवनानुभूति का ही मूर्तिमान स्वरूप है जिससे मनुष्य मृत्यु पर विजय पाना चाहता है । इसी से वह संस्कृति का निर्माण करता है और नाश को अमरता में परिणत कर लेता है । उपनिषद् में दान, दया और दम को तीन मूल और महान् प्रवृत्तियां कहा है और इन तीनों में हम कला-सर्जन के मूल स्रोत भी पा सकते हैं। सार्वभौम करुणा (दया) से संचालित होकर कलाकार आत्मदान के द्वारा मनुष्य अथवा समाज की अपूर्णता को दूर करना चाहता है । इस आत्मदान के लिए उसे संयम का सहारा लेना पड़ता है । यह संयम कला-साधना का रूप प्राप्त करता है और इसके द्वारा कलाकार योग-समाधि लाभ कर अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न बनता है । यह स्पष्ट है कि कामप्रवृत्ति के उन्नयन का ऊर्ध्वीकरण से काव्य और कला की अनेक दिशाओं की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं हो सकती। सर्जन-शक्ति में कामवृत्ति का ही रूपान्तर हो जाता है, यह बात एक अंश में तो मानी जा सकती है, परन्तु इन सर्जन के द्वारा कवि अथवा कलाकार अपनी क्षतिपूर्ति करता है अथवा चित्तवृत्तियों का प्रसार करता है, इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता । कामवृत्ति को हम सृजन की प्रमुख प्रेरक शक्ति मान सकते हैं। यह सृजन प्राण-शक्ति का उद्वेलन है, अतः इसमें आत्मविस्तार अथवा 'भूमा' की उपलब्धि है। इनसे कलाकार के खण्डित व्यक्तित्व का सम्बन्ध अखण्ड मानवता से जुड़ता है । भूमा में ही आनन्द है, ऐसा उपनिषद् का उद्घोष है। फलतः हम काव्य-रचना और कला-सृजन को आत्मा के आनन्द की अभिव्यक्ति भी मान सकते हैं ।

यह स्पष्ट है कि कला एक साथ क्षतिपूर्ति और उदात्तीकरण दोनों है । उसमें केवल अवचेतन ही नहीं है, मन के सभी स्तरों का क्रमाविक उपयोग है । उपयोग के

स्वरूप एवं अनुपात के अनुसार काव्य के भेद हो जाते हैं। परन्तु प्रत्येक युग में इन काव्यगत भेदों का स्वरूप बदलता रहता है और भिन्न-भिन्न स्वरूप पास आते रहते हैं। यह अवश्य है कि प्रतीकवादी कला में कामवृत्ति का उन्नयन अधिक होता है और प्रतीकवादी कला का व्यापक उपयोग रोमांटिक, रहस्यवादी, अतियथार्थवादी तथा प्रतीकवादी काव्य मे होता है। अन्य काव्यप्रकार मन के चेतन स्तरो का उपयोग करते हैं—ऐसे प्रकार जो कथा का उपयोग करते हैं। गीतिकाव्य रूपकात्मक काव्य तथा रूपात्मक काव्य (फॉरमेलिस्टिक पोएट्री) मे हम चेतन मन का उपयोग ही अधिक पाते हैं। प्रबन्ध काव्य और गीतिकाव्य दोनों मे क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त का आरोप हो सकता है और दमित काम से उत्पन्न काव्य-स्वप्न भी क्षतिपूर्ति के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। यह भी सम्भव है कि एक ही रचना एक दृष्टि से क्षतिपूर्ति हो और दूसरी दृष्टि से कामवृत्ति का रूपान्तर क्योंकि श्रेष्ठ रचनाओ मे कवि का मन अनेक स्तरो पर एक साथ चलता है दोनो प्रवृत्तियो के पीछे सुखोपलब्धि (प्लेजर प्रिंसिपल) के सूत्र हैं अर्थात मूलरूप मे काव्य-रचना और कलाकृति 'इरॉस' अथवा जिजीविषा का प्रसार है जो जीवन की अदम्य भावना अथवा विजिगीषा के रूप मे भी प्रगट हो सकती है। कामवृत्ति मे इन्ही मूल प्रवृत्तियो का सबसे सशक्त विस्फोट रहता है और क्षतिपूर्ति में भी इन्ही प्रवृत्तियों का रूपान्तरित प्रकाशन है। इन व्यापक सदर्भों मे काव्य को देखने पर हम उसे अनेक स्तरो पर समानान्तर ग्रहण कर सकते हैं।

२
मूल्यांकन

१८

इलियट का प्रतिरूपवाद

(ऑब्जेक्टिव को-रिलेटिव)

इलियट ने १९१९ ई० में 'हैमलेट' शीर्षक अपने एक निबन्ध में (हैमलेट एण्ड हिज प्रॉब्लेम्स) संवेदना की कलागत अभिव्यंजना पर विचार करते हुए पहली बार 'ऑब्जेक्टिव को-रिलेटिव' शब्द का उपयोग किया था और उसके द्वारा कला-जन्य आनन्द की प्रक्रिया की एक नई व्याख्या भी प्रस्तुत की थी। इलियट के शब्द इस प्रकार थे The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an "Objective Correlative", in other words, a set of objects a situation, a chain of events which shall be the formula of that particular emotion, such that when the external facts which must terminate in sensory experience, are given, the emotion is immediately aroused . The artistic 'inevitability" lies in this complete adequacy of the external to the emotion, and this precisely what is deficient in Hamlet Hamlet (the man) is dominated by an emotion which is inexpressible, because it is in excess of the facts as they appear (*Selected Essays* 1917—32, pp 124—25)

स्पष्ट ही इस सिद्धान्त के द्वारा हैमलेट' की अस्पष्टता के कारण खोजने की चेष्टा की गई है। कहा यह गया है कि 'हैमलेट' में शेक्सपियर ने जिन स्थितियों को उभारा है, वे हैमलेट की मनोभावनाओं की सम्पूर्ण रूप से व्याख्या नहीं करतीं। अत नाटककार ने अपने इस पात्र को अतिरिक्त संवेदना दे दी है जो अमर्यादित ठहरती है और पात्र को विस्फोटकात्मक बना देती है। इसी विचारधारा को सूत्रबद्ध करते हुए यह तथ्य उपस्थित किया गया है कि कला और काव्य में जीवन के आवेग या संवेदन सीधे जीवन से नहीं आते, कलाकार अपने प्रत्येक संवेदन के लिए उपयुक्त प्रतिरूप ढूंढता है। प्रतिरूप से तात्पर्य है ऐसी वस्तुएं जिनका सम्बन्ध मूल उद्वेग से है, अर्थात् परिवेश या परिस्थिति और कार्यव्यापार। इनकी सहृति ही रस-विशेष को जन्म देती है। इन बहिर्गत उपकरणों से संवेदना जाग्रत होती है जो परिपक्व होकर विशेष रस की पुष्टि करती है। ये बहिर्गत उपकरण रस-विशेष के प्रतिरूप हैं और दोनों परस्पर अनिवार्य हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कला तथा काव्य आवेग मात्र या प्रकृत संवेदना मात्र नहीं है। अनुभूति को काव्य

प्राप्त करता है। एज़रा पॉउण्ड दांते के स्वर्ग-नरक को आध्यात्मिक स्थितियों का प्रतीक मानते हैं जिसे कला की आवश्यकता के अनुरूप वाणी देने के लिए वस्तुगत ढंग से चित्रित किया गया है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि एज़रा पॉउण्ड और इलियट दोनों दांते के काव्य से अपने सिद्धान्त का निर्माण करते हैं और वे काव्य को संवेदन का प्रकाशन मात्र न मान कर उसे साक्षात्कार की प्रतीकबद्ध अभिव्यंजना मानते हैं। प्रतीकों के रूप में कवि की अनुभूति ही वस्तुगत रूप धारण कर लेती है और सहृदय पाठक प्रतीकों के सहारे ही कवि की अनुभूति तक पहुँचते हैं। इस प्रतीकवाद को ही इलियट ने 'प्रतिरूपवाद' (ऑब्जेक्टिव को-रिलेटिव) नाम दिया है क्योंकि वह केवल प्रतीक पर ही रुकना नहीं चाहता। प्रतीक ही नहीं, प्रतिमान, सदर्भ, शब्द-प्रयोग और नाद बोध तक कवि के साक्षात्कार को मूर्तिमान करने में सहायक होते हैं। इस व्यापक भूमिका पर इलियट का प्रतिरूपवाद रसवाद से भिन्न और अधिक विस्तृत बन जाता है।

परन्तु प्रतिरूपवाद के पीछे नए युग की वह वैज्ञानिक चेतना भी है जो काव्य-प्रक्रिया को सूत्रबद्ध बना कर उसे वैज्ञानिक रूप देना चाहती है और जिसके सामने गणित (प्रमुखत बीज गणित) और संगीत ये आदर्श हैं। उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के फ्रांसीसी प्रतीकवादी कवि (मेलार्मे, वरलें, रिम्बो) काव्य को संगीत और गणित की निर्वैयक्तिक तथा सुबद्ध परिपाटी देना चाहते हैं। पॉउण्ड ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया और काव्य को संवेदना-सूत्र देने का प्रयत्न किया। पॉउण्ड के शब्दों में "Poetry is a sort of inspired mathematics which gives us equations not for abstract figures, triangles, spheres, and the like, but equations for the human emotions If we have a mind which inclines to magic rather than to science we will prefer to speak of these equations as spells or incantations, it sounds more arcane, mysterious, recondite (*The Critics Note-Book*, p 131)

इस वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि पॉउण्ड कविता को गणित अथवा संगीत के समीकरण के रूप में रखना चाहते हैं। इलियट गणित और संगीत की निर्वैयक्तिकता की ओर भी आगे बढ़ाते हैं और इस सिद्धान्त पर अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण साहित्यिक ढाँचा खड़ा करने का प्रयत्न करते हैं। इलियट 'क्लासिसिज़्म' (मर्यादावाद) के प्रति भी आग्रही हैं और ग्रीक साहित्य तथा मध्ययुगीन काव्य के सदर्भ में अपने सिद्धान्त की विवेचना करते हैं। इस प्रकार इलियट का प्रतिरूपवाद स्वच्छन्दतावाद का विरोधी सिद्धान्त बन जाता है और वह 'क्लासिसिज़्म' की परम्परा में जा बैठता है। युग की विज्ञान-बुद्धि का आरोप तो उस पर है ही, उसमें विज्ञानवादियों का आवेगों और संवेदनाओं के प्रति संशय भी प्रगट होता है। ग्रीक साहित्य और दांते में ये अन्तरंगी आवेग बहिरंगी क्रिया-कलापों, वस्तुओं तथा घटनाओं में इस प्रकार प्रतिष्ठापित हो जाते हैं कि उन पर से हमारी दृष्टि नहीं हटती। इलियट का निर्वैयक्तिक काव्य का सिद्धान्त इसी प्रतिरूपवाद का स्वाभाविक विकास है। उसने

'एश-वेडनेसडे' (Ash-Wednesday) और अन्य रचनाओं में अपनी संवेदना की अभिव्यंजना के लिए ऐसे प्रतिरूपों की योजना की है जो या तो प्रतीकों के रूप में हैं, या प्रतिमानों के रूप में, परन्तु जिनमें कवि की अनुभूति को पुनर्जाग्रत करने की सामर्थ्य है। परन्तु अनुभूति या संवेदना को पॉउण्ड और इलियट एकदम भावात्मक प्रक्रिया नहीं मानते, वे इसे तात्कालिक भावोत्तेजन और ज्ञानबोध का संश्लिष्ट योग मानते हैं। इसीलिए दांते और डाने की रचनाओं में उन्होंने विचार और अनुभूति के संश्लेष की पराकाष्ठा देखी है और इन कवियों को उन्होंने आदर्श माना है।

इलियट की यह विचारधारा एकदम सर्वमान्य नहीं रही है और पश्चिमी समीक्षकों को इसे ग्रहण करने में कठिनाई का अनुभव हुआ है। इसका एक कारण तो यह है कि सामान्य धारणा यह रही है कि काव्य और कला में कवि की अनुभूति का अनिवार्यतः प्रकाशन होता है। इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व हमें टाल्सटाय में मिलता है जिन्होंने कला-प्रक्रिया को इन शब्दों में प्रगट किया है : To evoke in oneself a feeling one has experienced, and having evoked it in oneself, then by means of movement, lines, colours, sounds, or forms expressed in words so to transmit that feeling that others experience the same feeling,—this is the activity of art. Art is a human activity in this, that one man consciously, by means of certain external signs, heads on to others, feelings he has lived through and that others are infected by these feelings and also experience them. (*The Critic's Note-Book*, pp. 139-140)

परन्तु आधुनिक युग स्पष्टतः अनुभूति के प्रति शंकालु है और कला तथा काव्य को विचारों की भूमि पर उठा कर देखना चाहता है। अतः आलोचकों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि कला या काव्य कवि की अनुभूति या संवेदना हमें नहीं देते, उनका कार्य है कि वे अनुभव एवं संवेदना को वाणी दें परन्तु साथ-साथ कवि के तत्सम्बन्धी बोध को भी हमें प्रदान करें। इस सम्बन्ध में हरबर्ट रीड का विचार है कि श्रेष्ठ कला-कृतियाँ संवेदनाओं को जाग्रत अथवा उत्तेजित नहीं करतीं, उनके द्वारा शांति, समरसत्व और संतुलन का लाभ होता है, जैसा कदाचित् अरिस्टाट्ल की 'रेचन' प्रक्रिया का अभिप्राय है। इलियट ने अपने निबन्ध "द परफेक्ट क्रिटिक' में लिखा है : The end of the enjoyment of Poetry is a pure contemplation from which all the accidents of personal emotions are removed."

अर्थात् काव्यानंद निर्वैयक्तिक एवं विशुद्ध मनःयोग है। आलोचकों को इलियट की इस परिभाषा में यह आपत्ति है कि वह काव्यानंद को अनुभूतिजन्य और संवेदना-प्रधान भी मानते हैं और कवि की संवेदना को काव्यानंद में रूपांतरित करने के लिए ही उन्हें प्रतिरूपवाद की कल्पना करनी पड़ी है। कविता यदि कवि के आवेगों को पाठक तक पहुँचाने का साधन है तो लक्ष्य संवेदना ही है, भले ही उसमें संवेदना से पलायन का दावा प्रस्तुत किया गया हो। प्रतिरूपवाद से यह अनुमान

होता है कि उपयुक्त प्रतिरूप, प्रतीक या उपमान तत्काल संवेदना जाग्रत करने में सफल होगा। कविता पाठक में संवेदना को जन्म देती है और साथ ही कवि के भाव-निकाय को अभिव्यक्त करती है तो विशुद्ध रसानुभूति और समरसत्व की बात ही कहाँ उठती है।[1] एलिसे विवास (Eliseo Vivas) ने यह प्रवाद उठाया है कि कवि भिन्न-भिन्न पाठकों के भीतर एक-सी प्रतिक्रिया कैसे उत्पन्न कर सकता है। कम-से-कम यह उसकी जिम्मेवारी नहीं है। पाठक पूर्वानुभवों, परिस्थितियों तथा पूर्वग्रहों से बाधित हो सकता है। फिर क्या काव्य के संवेदन जीवनगत (इन्द्रियजन्य) संवेदनों से भिन्न हैं, समान हैं या तथावत् हैं। मनोविज्ञान सौन्दर्यात्मक संवेदनाओं को इन्द्रियानुभूतियों से भिन्न नहीं मानता। व्यक्तिमुखी संवेदना किस प्रकार निर्वैयक्तिक बनती है और निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति व्यक्तित्व की भूमि पर तीव्र संवेदन कैसे जाग्रत कर सकती है, ये कुछ प्रश्न हैं। कविता की भावाभिव्यक्ति दो रूपों में माना जा सकता है। नाटकीय कविता में पात्र या पात्रों के माध्यम से भावाभिव्यक्ति होती है। रंगमंच पर तो यह प्रश्न ही नहीं रहता कि रस की स्थिति कवि में है या उसके काव्य में या नट में। नट अधिक-से-अधिक पात्र का अनुकरण कर सकता है। परन्तु जहाँ काव्य की अभिव्यक्ति नाटकीय नहीं है वहाँ यह सम्भव नहीं है कि काव्य-विषय या काव्यगत स्थिति समाज या परिवेश से रस खींचती हो। इस दूसरे अर्थ में इलियट की प्रतिरूप सम्बन्धी कल्पना अधिक सार्थक होती है। इस पर्याय में सम्पूर्ण कविता प्रतिरूप बन जाती है, उसकी संवेदना केवल भाषा तक सीमित नहीं रहती। उसमें सामाजिक सन्दर्भ की भूमिका पर से भावाभिव्यक्ति की सम्पूर्ण सामर्थ्य रहती है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि समाज के सभी वर्गों को समान रूप से उसकी अनुभूति प्राप्त हो। फिर यह भी सम्भव है कि कविता में प्रतिरूप बनने की योग्यता के साथ अन्य गौण उपकरण भी हों जिनके कारण वह विशिष्ट पाठक वर्ग को प्रिय लग सके। यह भी सम्भव है कि कविता का भाव-पक्ष भावप्रवण होने पर भी पाठक के लिए सब कुछ न हो। यह भी संदेह प्रगट किया गया है कि प्रतिरूप के द्वारा जो संवेदन या भाव प्रगट होता है, वह कदाचित् कवि द्वारा अनुभूत संवेदन नहीं होगा। काव्यानुभूति गतिशील भावस्थिति है, सर्जन की प्रक्रिया और सर्जन-क्षणों के सम्पूर्ण विस्तार में ही उसकी उपलब्धि होगी और कवि को प्रतिरूप-निर्माण के साथ ही उसकी समकालिक अनुभूति होगी। इस दृष्टि को मान लें तो सर्जन के पहले की कवि की संवेदना और सर्जन में प्रतिरूपबद्ध संवेदना में कोई निश्चित एवं अनिवार्य सम्बन्ध नहीं रहेगा। समीक्षक काव्य-विषय, परिवेश, मूल्य आदि की विवेचना तक ही सीमित रहे और मनोविज्ञान की पहेलियों में नहीं उलझे, ऐसा एक वर्ग का आग्रह है।

कविता में दुःखानुभूति भी सुखद और आनन्दमय बन जाती है और कवि अपनी पीड़ा को भी गीत का रूप दे देता है - वियोगी होगा पहला कवि, आह से

1 'The Objective Correlative of T S Eliot', pp 392-95, 400, in 'Critique and Essays in Criticism', edited by R W Stallman (1949)

विवेचना वहाँ नहीं मिलती, परन्तु 'रसो वै स'[1] कहकर उसे ब्रह्मानन्द के समकक्ष रख दिया गया है। ब्रह्मानन्द का तात्पर्य है लोकोत्तर आनन्द अथवा इन्द्रिय-जन्य आवेगों के विपरीत चैतन्य अथवा आत्मा का आनन्द। यह काव्यानन्द चतुर्वर्ग के आनन्द से भी बढ कर है, ऐसा राजानक कुन्तक का मत है।[2] यह स्पष्ट है कि भारतीय आचार्य 'रस' को केवल बौद्धिक नहीं मानते। नाट्यशास्त्र के अनुसार 'रस आस्वादे', अर्थात् रस का अर्थ है 'स्वाद लेना' और 'स्वादो रस-ग्रहणे' स्वाद का अर्थ है रस को ग्रहण करना। अत रस स्वाद-ग्रहण की प्रक्रिया तथा तज्जन्य आनन्द का नाम है। परन्तु निश्चय ही यह स्वाद 'लौकिक' स्वाद नहीं है जो मधुर, तिक्त, अम्लादिक विशेषणों से बोधित होता है। वह श्रेष्ठ काव्य के भीतर की चैतन्य-प्रतीति है। पॉउण्ड जिसे 'विज़न' (सम्प्रतीति, तादात्म्य अथवा अन्तर्योग) कहता है, यह कुछ उसी प्रकार की वस्तु है, परन्तु यह अन्तर्योग बुद्धि मात्र का विषय नहीं है, जैसा इलियट की मान्यता है।[3]

इलियट काव्य को व्यक्तिगत आवेगों तथा संवेदनों से ऊपर की वस्तु मानते हैं और उनके अनुसार बुद्धि के उपयोग से ही मनुष्य इनका अतिक्रमण कर सकता है। काव्यानन्द की भूमि विशुद्ध धारणा-भूमि है, ऐसा इलियट का मत है। परन्तु व्यक्तित्व के भीतर से भी निर्वैयक्तिकता की उपलब्धि सम्भव है, ऐसा इलियट इधर कहने लगे हैं।[4] वास्तव में भारतीय आचार्यों ने भी रसानुभूति को सार्वभौम माना है और साधारणीकरण के सिद्धान्त के द्वारा रस की निर्विशेषता अथवा निर्वैयक्तिकता की बात कही है। निर्विशेषत्व रस का प्राकृतिक धर्म है क्योंकि तभी वह सब के लिए समान रूप से आस्वाद्य बन सकता है और इन्द्रियजन्य आवेगों या भावों के विक्षेप को पीछे छोड कर एकाग्र और निरुद्ध चित्त-भूमियों तक उठ सकता है। साधारण मनुष्य का मन क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमियों पर रहता है परन्तु काव्यानन्द इन निम्न भूमियों का अतिक्रमण कर जाता है और सहृदय को 'आत्मस्थ' बना देता है। वह कलाकार या कवि की योग-समाधि है। भारतीय

---

१ रसो वै स रसं ह्येवाय लब्ध्वा ऽऽनन्दी भवति (तैत्तरीय उपनिषद्)॥

२ चतुर्वर्गफलस्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्। काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥

(वक्रोक्तिजीवित, पृ० ५)

3 The end of enjoyment of Poetry is a pure contemplation from which all the accidents of personal emotion are removed , thus we aim to see the object on it really is and finally a meaning for the words of Arnold And without a labour which is largely a labour of the intelligence we are unable to attain that state of vision amor intellectualis (*Eliot, The Sacred Wood* pp 14-15)

४ *I have, in early essays, extolled what I called impersonality in art*, and it may seem that, in giving as a reason for the superiority of Yeat s later woke the greater expression of personality in it, I am contradicting myself It may be that I expressed myself badly or that I had only an adolescent grasp of that idea but I think now, at least, that the truth of the matter is as follows There are two forms of impersonality that which is natural to the mere skilful craftsman and that which is more achieved by the maturing artist

काव्य-चिन्तन में साधारणीकरण की स्थिति भाव-योग से ही प्राप्त होगी, वह किन्हीं भी अर्थों में बौद्धिक प्रक्रिया नही हो सकेगी क्योंकि तादात्म्य बुद्धि का गुण नहीं है जो मूलत: विश्लेषणधर्मी है।

भारतीय रस-सिद्धान्त का मूल 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र (नाट्यशास्त्र, अ० ६) है और 'काव्यप्रकाश' में (२७, २८) में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि लोक में जो कारण, कार्य और सहकारी (कारण) हैं, वे ही नाट्य एवं काव्य में क्रमशः विभाव (आलम्बन, उद्दीपन), अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं और इनसे जो स्थायी भाव व्यक्त होता है, वही 'रस' कहा जाता है।[1] अत: सामान्य मनोविकार ही काव्य में 'रस' की संज्ञा एवं स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। इलियट ने अपने प्रतिरूपवाद में यही दृष्टिकोण सामने रखा है क्योंकि उनके अनुसार कला में संवेदना अथवा मनोविकार की अभिव्यक्ति केवल 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव' के ही माध्यम से सम्भव है और 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव' का तात्पर्य है : A set of objects (आलम्बन विभाव), A situation (उद्दीपन), A chain of events (अनुभाव), और External facts which must terminate in sensory experiences (संचारी भाव)। वहिर्गत आवेग और अन्तरंगी रसस्थिति में सम्पूर्ण साम्य है जो इस सूत्र से प्रगट होता है, ऐसा इलियट का मत है। परन्तु इलियट 'संयोग' और 'निष्पत्ति' की व्याख्या में नहीं पड़ते जो भिन्न रससृष्टियों का निर्माण करती है। आवेगों की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए कवि या कलाकार कैसे उपयुक्त और सार्थक प्रतिरूप खोज लेता है, इसकी विवेचना इलियट ने नहीं की है। सम्भवतः वह इसे बौद्धिक प्रक्रिया ही मानेगा। यह वह अवश्य मानता है कि इस प्रक्रिया में आवेगों और व्यक्तित्व का वाघ हो जाता है, अर्थात् काव्य में आवेग प्रतिरूपबद्ध होकर इन्द्रियधर्मिता छोड़ देते हैं और फलस्वरूप हमें कवि के व्यक्तित्व की उपलब्धि नहीं होती, उसकी निर्विशेष एवं सार्वभौम चित्तभूमि ही हमें प्राप्त होती है।

दोनों दृष्टियों में अन्तर इस प्रकार है :

(१) भारतीय रस-दर्शन मनोविकारों या आवेगों को ही काव्य की इकाई मानता है परन्तु ये मनोविकार काव्य में विशुद्ध भावभूमि का रूप ग्रहण कर लेते हैं और रूपान्तरित होकर लोकोत्तर 'रस' बन जाते हैं। इलियट काव्य मे आवेगों की निष्कृति चाहते हैं (पोइट्री इज एन एस्केप फ्राम इमोशन), अथवा उनके मत में 'रस' या 'काव्यानन्द' की स्थिति लौकिक भावों का सहज विकास न होकर उनका विरोधी पक्ष है।

(२) भारतीय रस-दर्शन में कवि के व्यक्तित्व की सम्पूर्ण स्वीकृति है। व्यक्तित्व सार्वभौम, समीकृत एवं साधारणीकृत होता है, अतः सर्वमान्य सहृदय के अन्तरतम

1. The second impersonality is that of the poet who, out of intense and personal experience, is able to express a general truth ; retaining all the particularity of his experience, to make of it a general symbol. (*T.S. Eliot in 'On Poetry and Poets', p. 255, Essay on 'Yeats'.*)

को स्पर्श करने में वह सम्पूर्ण रूप से सक्षम है। इलियट काव्यानन्द को व्यक्तित्व के बाध पर खड़ा करते हैं। इस प्रकार इलियट की दृष्टि में कवि का व्यक्तित्व साधक न होकर बाधक है। भारतीय रस दर्शन व्यक्तित्व के प्रसार में विश्वासी है क्योंकि साधारणीकरण कवि व्यक्तित्व का प्रसारण मात्र है। व्यक्तित्व की अस्वीकृति अथवा उसका संकोच काव्य को सामाजिक (या प्रतीकात्मक) भूमि भले ही दे दे, उसके मूल स्रोत कवि के प्रति वर्तमान बुद्धिवादी युग का अविश्वास ही उसमें झलकता है।

(३) इलियट रस-निष्पत्ति को सहज-सिद्ध प्रक्रिया (आत्मधर्म) न मान कर बौद्धिक प्रक्रिया मानते हैं। अत विभावानुभावादि के संयोग में बुद्धि का आरोप अवश्य रहता है और प्रतिरूप की खोज बौद्धिक वस्तु बन जाती है। कठिनाई यह है कि इलियट ने काव्य को मूलत प्रतीकात्मक मान लिया है और वह प्रतिरूपों तथा प्रतिमानों को प्रतीक के रूप में ही लेते हैं। दाते का काव्य उनका आदर्श है। परन्तु भारतीय रस-दर्शन प्रतीकवादी नहीं है, वह जीवनधर्मी है। वह रूप की सिद्धि चाहता है, अरूप की नहीं। अत वह काव्य को आत्मदर्शन का साधन मानता है, बुद्धिचर्या अथवा बुद्धियोग मात्र नहीं। भारतीय काव्य का मूलाधार आदि-काव्य (रामायण) है जो किसी की प्रतीकात्मक रचना नहीं कहा जा सकता।

(४) इलियट ने अपने प्रतिरूपवाद को हैमलेट पर आधारित किया है जिसमें वह अतिरिक्त संवेदना को नाटक के आनन्द और 'हैमलेट' के चरित्रांकन में बाधक मानते हैं। रस-सिद्धान्त नाटककार की खोज है और वह मूलत नाट्यसिद्धान्त है। काव्य पर उसके आरोप में कुछ कठिनाई का अनुभव हुआ है, विशेषत मुक्तक काव्य के सम्बन्ध में। फलत आचार्यों को यह मानना पड़ा है कि रस व्यंजित होता है, निरूपित नहीं होता और रस-सूत्र का कोई भी एक उपकरण रस की व्यंजना में पूर्णत समर्थ है। इलियट प्रतिरूप के भीतर प्रतिमान को भी ले लेते हैं और इस प्रकार अलंकारों के भीतर भी रस-व्यंजना मानते हैं। काव्यदृष्टि के इस विस्तार के कारण प्रबन्ध और मुक्तक का भेद समाप्त हो जाता है और व्यंजना अथवा ध्वनि के सिद्धान्त की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। प्रतिरूप और प्रतिमान किस प्रकार मूल संवेदना को ग्रहण तथा अभिव्यक्त करते हैं, इस सम्बन्ध में इलियट ने कोई व्यक्तित्व नहीं दिया है। फलत काव्यानन्द की दार्शनिक मीमांसा उनके चिन्तन में नहीं मिलती। वे सर्जनात्मक कल्पना (क्रियेटिव इमेजिनेशन) को ही अन्तिम काव्य तत्त्व मानते हैं और उसी के द्वारा प्रतीक-सर्जन तथा प्रतीक-ग्रहण की समस्या को हल करना चाहते हैं। परन्तु इस सर्जनात्मक कल्पना की प्रकृति पर उन्होंने विचार नहीं किया है। सम्भवत जिसे पौंउण्ड 'विज़न' कहता है और इलियट 'सर्जनात्मक कल्पना', वह साक्षात्कार या भावयोग से भिन्न वस्तु है क्योंकि पौंउण्ड और इलियट दोनों बुद्धि का अतिक्रमण करना नहीं चाहते जबकि भारतीय रस-दर्शन चिन्मय कोषों की ओर संकेत करता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि इलियट के प्रतिरूपवाद की अपनी निश्चित सीमाएँ हैं और उनमें काव्य की मूल प्रेरणा और काव्यानन्द सम्बन्धी

सभी प्रश्नों का समाधान नहीं हो सका है। परन्तु हम यह अवश्य कह सकते है कि इलियट की विचारधारा भारतीय रस-सिद्धान्त के समकक्ष एक व्यापक काव्य-दर्शन प्रस्तुत करती है और उससे बहुत दूर तक काव्य की प्रेक्षणीयता तथा काव्य-कला की व्याख्या सम्भव है। पश्चिम की विज्ञानवादी और बुद्धिमूलक प्रवृत्तियाँ इस काव्य-दर्शन की सीमाएँ बन गई है। काव्य को वैज्ञानिक और बौद्धिक सिद्ध करने के लिए ही इलियट ने कविता को निर्वैयक्तिक, प्रतिरूपवादी और सर्जनात्मक कल्पना की सृष्टि माना है। इससे आगे बढ़ने में विज्ञान और बुद्धिवाद की सुरक्षा नही है।

: १९

क्षणवाद

नई कविता में एक नया स्वर जुड़ा है। यह स्वर है 'क्षणवाद'। शाश्वत को नहीं, हम 'क्षण' को पकड़ेंगे। शाश्वत ठंडा है, जड़ है, तात्कालिक नहीं है। क्षण गर्म है, चेतन है, तात्कालिक है। बासी संवेदन महाकाव्य के विषय हो सकते हैं, परन्तु नई कविता ताज़े, गर्म मट्टी के आवेग देगी क्योंकि वह 'गीति-काव्य' है या 'प्रगीत' है। नई कविता अपने को गीतात्मक कहती है तो उसका दावा संगीतात्मकता अथवा शब्दों-छन्दों की लय नहीं होता। उसके लिए उसने 'अर्थ की लय' नाम से एक नया तत्त्व गढ़ लिया है। शब्द की लय नहीं, अर्थ की लय चाहिए। गीतात्मकता से यहाँ त्वरित, क्षणमूलक अथवा आभ्यान्तरिक भाव ही समझा जाता है। हम यह मानते हैं कि इस नये अर्थ में नई कविता संगीत की भूमि छोड़ कर भी गीतात्मक है। परन्तु यहाँ हमें नई कविता के प्रतीकात्मक तत्त्वों पर विचार नहीं करना है, उसकी 'क्षणवादी' मान्यता और सर्जना पर विचार करना है।

इस 'क्षणवाद' के मूल में मनविश्लेषण-शास्त्र की वे मान्यताएँ हैं जो फ्राइड से सम्बन्धित हैं। फ्राइड ने कविता को अवचेतनीय माना और उसे स्वप्न के समकक्ष रखा। फल यह हुआ कि काव्य को अनश्चेतना का प्रवाह मात्र समझ लिया गया और यह कल्पना हुई कि मन को मुक्त, स्वच्छन्द, निर्विरोध छोड़ कर ही अवचेतनीय सत्य की उपलब्धि होगी। अथवा कवि की कल्पना पर चेतन मन का अंकुश नहीं रहेगा। सीधे अवचेतन के गुहा-गर्त्त से संवेग स्रोत के रूप में जो निकले वह विशुद्ध काव्य है क्योंकि उसमें चेतना वाणी में स्वयं ढल जाती है और प्रतीक, प्रतिमान तथा संदर्भ-संकेत के लिए सभी तत्त्व कवि को अपने भीतर से अविराम मिलते हैं। इस धारणा के फलस्वरूप 'विशुद्ध काव्य' (प्योर पोइट्री), स्वलेखन (ऑटो-मेटीज़म) और अतियथार्थवाद (सुररियलिज़म) नाम के आन्दोलन विकसित हुए और कविता को अन्तश्चेतनावादी, व्यक्तिगत, प्रतीकमूलक मान लिया गया। 'क्षणवाद' का यह नया आंदोलन नवीन युग के काव्य-विकास की इन्हीं स्वच्छन्द भूमियों का विकास है। उसमें हम इलियट के संयोगों की भूमि से मुक्ति के विपरीत संवेगों का आत्यन्तिक, तात्कालिक और सूक्ष्म उपयोग देखते हैं। क्षणवादी कवि के लिए कविता 'संवेगों से पलायन' (एस्केप फ्रॉम इमोशन) नहीं है, संवेगों की आत्यन्तिक एवं त्वरित अनुभूति है। उसे हम 'रसवाद' का नवीन संस्करण कह सकते हैं।

रसवाद भारतीय समीक्षा सिद्धांतों में सर्वप्रमुख एवं सर्वप्रिय सिद्धान्त है। रसवाद के मूल में संवेगों की स्वीकृति है और इन्हीं के आधार पर स्थायीभाव, विभाव-अनुभाव और संचारी भाव की योजना की गई है। 'विभावानुभावव्यभिचारि-

संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' कहकर भरत मुनि ने रस-सूत्र के रूप में एक ऐसा व्यापक सिद्धान्त हमें दिया जो अनुभूतिमूलक काव्य की अच्छी कसौटी बन सकता था। कम-से-कम नाटक और प्रबन्ध काव्य के लिए रसवाद की उपयोगिता में कोई संदेह नहीं था क्योंकि दोनों संवेदनमूलक चरित्रों और उद्वेगनिष्ठ घटनाओं को लेकर चलते है। मुक्तक की व्याख्या के लिए ध्वनि का उद्घटित हुआ और रस को आध्यात्मिक नहीं, व्यंजनात्मक माना जाने लगा। इस प्रकार ध्वनि और रसवाद की पटरी बैठी। संवेगों का ध्वनिमूलक उपयोग रसवाद का नया स्वरूप बना और रस के उपकरणों में से किसी एक अथवा किन्ही दो-तीन में रसोद्रेक की कल्पना की जाने लगी। विभाव, अनुभाव अथवा संचारी भाव में से कोई एक भी रस की परिपूर्ण उपलब्धि कराने में समर्थ है, यह विचार सामने आया। परन्तु 'ध्वनि-सिद्धान्त' बौद्धिक जागरूकता पर आधारित है। अतः मुक्तक काव्य की रसध्वनि तात्क्षणिक नहीं हो सकती। नाटक में साधारणीकरण के द्वारा नाट्यवस्तु को संवेदनीय माना गया था परन्तु काव्य मे साधारणीकरण की व्याख्या सहृदय के मूल संवेगों के द्वारा ही हो सकती थी। अतः रस में बौद्धिकता, तटस्थता और शाश्वतत्व का प्रवेश स्वतः ही हो गया। 'क्षणवाद' इन मान्यताओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया का एक सशक्त रूप सामने लाता है। वह रसास्वाद के नए रूप की स्थापना करता है।

यूरोपीय काव्य में 'क्षणवाद' का यह सिद्धान्त १९२० ई० में डी० एच० लारेंस के 'न्यू पोयम्स' (New Poems) नाम के काव्य-संकलन के रूप में सामने आया। इस भूमिका में काव्य की अन्तरंग भूमियों और मनोवैज्ञानिक मान्यताओं का मौलिक रूप से उपयोग हुआ है। लारेंस मूल मानव अथवा संवेगी मानव के दावेदार है। वह इन्द्रिय-सुखों की उपलब्धि में विश्वास करते हैं। वह वासना के कवि हैं। अतः यह आश्चर्य नही कि उन्होंने क्षण-स्पन्दन को अधिक महत्त्व दिया। उन्होंने अतीतजीवी और भविष्यती की परिपूर्णता को सामयिक काव्य (क्षण-काव्य) के आदर्श से भिन्न माना है। शैली और कीट्स के प्रगीत हीरे की तरह कटे-छँटे हैं, परन्तु उनमें जीवन के पुलक-रोमांच का प्राणवान उद्वेग नहीं है। नये काव्य की अपूर्णता, असुष्ठुता और विक्षिप्ति जीवन की तरलता, दुर्ग्राह्यता तथा निरंतरता की सूचक है। जीवन सतत है, निरंतर है, आदि और अन्त के बीच के स्पंदित अन्तराल में ही हमें उसे पकड़ना होगा। वह प्रतिक्षण अतीत होता जाता है और अतीत का अर्थ है व्यतीत। व्यतीत को लेकर हम क्या करेंगे। भविष्यत् अनागत है और इस अनागत के रूप में अकल्पित भी है। वह भी वर्त्तमान में ही बन्ध कर सार्थक है। नही बांध सके तो वह क्षण भर में व्यतीत होकर अतीत के कोट़ में जा बैठता है। इस अतीव त्वरा में प्राण-संवेदन तो वर्त्तमान क्षण में ही मिलेगा। कवि को 'द्रष्टा' कहा गया है। अर्थात् कवि तटस्थ दर्शक मात्र है। बीतते क्षण से उसे कोई भी मतलब नही। वह शाश्वत देगा, 'चिर' देगा, सनातन देगा। परन्तु एक नया दृष्टिकोण लारेंस ने दिया है कि शाश्वत और 'चिर' नई कविता के आदर्श नहीं हैं। म्रियमाण क्षुद्र भी क्षण का वैशिष्ट्य पाकर रस-सागर बन जाता है। उसी में विराट् प्रतिध्वनित होने लगता है। इसीलिए शाश्वत को छोड़ कर क्षण को काव्य में बांधना

होगा। 'रस' के लिए आज कवि बैठा नहीं रहेगा। आज के गतिधर्मी युग में उसे भाव के अणु-मात्र से सन्तुष्ट होना होगा। जीवित-स्पंदित वर्तमान क्षण 'भूतो न भविष्यति' होकर ही सार्थक है।

क्षण-कविता के इस आदर्श को लारेंस ने ह्विटमैन के काव्य में मूर्तिमान पाया है। क्षण को पकड़ कर हम इस काल के हृदय का सारा रस निचोड़ लेंगे। ह्विटमैन ने यही किया। सृष्टि के केन्द्र में स्पन्दमान्, रहस्यमयी और तरल मानव-देह ही तो है। वही इंद्रियों से छूकर जड़ जगत को जीवन देती है, उसे चेतन बनाती है। उसी में से काल के आर-पार देखा जा सकता है। परन्तु कवि के लिए यह अन्तर्दृष्टि या परादृष्टि कैसे सम्भव है। हर्बर्ट रीड का कहना है कि इसके लिए कदाचित् कवि को जीवन के सामान्य धरातल से हटकर योगी की भाँति समाधिस्थ होना होगा। योगी की निर्विकल्प समाधि की भाँति उसे सविकल्प समाधि का आश्रय मिलेगा तो वह कदाचित यह अकल्पनीय भी कर सकेगा। परन्तु जान पड़ता है कि अपने इस समाधान पर स्वयं उन्हें सम्पूर्ण आस्था नहीं है क्योंकि उन्होंने कवि की प्रकृति को भिन्न बतलाया है। कवि योगी की भाँति जीवन से पलायन कर ही नहीं सकता। जीवन के सकोच से काव्य छोटा पड़ जाता है। कविता जीवन का रसात्मक आस्वाद है। उसके द्वारा हमारे जीवन-रस की वृद्धि होती है। प्रगीत मुक्तक में हम जीवन की तात्कालिक और ऐंद्रिक अभिव्यक्ति पाते हैं। नाटकीय प्रतीकों और महाकाव्यों में हम जीवन के चरम सत्य को वाणी देते हैं। आज कवि जीवन का द्रष्टा या स्रष्टा ही नहीं, उपभोक्ता भी बनना चाहता है। अतः वह योगी नहीं बन सकता। क्षण से तादात्म्य उसे स्थापित करना होगा, इसलिए नहीं कि वह मेलार्मे की तरह उसके पार 'सत्य' की खोज करे, वरन् इसलिए कि क्षण को आस्वाद्य बनाए। मेलार्मे, वर्लें और फ्रांस के 'विशुद्ध काव्य' (प्योर पोइट्री) के अन्य समर्थकों ने कवि को सृष्टा बनाकर एक नये सौन्दर्य-जगत् का निर्माण करना चाहा था, परन्तु लारेंस इसी जगत् में प्रवाहित स्थूल वास्तविकता को उपभोग्य बनाने में कविता-कला की सार्थकता समझता है। यह दूसरी बात है कि वह इस दिशा में विशेष सफल नहीं है।

लारेंस ने इस क्षण-काव्य के लिए मुक्त छन्द को ही उपयुक्त माना है क्योंकि निरन्तर, अपूर्ण अथवा स्पन्दमान् वर्तमान की अनुभूति तुकान्तपूर्ण और छन्दबद्ध रचनाओं में नहीं दी जा सकती। शब्दार्थ अथवा विचार्थ का सतत प्रति-पल योग होता चले, इसके लिए यह आवश्यक है कि कवि छन्द अथवा अन्त्यानुप्रास के चक्कर में न पड़े, सीधे अनुभूति को वाणी का रूप दे। लारेंस के अनुसार मुक्त छन्द तुरन्ती और परिपूर्ण मानव-सम्बोधन है। उसमें शरीर, मन, आत्मा तीनों एक साथ हिल्लोलित और मुखर हो उठते हैं। इन तीनों का द्वन्द्व भी उसमें किंचित् प्रतिभासित हो उठे तो बुरा नहीं है। वह भी प्रयत्न का अंग बनकर यथार्थ की सिद्धि में योग देगा। मुक्त छन्द में हम पिंगल के नियमों का निर्वाह नहीं कर सकते, परन्तु साथ ही हमें बँधे-सधे लय-बन्धों, वाक्यांशों, आनुप्रासिक प्रतिबन्धों आदि को भी छाँट देना होगा। नया काव्य प्रयोगी है। परम्परा से उसका विरोध है। अतः नये कवि के लिए भावार्थ सम्बन्धी परम्परित अर्थों और रूढ़िबद्ध भावानुबन्धों का त्याग भी

आवश्यक है। उसे सब प्रकार की बैसाखियों को छोड़ कर सहज अभिव्यंजना के बल पर चलना होगा।

यह हुआ क्षणवाद का काव्य-दर्शन। परन्तु यह काव्य-दर्शन नये काव्य में कहाँ तक ग्राह्य हो सका है, यह हमें देखना होगा। इस काव्य-दर्शन की एकांगिता तो स्पष्ट ही है क्योंकि इसका मूलाधार ही निश्चल है। शाश्वत और क्षणिक के जिस विरोध पर यह दर्शन आधारित है उसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। क्षण में ही शाश्वत बिंबित है और शाश्वत में क्षणों की ही संहृति है। क्यों हम क्षण को पकड़ें और शाश्वत को छोड़ें। वर्ड्सवर्थ ने कविता को 'शांतक्षणों का स्मरणमूलक संवेदन' (Emotion recollected in tranquillity) कहा था। परन्तु क्षणवादी कवि संवेगों को पचाना नहीं चाहता, वह हलचल के क्षणों को ही काव्य का रूप देना चाहता है। वह कच्चे माल का विक्रेता है। परन्तु कच्चे माल को पक्के माल का रूप देकर वह हमें छल नहीं सकेगा। संवेग जीवन के तात्कालिक उपयोग की वस्तु है, काव्य में आते-आते वे जीर्ण अवश्य हो जाते हैं। उन्हें ताजा बनाये रखना हास्यास्पद है। इससे काव्य-जगत् में अराजकता को प्रश्रय मिलता है और काव्य के स्थान पर काव्योपकरण ही पल्ले पड़ते हैं। श्रेष्ठ काव्य मात्र अवचेतन नहीं है, न मात्र संवेग है। उसका अभिव्यंजना का पक्ष भी है जो अनुभूति से स्वतंत्र अपनी निश्चित सत्ता रखता है। अन्तर के तारल्य को मुक्त छन्द के माध्यम से काव्य का रूप देकर हम अपने कवि-कर्म की इतिश्री नहीं समझ सकते क्योंकि इसमें काव्यसंस्कार तथा संवेग-संस्कार की कोई गुंजाइश ही नहीं है। इस प्रकार काव्य संवेगों का संलेखन अथवा त्वरा-लेखन मात्र बन जाता है। निःसन्देह इस दौड़ में वाणी पीछे रह जाती है और घोंघे-सीप ही हाथ लगते हैं, अन्तर्जगत के मोती तल में ही रह जाते हैं। एक प्रकार से 'क्षणवाद' कवि को क्षण-संयोगी बना कर उस अतीन्द्रिय, अलौकिक आनन्द की उपलब्धि से वंचित रखता है जिसे भारतीय मनीषियों ने 'रस' कहा है। नए कवियों को 'क्षणवाद' की इस सीमा को ध्यान में रखकर आगे बढ़ना होगा।

'निकष' के तीसरे-चौथे संयुक्त संकलन की भूमिका में सम्पादकों ने 'क्षण को सपनों से जीवित रखने', 'क्षण की मर्यादा को थामने' अथवा 'क्षणिक के स्थिर राज' का प्रश्न उठाया है और उन्हें संकलन की अन्तर्निहित एकसूत्रता के दो छोर कहा है। अपने तथ्य के समर्थन में उन्होंने कुँवरनारायण की रचना 'हम', मुद्राराक्षस की रचना 'आओ' 'अतीत को भूलें', वसन्तदेव के 'घोषणापत्र' और माखनलाल चतुर्वेदी की रचना 'क्षणिक का कितना स्थिर है राज' को रखा है। कुँवरनारायण का क्षण-वादी दृष्टिकोण अतीत और भविष्य को भी व्यक्तित्व में प्रतिष्ठित कर देता है परन्तु वह यह मानते हुए भी कि 'हम कुछ अतीत हैं, हम कुछ भविष्य हैं' अपनी रचना के अन्तिम बन्द में कहते हैं :

> हम एक इशारा हैं दो भिन्न दिशाओं में,
> हममें होकर सदियों के प्रश्न गुजरते हैं :
> हम एक व्यवस्था हैं क्षणभंगुर जीवन की;
> जो हर क्षण को सपनों से जीवित रखते हैं।

मुद्राराक्षस अतीत और वर्तमान दोनों के प्रति नश्वरता और विराग के भाव को उभारते हुए दोनों की अस्तित्व की असार्थकता समझते हुए अपनी कविता की अन्तिम पंक्तियों में कहते हैं

आओ हम उस अतीत को भूलें
और आज की अपनी रग-रग के अन्तर को छू लें
छू लें इसी क्षण
क्योंकि कल के वे नहीं रहे,
क्योंकि कल हम भी नहीं रहेंगे।

परन्तु इन दोनों रचनाओं में हमें क्षणवाद का दर्शन ही मिलता है, उसका व्यावहारिक उपयोग हमें वसन्तदेव के 'घोषणापत्र' में मिलता है जिसमें कवि जीवन की बुभुक्षामयी हलचलों और नग्नतावादी अन्तश्चेतनाओं को मूर्तिमान करने का प्रयत्न करता है और क्षण के अनुभव की अखण्ड और सर्वमुक्त चेतना को अद्वैती भूमि पर इस प्रकार प्रकाशित करता है

मैं वह हूँ जिसने खाया है।
मैं वह हूँ जिसको खाया है।
मैं वह हूँ जिसने दुत्कारा,
मैं वह हूँ जिसको दुत्कारा।
मैं हूँ यह।
मैं ही वह।
हूँ मैं वह।
किसने क्षण की मर्यादा को थाम लिया है।
मैंने
किसने गति को एक तमाचा मार सदा को रोक दिया है।
मैंने
किस ने पल के विष अमृत को तृष्णा सरीखा चूस लिया है।
मैंने

× × ×

और अन्त में प्रार्थना करता है
प्रभु मुझे वर दो

क्षण-क्षण पतंगों-से छूटे हुए अनुभवों के प्रति
ईमानदार बन सकूँ,
ईमानदार रह सकूँ।

क्षण-क्षण पतंगों-से छूटे हुए अनुभव नए कवि के विषय बनेंगे, अर्थात् ऐसे अनुभव जो छिटपुट आ पड़ें, जो अनायास ही मिल जाएँ, जो अवचेतनीय और तात्कालिक हों। उदाहरण से यह स्पष्ट है कि क्षणवादी अनुभवों में जीवन के

स्वास्थ्य के स्थान पर रुग्णता और विषण्ण आकुलता की छाया है। माखनलाल जी ने अपनी कविता में क्षण की स्थिरता को महत्त्व दिया है क्योंकि क्षण की व्यक्ति-मत्ता अनुभूत सत्य बनकर निर्वैयक्तिक हो जाती है और अनुभूति की भूमि पर उसे अस्थायी और नश्वर नहीं कहा जा सकता। 'क्षण' ही सत्य नहीं है, 'क्षणिक' भी सत्य है क्योंकि क्षणिक में ही क्षण बन्ध कर अमर हो गया है। शाश्वत और अखण्ड मनुष्य की कल्पना की उपज हैं। उनकी अनुभूति योगी की समाधि का विषय भले ही हो, सामान्य मानव-चेतना की भूमि पर क्षण और क्षणिक के भीतर से ही दृश्य के अन्तराल में प्रवेश कर अदृश्य तथा अनश्वर आस्वाद्य बनता है। अतः इस नए दर्शन में अस्तित्व का तारल्य, क्षण-स्थायित्व और निर्विशेषत्व ही चरम सत्य है। 'क्षुरस्य धारा' कहकर उपनिषद् जिस अनुभूति की दुर्ग्राह्यता की ओर संकेत करते हैं, वह आज शाश्वत में बन्धी न रहकर क्षण में समा गई है। एक प्रकार से यह क्षणवादी मनोभूमि विकासवादी एवं अन्तश्चेतनावादी · नई धारणाओं का प्रच्छन्न दार्शनिक रूप ही है। सार्त्र के अस्तित्ववादी जीवनदर्शन का तारल्य तथा वैषम्य इस क्षणवादी दर्शन की भूमिका पर से स्पष्ट आकार धारण कर लेता है। स्पष्ट ही यह जीवनदर्शन काव्यदर्शन के रूप में अपूर्ण और एकांगी है।

२०

नयी कविता

(१)

नयी कविता से हमारा तात्पर्य उन काव्यधाराओं से है जो १६३६ ई० के बाद काव्य-जगत में स्पष्ट रूप से सामने आती हैं और पुरानी काव्य परम्परा से विच्छिन्न नयी धाराओं के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। जनसाधारण में इन्हें सामूहिक रूप से एक नाम दे दिया गया है 'नयी कविता'। सामान्य रूप से 'प्रगतिवादी' अथवा 'प्रयोगवादी' धाराएँ कहकर भी काम चला लिया जाता है। परन्तु इस काव्य में स्पष्टत कई धाराएँ सन्निहित हैं। कम से-कम चार पाँच धाराएँ तो स्पष्ट ही हैं

(१) प्रगतिवादी या मार्क्सवादी काव्य की धारा।

(२) प्रतीकवादी, प्रयोगवादी अथवा मनोवैज्ञानिक काव्य की धारा।

(३) प्रपद्यवादी अथवा अंतश्चेतनावादी काव्य।

(४) गीतधारा।

(५) आख्यान-काव्य की धारा।

इसमें से गीतधारा को हम छायावादी काव्यधारा का परवर्ती विकास और आख्यान काव्य की धारा को द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक कथाकाव्य धारा का परवर्ती रूप कह सकते हैं। शेष धाराओं को १६३६ के पहले के काव्य से उतनी सरलता से जोड़ा नहीं जा सकता। उनमें पश्चिमी काव्यधाराओं का रंग अधिक उभर आया है। उन्हें हम अपनी निजी काव्यधारा का एकदम स्वाभाविक विकास नहीं कह सकते।

कहाँ नया आरम्भ होता है और पुराना समाप्त होता है यह कहना जरा कठिन है। काव्यधाराओं के विकास को निश्चित सन्-सम्वतों में नहीं बाँधा जा सकता और दो काव्यधाराओं के बीच का लम्बा संक्रमण-काल भी रहता है जिसमें पुरानी प्रवृत्तियों के साथ नयी प्रवृत्तियों का उदय स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। वैसे 'आधुनिक काव्य' ही एक भ्रामक शब्द है और उसी को ठीक-ठीक सन् सम्वत् देना कठिन बात है, परन्तु आधुनिक काव्य के अन्तर्गत नूतन प्रवृत्तियों की बात करते हुए नयी काव्यधारा (या धाराओं) की जन्मकुण्डली बनाना तो और भी असम्भव कार्य है। 'युगवाणी' (१६३६), 'कुकुरमुत्ता' (१६४२) अथवा 'ग्राम्या' (१६३६-४२) की रचनाओं में स्पष्ट रूप से नये काव्य का स्वर सुनाई पड़ता है, परन्तु कौन कह सकता है कि 'रोटी के राग' (१६३६) और इससे पहले की छायावादी (या छायावाद काल की) रचनाओं में नयी कविता की विचारधारा या काव्यप्रक्रिया का

आभास बिल्कुल नहीं है। निराला की "भिक्षुक" या "कन" शीर्षक रचनाओं में दीनहीन और क्षुद्र के प्रति वही दया या आक्रोश का भाव मिलता है जो नयी मार्क्सवादी कविता में, यद्यपि कवि अपनी भावनाओं को सिद्धान्त का रूप नहीं देता और प्रयोगवादी काव्य की ध्वन्यात्मकता (व्यंजना), संगीतवद्धता और सांकेतिकता प्रयोगवादी काव्य के प्रतीकसम्बन्धी प्रयोगों और नयी काव्यप्रक्रियाओं की सूचना देती है। वास्तव में, परिपार्श्व के वदलने से काव्य-विषय और काव्यपरिपाटी में अंतर पड़ना निश्चित है, परन्तु यह परिपार्श्व भी एक दिन में नहीं वदलता और नये में पुराने के तत्त्व अनिवार्यतः रहते ही हैं। फलतः नयी धाराओं को हम ऐतिहासिक विकास के रूप में ही देख सकते हैं, परम्पराविच्छिन्न नवीन सृजन या नए आविर्भाव के रूप में नहीं। यह अवश्य है कि नवीनता पहले विद्रोह के रूप में आती है, परन्तु कालान्तर में विद्रोह का तेज कुंठित हो जाता है और नये प्रयोगों में परम्परा का इतना समावेश हो जाता है कि ये नये प्रयोग ही वाद में रूढ़ होकर पुराने और अगतिशील वन जाते हैं और नयी पीढ़ी से काव्य में प्रगतिशीलता की पुकार आती है।

नयी काव्यधाराओं को हम विशेष व्यक्तियों से भी सम्वन्धित नहीं कर सकते। प्रारम्भिक वर्षों में अनेक नयी कही जाने वाली रचनाएँ ऐसे व्यक्तियों से आई हैं जो छायावादी काव्यधारा के प्रवर्त्तक या उन्नायक थे। निराला, पंत और भगवतीचरण वर्मा जहाँ छायावाद के विशिष्ट कवि है, वहाँ नयी काव्यधारा के विकास में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। नरेन्द्र, अज्ञेय, अंचल, दिनकर और कितने ही तरुण प्रगतिवादियों एवं प्रयोगवादियों की काव्यसाधना का एक वड़ा भाग पिछली काव्यधारा (छायावाद) से सम्वन्धित रहा है। इनमें से हम पंत के अत्याधुनिक काव्य को एक नयी ही कोटि (आध्यात्मिक-अवचेतनिक काव्य) में रखना चाहेंगे। निराला के परवर्ती काव्य में गीतधारा का नया रूप मिलता है, उसमें 'कुकुरमुत्ता' और 'रानी' कविताओं की आधातक सचेष्टता नहीं है। इस प्रकार एक ही कवि एक साथ छायावादी, राष्ट्रवादी, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी वन जाता है और उसके काव्य और व्यक्तित्व में विभाजक-रेखाएँ स्थापित करना दुष्कर हो जाता है। 'तारसप्तक' और 'दूसरे सप्तक' के अधिकांश कवियों में हमें यह द्वैध या त्रैध व्यक्तित्व मिलता है। पुराने काव्य की परम्परा से एकदम विच्छिन्न नया काव्य-व्यक्तित्व अभी हमारे सामने आ ही नहीं सका है। व्यक्तियों की भाँति तिथियाँ भी भ्रामक हैं। १९४२ में नये काव्य का आन्दोलन काफी दूर वढ़ आया था और उसी वर्ष महादेवी वर्मा की 'यामा' वड़ी सजधज से प्रकाशित हुई और आज भी पंत, प्रसाद, निराला और महादेवी के छायावादी और रहस्यवादी काव्य में कम जादू नहीं है। नयी पीढ़ी के कवि अनिवार्यतः इन कवियों के अनुकरण से ही आरम्भ करते हैं यद्यपि वाद में नयी काव्यधाराओं का आकर्षण उन्हें अपनी ओर खींच लेता है।

फिर भी यदि नयी काव्यधारा (या धाराओं) के जन्म या आविर्भाव के लिए तिथि चाहिए ही तो उसे 'युगवाणी' (१९३९) और 'कुकुरमुत्ता' (१९४२) के वीच में कहीं रख सकते हैं। एक में नये काव्य की नयी विचारभूमि है और कवि ने कल्पना तथा सौन्दर्य की वाहुओं से निकल कर कठोर जगत् से अपना सम्बन्ध जोड़ा

है और दूसरे में बहिरंग में नये प्रयोग और नयी प्रतीकपद्धति के साथ व्यंजना का आग्रह है। धीरे-धीरे पद्य और गद्य का विरोध मिट रहा है। नये काव्य की गद्यात्मकता की झलक हमें 'युगवाणी' में ही दिखाई देती है जिसे स्वयं पंत ने 'गीत-गद्य' लिखा है। 'युगवाणी' में विचारों के क्षेत्र में क्रांति है, उसमें काव्यसंवेदना का अभाव है और छन्द-प्रयोगों में नवीनता नहीं है। पुराने चौखटा में नयी तस्वीर जड़ी गई है जो जरा भी ठीक नहीं बैठती। परन्तु 'कुकुरमुत्ता' की दुनिया ही नयी है। पिछले काव्य से उसका किंचित् मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। वह आपाद प्रयोग है, नवीन है। उसने परम्परा से पीठ मोड़ ली है और पुरानी शैली तथा पुरानी भाषा को बहुत दूर पीछे छोड़ दिया है। यह रचना इतनी नयी है कि उसके सामने पंत की प्रगतिवादी रचनाएँ भी पुरानी जान पड़ती हैं।

नया प्रश्न यह उठा है कि नये काव्य में नयापन क्या है? आखिर 'प्रगतिशील' (या प्रयोगवाद भी) क्या है? यह प्रगतिशीलता विचारों और भावनाओं की है, या काव्यरूपों, भाषा-शैलियों और छन्दों की? 'नयेपन' और 'प्रगतिशीलता' का दावा प्रत्येक नया प्रवर्त्तन करता आया है और वास्तव में रीतिकाल के काव्य में भक्ति-काव्य से बहुत कुछ नया और प्रगतिशील है। द्विवेदीयुगीन काव्य और छायावादी काव्य की तात्कालिक नवीनता और प्रगतिशीलता में कोई कमी नहीं है। अतः यह दोनों ही शब्द आपेक्षिक होने के कारण भ्रामक हैं और इन शब्दों के प्रति आग्रह ने ही नयी काव्यधाराओं को अग्राह्य और अपभ्रष्ट बना लिया है।

उदाहरण के लिए हम अंग्रेजी के रोमांटिक आंदोलन के प्रथम उच्छ्वास में (जो "लिरिकल बैलेड्स, १७६८ से आरम्भ होता है) जो भावनाएँ पाते हैं, नये काव्य के समर्थक कवि भी उन्हें ही दुहराते हैं। इसी तरह आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की काव्य सम्बन्धी कितनी ही मान्यताएँ आज 'तार सप्तक' या 'दूसरे सप्तक' के कवियों के मुँह से नयी भाषा में सुनाई दे रही हैं। नए प्रवर्तकों ने बराबर कहा है कि उन्हें काव्य को जीवन के निकट लाना है और काव्य-भाषा तथा बोलचाल की भाषा में कोई अंतर न होना चाहिए। काल्पनिक जगत और काव्यप्रयुक्त विशिष्ट पदावली का विरोध बारबार हुआ है, परन्तु रीतिकाल से अब तक विरोधों की भूमि बदलती रही है और वस्तुजगत धीरे-धीरे अवास्तविक बनता गया है एवं बोलचाल की भाषा ने ही कालान्तर में विशिष्ट पदावली का रूढ़ रूप ग्रहण कर लिया है। नये दावों और नयी चुनौतियों ने धीरे-धीरे परम्परा से समझौता कर लिया और उनकी क्रांतिकारिता विनष्ट हो गई। या जीवन ही बदल गया है और जो कभी नया और सामान्य था वही आज पुरातन और विशिष्ट बन गया है और नये तथा सामान्य के रूप में नये चेहरे खिड़की के बाहर से झाँकने लगे हैं।

परम्परा और प्रयोग का यह द्वन्द्व नए काव्य में भी स्पष्ट है। इसीलिए 'नयेपन' को ठीक-ठीक परिभाषा में बाँधना आज भी कठिन है। परन्तु परिभाषा चाहे ठीक नहीं बंधे, नयेपन को समझा जा सकता है, उसका बोध सरल है। परन्तु तब यह प्रश्न होता है, कि क्या यह नयापन अनिवार्य था। यह स्वाभाविक विकास है, या ऊपर से लादी चीज है। यह वाञ्छनीय है, या अवाञ्छनीय। काव्य-जगत के

प्रत्येक नये आन्दोलन के सम्बन्ध में इस प्रकार के तर्क-वितर्क उठे हैं और समीक्षक दो दलों मे बँट गए हैं। नये काव्य के सम्बन्ध में भी दल है। छायावाद के कवि ने बीसवीं शताब्दी के वस्तुसत्य को अस्वीकार कर दिया था। वह 'चिर' और 'शाश्वत्' में विश्वास करता था। पृथ्वी की धूल से अधिक आकाश के नक्षत्र उसे प्रिय थे। करुणा और रहस्य की एक व्यापक अनुभूति और अतीन्द्रिय सौन्दर्य तथा वायवी प्रेम की स्वप्निल छाया के अतिरिक्त उसके पास क्या था। जीवन के कठोर सत्य (युग की राजनीति) से पराङ्मुख इस काव्यधारा ने भावुकता की अतिशयता को काव्य मान लिया। उसके नक्षत्र-भवन में जब युगवाणी पहुँची तब उसकी आँखों को सत्य की चकाचौंध लगी। यह तो हुई विषय की बात। शब्दों और लयों-छन्दों के क्षेत्र में भी छायावाद रूढ़िविजड़ित हो चला था। कविता की मुक्ति के समर्थक कवि अपने ही प्रयोगों की रूढ़ि में बँध गए है। काव्य की एक विशिष्ट भाषा ही बन गई। उस विशिष्ट पदावली के बाहर जनता के प्रतिदिन के सुख-दुःख की भाषा थी जो कवि के लिए ग्रामीण और वर्जनीय थी। स्वयं निराला के काव्य-विकास को देखें तो यह असंतुलन स्पष्ट हो जाएगा—एक ओर तो परिमल की प्रांजल, प्रासादिक, जनसुलभ भाषा है जो बोलचाल के गद्य से बहुत भिन्न नही है और दूसरी ओर 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' की भाषा जो अपनी तत्समता के कारण इतनी बोझल हो उठी है कि कूट बन गई है। जनभाषा या बोलचाल के शब्दों को एकदम अग्राह्य माना गया है। जीवन के दैनंदिन स्पन्दन भाषा में रहे ही नहीं हैं। काव्य में प्रयुक्त फल-फूल-वृक्ष-लता निश्चित है। सभी प्रकार के पक्ष-पक्षी काव्य में नही आ सकते। नये कवि ने इस परिस्थिति का विरोध किया और उसका दावा है :

जिस तरह हम बोलते हैं
उस तरह तू लिख,
और उसके बाद भी
हम से बड़ा तू दिख।

(भवानीप्रसाद मिश्र)

नये काव्य में मर्त्य जगत का कुछ भी वर्जित नहीं है। ग्रामीण शब्दों और मुहावरों के साथ भाषा के अत्यन्त निजी, व्यक्तिगत प्रयोग नये काव्य की विशेषता हैं। जहाँ एक ओर 'सिलहार' के वर्णन मे कवि धरती के स्तर पर उतर कर कहता है :

पूरी हुई कटाई, अब खलिहान में
पीपल के नीचे है राशि सुची हुई,
दानों भरी पकी बालों वाले बड़े
पूलों पर पूलों के लगे अरंम हैं।
बिहगी बरहे दीख पड़े अब खेत में,
छोटे-छोटे ठूंठ ठूंठ ही रह गये।

(डा० रामविलास शर्मा)

वहाँ दूसरी ओर तत्सम-पदावली का यह गाम्भीर्य है

पर महाजन-मार्ग-गमनोचित न सबल है, न रथ है,
अन्तरात्मा अनिश्चय संशय-ग्रस्त,
क्रांति-गति अनुसरण-योग्या है न पद सामर्थ्य।

(भारतभूषण अग्रवाल)

फिर ऐसी रचनाएँ भी हैं जिनके सम्बन्ध में कवि का आग्रह है कि

बात बोलेगी
हम नहीं,
भेद खोलेगी
बात ही।

जैसे शमशेर बहादुर सिंह की इस रचना में

है अगोरती विभा
जोहती विभावरी
है प्रभा उमामयी
सावलीन बावरी
मौन मौन मानसी
मानवी व्यथा-भरी।

भाषा-शैली के ये अनेक परिवर्तन दर्शनीय हैं। एक दूसरी प्रकार के शब्दों का भी नये काव्य में प्रयोग हुआ है जिनसे पूर्ववर्ती काव्य वंचित था। वे हैं नए नागरिक जीवन से सम्बन्धित भौतिक सुविधाओं और विज्ञान-विकास द्वारा सम्भावित शब्द। रेल, तार, डाक, मोटर, इंजन, अस्पताल, हवाई जहाज, बटनहोल, लिपस्टिक—सैकड़ों ऐसे नए शब्द जो नए नागरिक जीवन के अभिन्न अंग बन गए थे, नये और अद्भुत शब्द, नये काव्यस्पन्दन से पुष्ट होकर हमारे सामने आने लगे। नए पाठकों की संवेदना-शिराओं को प्रताड़ित करने की शक्ति इनमें अधिक थी। इन शब्दों के साथ सामाजिक जीवन ने हमारे काव्य-जगत में प्रवेश किया। कदली और कमल पीछे छूट गए। इनमें भावों को जगाने की शक्ति नहीं रही थी। फलतः कवियों को नयी भाव संवेदनाओं के लिए पुराने उपमानों से संतुष्ट न होकर नये उपमान खोजने पड़े और युग के अनुरूप नये प्रतीक चुने गए। नये काव्य का इतिहास कवियों की संवेदनाशीलता और अपने उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में जागरूकता साक्षी है।

भाषा के सम्बन्ध में जो स्थिति रही है, उससे काव्यरूपों, लयों और छंदों के सम्बन्ध में स्थिति अधिक भिन्न नहीं है। नये कवि को नये मधु के लिये नये पात्र खोजना पड़े हैं। पुराने पात्रों में नया मधु कदाचित उतना रुचिकर नहीं होता। पुराने ढंग के छंदों में एक निश्चित लय-विधान था जो छंद की अन्तर्ध्वनि नहीं था, ऊपर से आरोपित था। अतः नए कवि को भावों के अनुरूप अर्थ-ध्वनियाँ जगानी पड़ीं और मुक्त-बद्ध, तुकान्त, अतुकान्त, सम-विषम सब प्रकार के छंदों में नए-नए लय-विधानों की खोज आवश्यक हो गई है। इस प्रकार भाव, भाषा, शैली, छंद, सबमें नया कवि नई अन्तर्दृष्टि और नयी खोज लेकर चला। फल है नया काव्य।

परिवर्त्तन की तीव्र आकांक्षा से नये कवियों ने अनेक दिशाएँ विकसित कीं जो बाद में अपनी एकांगिता के कारण कई धाराओं में बंध गईं। इसमें सन्देह नहीं कि नया काव्य युग-सन्धि का काव्य है। उसमें बदलते हुए जीवन की प्रतिच्छाया है। काव्य का चोला ही नहीं बदला है, समूचा बहिरन्तर बदल गया है। छायावाद के काव्य में आधुनिक कविता बन्द गलियों में पहुँच गई थी—आगे कोई मार्ग था ही नहीं। इसीलिए तोड़-फोड़ कर नया रास्ता बनाना पड़ा है और ऐसा जान पड़ता है कि राजमार्ग दूर नहीं है,—जहाँ जीवन के सहस्रविध रूप-रंग-स्पन्दन, लय-ध्वनि-संगीत-छन्द और वाणी के मुक्तकण्ठीय गान हैं। इस भूमिका में हम काव्यगत नये प्रयोगों और नये संविधानों को देखें।

(२)

आधुनिक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है सन्देश, जिज्ञासा, अनास्था। आज पिछले युगों की श्रद्धा का स्थान 'प्रश्न' ने ले लिया है। हमारे प्रश्न समाधान की चिन्ता ही नहीं करते। एक प्रश्न से दूसरा प्रश्न निकलता है, दूसरे से तीसरा और इस तरह प्रश्नों की शृंखला लम्बी होती जाती है। समसामयिक जीवन में डूबे हुए कवि के लिए यह कठिन हो जाता है कि वह अपने युग को अस्वीकार कर दे और पिछले आस्थावान, सरल, निश्चिन्त युगों की ओर लौटे। फलतः आज काव्य में स्थिरता नहीं रही है और उसमें भी अनास्था के सुर ही ऊपर बजते हैं। कविता से सौन्दर्य, संगीत, कल्पना और कलात्मक एकरूपता का निष्कासन हो गया है। जिन तत्त्वों को काव्य का अनिवार्य अंग माना जाता था, वे ही आज अश्रद्धा के पात्र और उपेक्षित हैं। पुराने और नए कवि की द्विविधात्मक स्थिति का एक बड़ा सुन्दर परिचय बरट्रांड रसेल की इन पंक्तियों में मिलता है: "प्रौढ़ व्यक्ति जिन चीज़ों के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता था, वे बालपन से उसके लिए उसी प्रकार सुपरिचित थीं जिस प्रकार उससे पहले उसके पिता और पितामह के लिए। तब कवि समसामयिक जीवन को लेकर अपना भाव-प्रकाशन ऐसे शब्दों में कर सकता था जो चिरप्रयोग से अर्थवती हो चुके थे और जिन्हें अतीत के रसस्रोतों से रंगीनी प्राप्त हो चुकी थी। परन्तु आज वह या तो सामयिक जीवन की अवहेलना ही कर दे या अपनी रचना में ऐसे शब्दों को स्थान दे जो नंगे और कठोर हैं। कविता में पत्र लिखना सम्भव है, परन्तु टेलीफोन की बातचीत का कविता में आभास देना कठिन है उसी प्रकार जिस प्रकार रेडियो की अपेक्षा कविता में नंदन-संगीत की निर्मिति सरल है। कल्पना के अश्व की बल्गा थाम कर हवा में विहार करना सरल है परन्तु किसी भी जाने-पहचाने छन्द में हवा से भी अधिक गति से दौड़ते हुए आधुनिक स्वचालित यान पर चलना दुष्कर है।" (द साइंटिफ़िक आउटलुक)। यह स्पष्ट है कि आधुनिक युग के नये भौतिक परिवर्तन कवि के लिए एक बड़ी चुनौती थे। या तो जीवन के अनुरूप काव्य की भाषा-शैली, मूर्त्तिमत्ता और छन्दविधान में परिवर्तन हो, या समस्त आधुनिक जीवन को काव्यक्षेत्र से बहिष्कृत किया जाए, या कवि कम-से-कम उस समय तक ठहरा रहे जब तक आधुनिक जीवन के स्थायी

तत्वों का संयोजन न कर लें और नए व्यंजक शब्दों की एक नयी निधि विकसित न हो जाए। वास्तव में जीवन के विकास की जो तीव्र गति पिछले सौ वर्षों में हमें दिखलाई दी है, वह पिछली शताब्दियों की विकास-गति से भिन्न थी और इस विकास ने हमारे शब्द-कोष में इतनी वृद्धि कर दी है कि हमारी प्राचीन शब्दनिधि उसके दशांश से भी कम रह गई है। सहस्रों की संख्या में जो चीजें हमारे जीवन के लिए अनिवार्य हैं, उन्हें काव्य के संवेदना क्षेत्र से कैसे बहिष्कृत किया जा सकता है। यदि हम कविता को पुराने अर्थों में विशिष्ट वस्तु समझें, जिसके निश्चित विषय हैं और निश्चित शब्द कोष, तो हम बुरी तरह रूढ़ि में जकड़ जाते हैं। काल-प्रवाह को पीछे नहीं मोड़ा जा सकता।

एक समाधान यह भी है कि नया कवि नयी जीवन-पद्धति को तो स्वीकार कर ले परन्तु पुरातन काव्योपयोगी शब्द-कोष के द्वारा ही नये जीवन को वाणी दे। सुनने में चाहे यह भला लगे, यह बात अव्यावहारिक है। नये जीवन की अभिव्यक्ति नये शब्दों में ही हो सकती है परन्तु यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि क्या नये काव्य में पुराना कुछ भी नहीं है। अथवा नये काव्य में क्या कुछ, और कितना ऐसा है जो 'स्थायी' और 'चिर' है। परन्तु अभी इस प्रश्न का उत्तर दिया ही नहीं जा सकता। नया काव्य अभी निर्माण-पथ पर है, वह अभी परम्परा से एकदम विच्छिन्न नहीं हो पाया है। उसमें निर्माण की अपेक्षा विध्वंस के स्वर अधिक हैं। पुराने आदर्श ढह रहे हैं, शास्त्र की कड़ियाँ टूट रही हैं, नये विज्ञान ने जिस नये मानव ने, संसार में सब कहीं (और अपने देश में भी) जन्म लिया है, वह पुराने मानव की तरह ही (और प्रत्येक युग के मानव की तरह ही) आत्मशोध के लिए निकल पड़ा है यद्यपि आज उसके विश्वास और अस्त्र-शस्त्र भिन्न हैं। परन्तु आज विध्वंस है तो कल निर्माण भी है और नये आदर्शों और मूल्यों का संधान अपने आप में कोई बुरी चीज नहीं है।

(३)

रोमांटिक काव्य-साहित्य विशिष्ट और व्यक्तिगत था। वास्तव में रोमांटिक काव्य में व्यक्तिगत तत्वों को इतनी प्रधानता है कि उसे ही सर्वोपरि महत्व प्राप्त है। कवि का व्यक्तित्व उसमें इतना मुखर है कि हम अतिपरिचय से आतंकित हो उठते हैं। इसके विपरीत नये काव्य को निर्विशेष और निर्वैयक्तिक कहा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि नये कवियों ने निर्वैयक्तिकता से आरम्भ किया है और इलियट का "द वेस्ट लैण्ड" इसका सुन्दर उदाहरण है, परन्तु परवर्ती वर्षों में एजरा पाउण्ड की रचनाएं (३०वीं सर्गिका का परिलेख) और अन्य कवियों की रचनाएँ भी प्राप्त हुई हैं जिन्हें उसी सदर्भ में निर्विशेष और निर्वैयक्तिक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः में नए काव्य की निर्विशेषता और व्यक्ति-पराङ्मुखता अपने ढंग की चीज है, कुछ इस प्रकार की है कि वह अपने ढंग से विशिष्ट और व्यक्तिगत बन जाती है। नया कवि अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से ही संसार को देखता है यद्यपि वह उसे निर्विशिष्ट रूप देने का प्रयास करता है। फलतः व्यक्तिगत और सामाजिक तत्व नए काव्य में इतने मिल-जुल गए हैं कि उन्हें अलग करना

ग्रसम्भव है। डे सेसिल लेविस के शब्दों में: 'क्योंकि इसमें (ग्रथवा ग्राधुनिक काव्य में) व्यक्तिपरक ग्रौर समष्टिपरक ग्रर्थों का निरंतर ग्रंतर्योजन है। निवेदन का ग्राभ्यंतर वृत्त परिवेश, बाहरी वृत्त मे वृद्धिमान ग्रौर मूर्त्तिमान होता चलता है, या उल्टा क्रम लें तो कवि के परिवेश का विशिष्ट ग्रौर नवीन (इसमें राजनीतिक स्थिति, मानसिक दशा, बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक मनुष्य की उपलब्धि ग्रादि सब चीज़ें ग्रा जाती हैं) पुनः पुनः कवि की ग्रान्तरिक क्रियाशीलता, के प्रतिबिम्ब के रूप में सामने ग्राता है। नये कवियों की ग्रनेकानेक रचनाग्रों में व्यक्तिगत ग्रौर (विस्तृत संदर्भों में) राजनीतिक मूर्त्तिमत्ता का ग्रंतर्परिवर्तन, व्यक्तिगत तथा राजनीतिक भावप्रक्रियाग्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया का ग्राभास बराबर पाया जाता है। (ए होप फ़ार पोइट्री)।

यह स्पष्ट है कि ग्राधुनिक कवि काव्यसृजन में वैयक्तिक तत्वों को महत्व देने के लिए तैयार है, यद्यपि यह महत्व ग्रपने ढंग का है। रोमांटिकों की भांति उसका भी कहना है कि कला कलाकार की व्यक्तिगत ग्रन्तर्दृष्टि का फल है, उसके वैयक्तिक ढंग से जीवन को देखने का प्रतिफल है। परन्तु काव्य मात्र ग्रात्माभिव्यक्ति नहीं है, वह 'निवेदन' भी है। कवि को ग्रपने ग्रात्मानुभूत सत्य (या सौन्दर्य) को सब तक पहुंचाना है, इस तरह कि उसका सत्य (या सौन्दर्य) सब का ग्रनुभूत सत्य (या सौन्दर्य) बन जाए। पाठक कवि के प्रति उस समय संवेदित होगा जब कवि के ग्रनुभूत सत्य में उसे ग्रात्मानुभूति की झलक मिलेगी। कविता को यदि व्यापक ग्रौर सार्वभौम होना है तो उसे ग्रधिक से ग्रधिक बिन्दुग्रों पर जीवन को संस्पर्शित करना होगा। इसीलिए नये काव्य का क्षेत्र समग्र जीवन है, कोई एक ग्रंश मात्र नहीं, विश्व-जीवन की समस्त ग्रनुभूतियां ग्रौर संवेदनाएं। नया कवि उन महान् परिवर्त्तनों से पूर्णतः परिचित है जो ग्राज संसार को बदल रहे हैं। ये परिवर्तन कवि ग्रौर पाठक के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। फलतः वह किसी एक 'नक्षत्र-भवन' में बैठ कर ग्रपना स्वर्णनीड़ नहीं बनाता ग्रौर ग्रपनी क्षुद्रतम वैयक्तिक ग्रनुभूतियों से काव्य नहीं गढ़ता। वह चाहता है कि उसके काव्य-जगत का वस्तु-जगत से तात्विक ग्रौर सूक्ष्म एवं गहरा सम्बन्ध बना रहे। बदलते हुए जगत में ही वह जीवन के स्थायी संवेदन ढूंढता है। 'इण्ट्राडक्शन टु माडर्न पोइट्री' के लेखक मार्टिन गिल्के ने नये दृष्टिकोण को एक नये समीकरण से उपस्थित किया है। उनका कहना है कि नया काव्य बीज-गणित है। बीजगणित की भांति उसमें पात्र, घटनाएं ग्रौर भावस्थितियां प्रतीक मात्र हैं। कवि इन निर्वैयक्तिक प्रतीकों के माध्यम से ग्रधिक से ग्रधिक पाठकों तक पहुंचना चाहता है। वह विशिष्टों का कवि नहीं है, सामान्यों का कवि है। रोमांटिक कवि को विशिष्टता का ग्राग्रह था ग्रौर यह विशिष्टता उसे समस्त दृश्य जगत से खींच कर ग्रात्मकेन्द्रित बना देती थी। ग्रन्त में वह ग्रपने ही स्वप्न-जगत ग्रौर भावसंवेदन में उलझ कर रह जाता था। रोमांटिक कवि की ग्रात्मनिष्ठा वस्तुस्थिति से पलायन या विद्रोह की उपज थी ग्रौर ग्रन्त तक पहुंचते-पहुंचते काव्य प्रलाप-मात्र रह जाता था। गिल्के ने रोमांटिक कवि के काव्य की तुलना ग्रंक-गणित से की है। परन्तु ग्रंक-गणित के ग्रंक भी

प्रतीक-रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं और रोमाटिक कवियों ने भी विद्रोह और आनन्द के व्यक्तिगत स्वरों के माध्यम से असंख्य हृदयों की बात कही है। वास्तव में पूर्ण रूप से वैयक्तिक या निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण असम्भव कल्पना है। वैयक्तिक दृष्टिकोण में निर्वैयक्तिक उसी प्रकार छिपा रह सकता है जिस प्रकार निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण में वैयक्तिक। परन्तु विभिन्न युगों में किसी एक दृष्टिकोण को (भले ही प्रतिक्रिया-स्वरूप) अधिक श्रेय मिल जाता है। नये काव्य में निर्वैयक्तिकता का आग्रह है। सम्भवत यह आग्रह शीघ्र ही अतिवाद का रूप ग्रहण कर लेगा और काव्य में फिर व्यक्तिगत दृष्टिकोणों और भावों की प्रतिक्रियात्मक आवाज़ उठेगी। प्रत्येक प्रत्यावर्तन में क्लासिकल काव्य रोमाटिक काव्य के अधिक निकट आता जाता है और रोमाटिक काव्य अधिकाश में क्लासिकल तत्वों को ग्रहण कर लेता है। नये काव्य में हम रोमाटिक दृष्टिकोण के विरोध में क्लासिकल और निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण का विकास पाते हैं यद्यपि उनमें परम्परागत रोमाटिक तत्व भी कम नहीं हैं। इसीलिए कुछ आलोचकों ने नये काव्य को रोमाटिक काव्यधारा का ही परवर्ती विकास माना है। उनके मतानुसार रोमाटिक काव्यप्रकृति अब भी क्रियाशील है और उसमें चमत्कारवाद और बौद्धिकता की अधिकता के कारण विशुद्ध क्लासिकल काव्य की ओर प्रत्यावर्तन नहीं हो पाया है। इसलिए हम नये काव्य को दोनों की संधि-रेखा पर कहीं रख सकते हैं। पिछले वर्षों में नयी कविता की शक्तिमत्ता की वृद्धि हुई है और अवसाद, निराशा, सन्देह एव अनास्था से ऊपर उठ कर कवि ने उत्साह, आशा, समाधान और आस्था के सुर उठाए हैं। और भी नये इधर के काव्य का आशावादी दृष्टिकोण इलियट से बिलकुल भिन्न और कहीं-कहीं विपरीत जान पड़ता है और उसमें वैयक्तिक कल्पना-चित्रों की प्रधानता है।

: २१ :

नयी कविता : एक दृष्टिकोण

'नयी कविता' को लेकर आज कई प्रवाद उठ खड़े हुए हैं जिनमें से कुछ शास्त्रीय हैं, कुछ अभिरुचिमूलक, कुछ वितण्डावादी। यह स्पष्ट है कि इन प्रवादों ने न तो नये कवि की उलझनें सुलझाई हैं, न पाठकों का समाधान किया है। नयी कविता का सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि वह 'वाद' के रूप में सामने आई और वाद के साथ प्रतिवाद और प्रवाद लगे ही हैं। अन्य वादों की भाँति इसमें भी प्रतिवाद था और वयःसन्धिक वाचालता की भी कमी नहीं थी। परन्तु आज बीस वर्षों के सतत प्रयोग और परीक्षण के बाद इनका भला-बुरा बहुत कुछ उभर आया है और उसका स्वरूप तथा उसकी संभावनाएँ निश्चित हैं। अतः यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि आज विरोधी अखाड़े सहसा उसे चुनौती देने के लिए सामने आ रहे हैं। इससे यह तो साफ़ लगता है कि नयी कविता की स्थिति उतनी सुलझी नहीं है और समीक्षकों का एक वर्ग उसे 'कविता' की मान्यता देने को भी तैयार नहीं है। 'नयी' वह हो, परन्तु 'कविता' क्यों हो, यह इस वर्ग का तर्कवाद है।

प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों है। बीस वर्षों तक कोई काव्यधारा अपना स्वरूप स्पष्ट न कर सके, अपनी मान्यताएँ न बना सके तो उसकी जीवनी-शक्ति के सम्बन्ध में सन्देह होना लाजिमी है। छायावाद का आन्दोलन १९०९-१० ई० में प्रसाद की रचानाओं से आरम्भ होता है और 'पल्लव' (१९२८) और 'परिमल' (१९३०) के प्रकाशन के साथ वह स्वीकृत सत्य बन जाता है। नये काव्य में ऐसी सर्वमान्य सर्जक शक्तियाँ कहाँ हैं ? कौन नयी कृतियाँ ऐसी हैं जिन्हें प्रतिनिधि माना जाय या जिन्हें मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया जाय ? नयी कविता का एक वर्ग प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) विचारों का अनुयायी था और उसके काव्य की भूमि वर्गवादी थी। वह दल अब पीछे हट गया है और प्रयोगवादी (विशुद्ध काव्यवादी या कलावादी) वर्ग अब मोर्चे पर जमा है। इस प्रयोगवादी कवि-वर्ग की सामान्य मान्यताएँ क्या हैं और वह पश्चिम की किन काव्यधाराओं का अनुसरण करता है ? क्या वह सारग्राही है ? या उसका निजी स्वतंत्र व्यक्तित्व है ? उसका जीवनदर्शन क्या है ? उगते राष्ट्र की मनोभूमि से उसने क्या समझौता किया है ? ये कुछ प्रश्न हैं जिनके उत्तर से नयी कविता की स्थिति सुलझ सकती है, परन्तु प्रवादों की हलचल में तर्क कहाँ चलते हैं और समाधान कौन ढूँढ़ता है ? फल यह हुआ है कि नयी कविता के काव्य-रसिक समर्थक और विरोधी दलों में बँट गए हैं और गाली-गलौच का बाजार गर्म है। नयी कविता बैठा-ठालों का धन्धा मात्र नहीं है, आधुनिक जीवन की एक नितान्त आवश्यकता है, इसे कोई मानने को तैयार नहीं है। नयी कविता के

कवि हैं, पाठक हैं, रसज्ञ आलोचक हैं। उसमें विरोध पैदा करने की शक्ति है, अतः वह प्राणवान है। उसके अपने जीवनमूल्य हैं या बन रहे हैं। फिर उसे माना क्यों नहीं जाता?

सबसे पहली बात जो मेरे ध्यान में आती है वह है समर्थ कवि का अभाव। कविता की स्वीकृति उसके भीतर है। यूरोप में हापकिंस, वाल्टर डी-ला मेर और हार्डी प्रथम प्रयोगकर्त्ता बने, परन्तु अंग्रेजी नयी कविता को स्वीकृति इलियट के काव्य से मिली। इलियट के काव्य को छोड़ दीजिए तो १९३० ई० तक की अंग्रेजी नयी कविता में समर्थ कवियों की रचनाओं से टक्कर लेने वाली कृतियाँ कितनी रहती हैं? इलियट ने पूर्ववर्ती और समसामयिक कवियों से रस ग्रहण किया और नये युग को नये मुहावरे, छन्द, प्रतीक, प्रतिमान आदि दिए। उनके महाकवि को पाठकों और समीक्षकों दोनों ने पहचाना और उनके द्वारा पश्चिमी नयी कविता महार्घ बनी। हिन्दी की नयी कविता आज भी प्रयोग की भूमियों में उलझी है, आज भी गण्यमान्य कवि नहीं दे सकी, परन्तु महाकवि को जन्म देना किसी के बस की बात नहीं है। हो सकता है निकट भविष्य में आज के प्रयोगी कवियों में से कोई महाकवि की मान्यता प्राप्त करे और उसके द्वारा नये काव्य को महार्घता मिले। यह भी सम्भव है कि परिस्थितियाँ बदल जायँ, काव्य के स्वर में अन्तर पड़ जाय और नयी कविता जीर्ण और निष्फल हो कर गतिहीन हो जाय। कारण यह है कि जहाँ एक अंशमात्र में उसमें मानव की स्वच्छन्दतावादी वृत्ति का नवीन समारम्भ है जिसमें प्रतीकवाद और नवस्वच्छन्दतावाद आदि पश्चिमी आन्दोलनों का प्रभाव है और शाश्वतत्व है, वहाँ एक बहुत बड़े अंश में वह 'वर्तमान' से जुड़ी है और उसमें आज के बदलते क्षण का भावात्मक आकलन है। यह 'आज' कल संकट में भी पड़ सकता है। देश में नव-निर्माण की अनेक योजनाएँ चल रही हैं और अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों में भी आशाप्रद परिवर्तन सम्भव हैं। यह सम्भव है कि नयी संवेदनाएँ नयी कविता के संदेहवाद, अनिश्चयवाद, आत्मप्रताड़न और संकोच को झकझोर दें और आस्था जाए, आस्था आए। आज एक दशक में कई शताब्दियाँ बीत जाती हैं। अतः मान्यताओं अथवा दृष्टिकोणों को पकड़े बैठे रहना सम्भव नहीं है। यूरोप में भी सभी वादों को महाकृतित्व नहीं मिला, परन्तु उनकी ईमानदारी पर सन्देह नहीं किया गया। फिर हमीं नयी कविता के पुरस्कर्त्ताओं और नये कवियों के प्रति संकोची और सशंक क्यों बनें? यदि नयी कविता ऐतिहासिक प्रक्रिया है तो उसे स्वाभाविक परिणति पर पहुँचना होगा। इस परिणाम में हम सहायक बनें, बाधक नहीं। उसकी तात्त्विक स्थिति फिर हमारी समझ में अनायास ही आ जायगी।

दूसरी कठिनाई ऐतिहासिक है। नयी कविता में १८८० ई० से १९५० ई० तक के यूरोपीय काव्य के अनेकानेक आन्दोलनों, कवियों, कृतित्वों और दृष्टिकोणों का प्रभाव संचित है। किसी कवि को कोई पश्चिमी कवि पसन्द आया, किसी ने कोई आन्दोलन अपनाया। इस प्रकार उसमें विविधता और अनेकरूपता विशृंखलता की सीमा तक पहुँच गई। हार्डी और मेसफील्ड से लेकर काफ़्का और रिल्के तक और प्रतीकवाद से क्यूबिज़म तक उसका क्षेत्र-विस्तार है। अतः उसे न इलियट की

तुला पर तौला जा सकता है, न वर्लें की, न काफ़का की, न पुश्किन की। सच तो यह है कि १९३६ ई० में हमने विश्व-साहित्य के प्रांगण में प्रवेश किया और अंग्रेजी के साथ-साथ पहली बार स्वतंत्र रूप से दूसरी यूरोपीय भाषाओं के साहित्य से भी प्रेरणा ली। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद यह प्रभाव-क्षेत्र विश्वव्यापी हो गया है और नये काव्य-रूपों, प्रतीकों, प्रतिमानों, उल्लेखों और संदर्भों की भरमार है। ऐसा होना स्वाभाविक था। आज के वैज्ञानिक युग में सार्वभौमिक दृष्टि ही सहज है; नहीं, वह अनिवार्य भी है। आज कवि परम्परा को लेकर बैठा नहीं रह सकता और परम्परा जितनी पूर्व की अपनी है, उतनी ही पश्चिम की भी अपनी है, क्योंकि साहित्य अखण्ड है, सार्वदेशिक है। परन्तु यह सर्वग्राही दृष्टिकोण हमारी दुर्बलता भी बन सकता है और बहुत अंगों में बना भी है। हम नयी उपलब्धियों को सम्यक् योगायोग नहीं दे सके हैं। साधना कम है, प्रचार अधिक है। प्रेरणा का स्वरूप ही विदेशी नहीं है, काव्यरूप, छन्द, भाषा सब कुछ विदेशी है। पश्चिम की साहित्य-धाराओं का हमारा ज्ञान अधूरा है क्योंकि अनेक यूरोपीय भाषाओं के काव्य को हमने अंग्रेजी अनुवाद में ही पढ़ा है और यूरोपीय मन के अद्यतन विकास की समस्त सरणियों से हम अभी अवगत नहीं हो सके हैं। फलस्वरूप, पश्चिमी काव्यधाराओं के अनुकरण में हमने जो लिखा है उसमें चकाचौंध अधिक है, प्रकाश कम है। अपनी निजी संवेदना के आगे यह कैसे टिक सकेगा। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि 'नयी कविता' में हिन्दी काव्य विश्वजनीन संवेदनाओं और समस्याओं के बीच में आ खड़ा हुआ है और उसकी मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और अभिव्यंजनात्मक सूझबूझ में सूक्ष्मता और प्रौढ़ता आई है। यह भविष्यत् काव्य के लिए शुभ लक्षण कहे जा सकते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी कविता सामयिकता और राष्ट्रीयता की ओर आगे बढ़ी और बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में उसने पश्चिम की रोमांटिक चेतना से अपना नाता जोड़ा। परन्तु रोमांस के पीछे पश्चिम का 'यथार्थ' भी आया और बहिर्जगत तथा अन्तर्मन को लेकर उसकी आर्थिक एवं मनोविश्लेषणात्मक भूमियां भी उद्घटित हुईं। इसे हम संवेदना का प्रसार ही मानेंगे। आज की हिन्दी कविता यदि पश्चिमी प्रेरणाओं और काव्यप्रक्रियाओं का आकलन करती है तो इसे ऐतिहासिक परिणति ही समझा जायगा। यह दूसरी बात है कि अपनी दुर्बलताओं और असमर्थताओं के कारण हम पिछले सत्तर वर्षों के पश्चिमी काव्य के सुन्दरतम और श्रेष्ठतम से वंचित रहे हैं।

एक कठिनाई नयी कविता के स्वरूप से अनभिज्ञता भी है। नयी कविता में क्या है, यह न देख कर, हम 'क्या नहीं है' देखने के आदी हो चले हैं। अब तक काव्य हमारे लिए अतीत या अनागत का संदेशवाही रहा है। उसमें या तो गौरवमय व्यतीत क्षण बंधे हैं, या अनागत के रहस्य इंगित हैं। आदर्शवादी एवं नीतिवादी जीवन-दृष्टि इन दो छोरों में बंधी है। वर्तमान को वह छोड़ देती है। वर्तमान क्षण को हमने कला का गौरव ही नहीं दिया है। जीवन के स्पन्दन से हम बराबर भागे हैं। नयी कविता में यही दैनन्दिन स्पन्दन है, क्षण-क्षण का जीवन है, असार्थक सार्थकता है। 'गहरे सागर पैठ' कर पाना आज हमने जाना है क्योंकि भागदौड़ी

जीवन के क्षणावेश को हमने वाणी दी है। इस वाणी मे लय-ताल, छद, तुक नहीं है तो क्या। कबीर ने भी तो 'अनगढिया' देव को 'गढे' देव से अधिक महत्व दिया है। नया काव्य यदि कबीर की लुकाठी लेकर चलता है और जीवन-समीक्षक अथवा जीवनसर्जक बनता है तो आश्चर्य क्यों हो ? उसे क्या हम पलायनवादी कह सकेंगे ? छायावाद से हमने जीवन की वास्तविकता मांगी थी। नया काव्य उसे प्रचुर मात्रा मे देता है। फिर इसमे लाक्षा कहाँ है ? क्या हम वर्त्तमान से डरते हैं या अपने कल्पना के घरौंदो को आघात पहुँचाना नहीं चाहते ? यह स्पष्ट है कि कविता ने अतीत और अनागत को छोड कर क्षणबद्ध वर्त्तमान को अपना विषय चुना है। वही सर्वोपरि है। उसकी अपूर्णता, अनिर्दिष्टता, अग्राह्यता और त्वरा आज के साहित्य के प्रमुख उपकरण हैं। आकस्मिकता, दुर्निवार्यता और असमंजसता आज हमारे लिए आकर्षण के विषय बन गए हैं और उस समय तक बने रहेंगे जब तक सर्वदकालीन आज का यह क्षण कल के राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के स्थैर्य मे परिवर्त्तित नही हो जाता। आज का कवि पथ का खोजी है, पथ का दावेदार वह नही बनता। अतीत और अनागत के प्रति वह उत्सुक नही। वह सपूर्ण वर्त्तमान को, उसकी सारी हलचलों, दुर्बलताओ और अपूर्णताओं को, उनके हृदय और मन को शब्दो म बांधना चाहता है। कविता को नवरस के घेरे मे घेर कर हमने उसके साथ अन्याय किया था। नयी कविता ने उसे बौद्धिक सदर्भ दिए हैं। 'सपूर्ण मनुष्य' उसकी पुकार है, केवल भावुक मनुष्य नहीं। इसी से उसका स्वर बदला है और रूप सजा है। नयी कविता इस उत्तर दातो के अनुरूप ही है।

प्रवादो के पीछे हमे नही दौडना है। नयी कविता मे जो कुछ प्रवादोत्तर है, वह हमारे लिए यथेष्ट है। ऐसा प्रवादोत्तर कम नही है। हम उसे पहचानें, परखें और समालें। बीते युग लौटते नही। अनागत की चिंता व्यर्थ है क्योकि वर्त्तमान मे ही भविष्यत् का निवास है। यह मान लें तो 'नयी कविता' हमारे लिए चुनौती का नही, सहानुभूति और गर्व का विषय बन जाय। हम यह मानते हैं कि नयी कविता परम्परा से नाता तोड कर आकाशबेलि बन गई है। पश्चिम उसका रस-पोषण नही कर सकता। यह भी मान्य है कि उसमे विचार काव्य बनता जा रहा है और हृदय के भावकोष रिक्त होते जा रहे हैं। परन्तु नये प्रतीक और प्रतिमान अब नितान्त नए नही रहे हैं और बौद्धिक सूक्तियो मे भी सरसता आ रही है। अब वह किसी वर्ग-विशेष की चीज नही रही क्योंकि अनेक वर्गों की प्रेरणाएँ उसका रस-सिंचन कर रही हैं। नयी काव्यधाराएँ उसमे घुलमिल रही हैं। यह काव्यप्रगति के शुभ चिह्न हैं। मतिवादो को छोड कर जीवन की दैनन्दिन अनुभूति की व्यापक भूमि अपना ले तो नयी कविता प्रवादो मे भी बचे और अपना रूप भी निखारे। यही प्रगति की स्वस्थ दिशा है। परन्तु नयी कविता के विपक्षियो को यह जान लेना होगा कि जैसे जीवन मे वैसे कविता के क्षेत्र मे भी आज स्वनिष्ठा असम्भव है। आज राष्ट्रीयता या भारतीय सस्कृति की दुहाई देकर कविता को काठ के जूते नही पहनाए जा सकते। विदेश-यात्रा आज अवमानना का विषय नहीं रही है। यह हम अवश्य चाहेंगे कि अपनी विदेश-यात्रा से लौट कर नयी हिन्दी कविता पर भी धरोहर को

भी देखें जो पूर्वपरम्पराओं, लोकगीतों और प्रादेशिक भाषाओं की प्रवृत्तियों के रूप में चिर उत्कर्षमयी हैं। परन्तु जागरण के इस युग में हम उसे घर की प्राचीरों में वन्दी नहीं कर सकेंगे। सच तो यह है कि नयी कविता की समस्या घर और बाहर के बीच सन्तुलन की समस्या है। बाहर के दूध पर पली नयी कविता को घर का स्नेह मिलेगा तो वह यथासम्भव शीघ्र ही अपना उत्तराधिकार सम्भाल लेगी।

२२

नयी कविता : एक सर्वेक्षण

'नयी कविता' के हम इतने निकट हैं कि सम्पूर्णता मे उसे ग्रहण करना हमारे लिए असम्भव बात है। अनेक परिपार्श्वों, अनेक कोणो, अनेक प्रवादो के बीच मे नयी कविता की जीवन-शक्ति को पहचानना कुछ कठिन हो गया है। पूछ को ही हाथी समझने वाले भी कम नही हैं और कहानी के सात अन्धों की तरह कम-से-कम सात प्रवाद तो चल ही रहे हैं। छायावाद के सम्बन्ध में ऐसी भ्रान्ति नहीं थी क्योंकि आरम्भ से ही उसका रूप स्थिर था और प्रभाव निश्चित थे। एक विशिष्ट केन्द्र के चारों ओर मोती के परत चढ़े और छायावाद के प्रमुख कवियों का योगदान स्पष्ट रहा। परन्तु 'नयी कविता' की स्थिति ही भिन्न है। आरम्भ से ही उसमे दो केन्द्र रहे, एक प्रतीकवादी, दूसरा मार्क्सवादी और बाद में दोनों केन्द्र अनेक विकीर्ण रेखाओं में विच्छुरित हो गए। फल यह हुआ कि नयी कविता उस ऐतिहासिकता मे ही सम्पूर्ण रह सकी जिसमे छोटे-बड़े सभी प्रयत्न मूर्तिमान हैं। उसमें विरोधी दिशाओ मे चलने वाली काव्यप्रतिभाओ और परिपाटियो का ऐसा समारम्भ उद्घटित हुआ कि गाँव में आए ऊँट की तरह वह अभी भी असमंजस का विषय बनी है।

नयी कविता अपने साथ नए जीवन-मूल्य लाई, परन्तु आरम्भ में ये जीवन-मूल्य स्पष्ट नहीं थे और भ्रामक थे। विरोध और प्रतिकार से उनका जन्म हुआ और उसने सन्तुलन तथा समन्वय के मार्ग को छोड कर चुनौती का मार्ग अपनाया। परम्परा के सम्बल को पीछे छोड कर आगे बढ़ना बड़े साहस का काम था। केवल मात्र अस्वीकृति के बल पर श्रेष्ठ साहित्य की रचना सम्भव नहीं है, परन्तु नयी कविता के पल्ले अस्वीकृति ही पडी। उसने अनास्था का मन्त्रोच्चार किया और आदर्शवाद, वेदांत, देशप्रेम, अभिजात्य और संस्कारिता को रूढ़िवाद कहा। छायावाद को नींव से ही निर्माण नही करना पडा था। नयी कविता को ध्वंस की भेरी बजानी पडी और उस ध्वंस पर एकदम नयी इमारत खडी करना पडी। इस इमारत का मानचित्र विदेशी था और उपकरण भी विदेशी रंगों में रँगे थे। फल यह हुआ कि इमारत के नयेपन ने जहाँ लोगों को आकर्षित किया, वहाँ समझदारो के लिए वह बुझौवल बन कर रह गई। उसमे प्रतीकवाद, दादाइज़म, क्यूबिज़म, वारटिसिज़म, इमेजिज़म, मार्क्सवाद, समाजवादी यथार्थवाद—अस्तित्ववाद, नवस्वच्छदतावाद आदि, आदि न जाने कितने पैवन्द लगे। इन पैवन्दों ने इमारत के असली रंगरूप को भी छिपा दिया।

बड़ी दूर तक नयी कविता छायावाद की प्रतिक्रिया थी। छायावाद में प्रेरणा

का स्वरूप आत्मगत था और सौन्दर्यवाद उसका प्रमुख स्वर था। रूपात्मक और नीतिवद्ध कविता के विरुद्ध उसने कल्पना और भावुकता को प्रश्रय दिया। इंगलैंड के रोमांटिक कवियों की 'मैं-शैली' उसने अपनाई और गीतिकाव्य के चुने हुए स्वर भरे। उसमें दुर्निवार्यता थी, क्षयी आकांक्षा थी। हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी कवियों ने कालिदास की ओर देखा और उनसे संयम और सम्भ्रांति का पाठ सीखा। वेदांत और सूफी प्रेम-साधना की वेदनामयी सार्वभौमिकता और करुणा की भूमि पर उन्होंने कला की वंशी बजाई और कल्पना के जादू के कमल खिलाए। वह राष्ट्रीय भावोन्मुक्ति की उपज थी और उसके श्वासोच्छ्वासों में भारत की पारम्परिक संस्कृति की गन्ध थी। इस पिच्छल भूमि पर वह अधिक नहीं बढ़ी थी कि १९३०-३२ का सत्याग्रह-आन्दोलन असफल रहा और हृदयमंथन का युग शुरू हुआ। पराजय का आक्रोश आत्मप्रताडन, कुंठा, अवसाद, प्रयोग और तोड़-फोड़ के रूप में सामने आया। तभी उसने पश्चिम की ओर देखा और वहाँ से मार्क्सवाद का नारा ग्रहण किया तथा उसे प्रगतिवाद कह कर हिन्दी काव्य-जगत मे चालू किया। यों हम १९३९ तक आ पहुँचे। इसी समय द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ और मार्क्सवादी सिक्के प्रगतिवाद के नाम पर बड़ी महार्घता लेकर चले। आज उनकी महार्घता समाप्त हो गई है और प्रगतिवादी काव्य में हमने 'मुद्रा' अधिक पाई है, भीतरी प्रेरणा कम है। कविता को राजनीति से बांध कर हम किस विचक्षण प्राणी की आशा कर सकते थे ? १९४५ में महायुद्ध की समाप्ति पर प्रगतिवादी कवि एक नये प्रकार के स्वच्छन्दतावाद की ओर लौटे जो जीवन की विकृति और नग्नता को उभार कर चलता था। उन्होंने मनुष्य मात्र की दुर्बलताओं की घोषणा की, प्रकृति में संहार देखा और घोर दुःखवाद को जन्म दिया। काव्य में व्यक्ति का महत्व बढ़ा। उसका अहम् जागा। कवि का खण्डित अहं ही काव्य बन गया। परिवेश पर विजय पाने में असमर्थ कवि खण्डहर बन गया। इलियट के 'द वेस्ट लैंड' में उसने युग के मन की झाँकी देखी। अनेक प्रश्न उठे। अनेक खण्डित प्रतिमाएँ पूज्य बनीं। मनोविश्लेषण के अर्द्ध सत्यों और अवचेतन के द्वन्द्वों पर भीतर की मरुभूमि को समझने की चेष्टा की गई। समझी गई या नहीं, कहा नहीं जा सकेगा, परन्तु सरस वह निश्चय ही नहीं बन सकी। इस प्रकार 'प्रगति' का स्वप्न अवचेतनीय प्रतिमानों और यौन प्रतीकों में खो गया।

यह नहीं कि नयी कविता की उपलब्धि कुछ रही ही न हो, या वह महत्व-पूर्ण न हो। उसमें प्रतीकवादी चेतना के रूप मे ऐसा बहुत कुछ आया है जिसे छायावाद का विकास या नवस्वच्छन्दतावाद कह सकते हैं। काव्यभाषा की जड़ता को उसने झकझोरा है और छन्द एवं लय के सम्बन्ध मे हमारी धारणा मे आमूल परिवर्तन किया है। वह जीवन-मुखी है, क्षणवादी है, अंतरंगी आकुलता है। उसमें प्रतिमानों और प्रतीकों की एक नयी दुनिया ही प्रकाशित है। वह विधाता की सृष्टि के समक्ष सर्जक मन के नवनिर्माण की दावेदार है। आज उसकी आँखें युग के अन्वेषन को कोस रही हैं तो कल वे नवप्रभात का अभिनन्दन भी कर सकेंगी। नयी कविता में कवि-कर्म का नया कौशल कम नहीं है। उसके प्रेरणा-सूत्र सार्वदेशिक हैं और

विज्ञान-युग के भाववस्तु को उसने वाणी में बाँधने का उपक्रम किया है। उसमें गद्यात्मकता है परन्तु जहाँ जीवन के रसकोष ही सूख गए हों वहाँ सरसता के शीश-महल क्या कृत्रिम नहीं लगेंगे? कालान्तर में वह सच्चे अर्थों में कविता बन सकेगी।

इसमें सन्देह नहीं कि युद्धोत्तर नयी कविता सब प्रकार से अराजक है और उसमें धुरी-हीनता भी कम नहीं है क्योंकि नये जीवन-मूल्यों का निर्माण हम अभी नहीं कर सके हैं, परन्तु उसके सतत परीक्षण, उसकी सतत प्रयोगशीलता में अविश्वास नहीं किया जा सकता। अब भी उसमें प्रश्न ही प्रश्न हैं, समाधान नहीं हैं। गांधी जी की हत्या देश के स्थायी जीवन-मूल्यों पर सबसे बड़ा प्रहार थी परन्तु इस घटना ने नये जीवन-मूल्य के विकास में कोई सहायता नहीं दी। नयी पीढ़ी की जीवन दृष्टि निरन्तर संकोचशील, संशयग्रस्त और चटुल बनती गई है जिसके फल-स्वरूप सर्जन शक्ति का ह्रास हुआ है और कर्त्तव्य-बुद्धि कुंठित हुई है। लक्ष्य-भ्रांति के चिह्न आज की कविता में स्पष्ट ही लक्षित हैं। पुरानी पीढ़ी नवनिर्माण का नारा लगाती है, सर्वोदय और कल्याण-समाज की दुहाई देती है, परन्तु श्रद्धाहीन नयी पीढ़ी आस्था का बल नहीं संजो पाती। परन्तु क्या इसके लिए नयी पीढ़ी ही उत्तरदायी है?

पूछा जाता है कि नया कवि आस्था का दीपक क्यों नहीं जलाता, नवनिर्माण के गीत क्यों नहीं गाता। परन्तु कला के क्षेत्र में विघटन की सूचना जीवन मूल्यों की अस्तव्यस्तता की सूचना है। भारतीय मन पर संकट के जो बादल युद्ध-काल में छा रहे थे, वे अभी हटे नहीं हैं। कलाकार की संवेदनशील आत्मा नए स्वप्नों को छल समझ रही है क्योंकि वे धरती के रस से पोषित नहीं हैं। देश की कर्म और सर्जन की शक्तियाँ आज भी अवरुद्ध हैं। किसी नयी अन्तर्योजित काव्यचेतना की आशा व्यर्थ है क्योंकि सर्जनशील मन धूपछाँही मरु-छलना में चंचल है। नयी दिशाओं की ओर भटकन लगाता हुआ वह बढ़ अवश्य रहा है परन्तु अन्तरंगी प्रकाश के अभाव में वह अपनी चेतनाओं को नया संकल्प नहीं दे सका है। यही नये काव्य का दिशाभ्रम है।

नयी कविता के सम्बन्ध में एक बड़ी भ्रांति यह फैली है कि वह एकदम परम्पराविच्छिन्न है, या हो सकती है, और उसमें प्रयोग-ही-प्रयोग हैं। इन प्रयोगों को भी सन्देह की दृष्टि से देखा गया है और नयी कविता के एक प्रमुख पक्ष के लिए प्रयोगवाद नाम लांछना के संदर्भ में चल ही रहा है। प्रयोग नयी कविता का बल है, यह कह देना अनुचित नहीं होगा परन्तु नयी कविता केवल मात्र प्रयोग है, उसमें हिन्दी का अपना स्वर नहीं है, यह कहना किंचित् साहस का काम है। नये कवियों और नयी कविता के पाठकों के मन से यह भ्रामक धारणा दूर हो, तभी नयी कविता का भविष्य उज्ज्वल कहा जा सकेगा। नयी कविता अपने जीवन के प्रारम्भिक दो दशक पार कर वय सन्धिक दुर्बलताओं से आगे बढ़ कर आज यौवन की दहलीज पर खड़ी है। राजपथ वह पीछे छोड़ आई है परन्तु अच्छा हो यदि वह अपना गन्तव्य जान ले और अपने सम्बल की पूरी पहचान उसे हो। किसी भी युग की कविता न तो केवल परम्परा पर जी सकती है, न प्रयोग पर। सधिकालीन

कविता के लिए तो यह और भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है। प्रयोग परम्परा को आगे बढ़ाते हैं तो परम्परा प्रयोग को पुष्ट करती है और अविच्छिन्न के भीतर नैरन्तर्य का अमृत ढालती है। यह प्रक्रिया ही काव्य को अक्षुण्णता और अखण्डता प्रदान करती है। देखा तो यह गया है कि नये प्रयोगों के भीतर से बड़ी चीज आई है तो परम्परा के बल से ही पुष्ट होकर आई है क्योंकि प्रत्येक उत्कृष्ट कवि पूर्वार्जन के प्रति सचेत रहता है और उसकी क़लम की नोक पर बीते उत्कर्ष अनायास ही उतर आते हैं और नयी उपलब्धियों से मिल कर इन्द्रधनुषी वर्णच्छटा ग्रहण करते हैं। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है क्योंकि साहित्य का कर्त्ता-धर्त्ता मनुष्य है जो अनागत के प्रति उत्साही होता हुआ भी अतीतगर्भित है। कवि या साहित्यकार साधारण मनुष्य से कहीं अधिक संवेदनशील रहता है, अतः सुन्दर अतीत से एकदम सम्बन्ध तोड़ लेना उसके लिए कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। हिन्दी की नयी कविता में भी प्रयोग के पीछे परम्परा का बल है और नया कवि बहुत दूर तक प्रसाद और निराला के कण्ठस्वर को सुरक्षित रख सका है। आवश्यकता इस बात की है कि हम नये प्रयोगों के पश्चिमीपन से आतंकित न हों, उनके पूर्वापर संदर्भों को भी पहचानें और समसामयिक प्रेरणाओं से भी उनका प्राण-सम्बन्ध स्थापित करें। इसके लिए गहरी सहानुभूति की अपेक्षा है। यह सहानुभूति मिलने पर नयी कविता हिन्दी पाठकों की भावभूमि को रससिक्त कर सकेगी, और उसमें स्थायी तत्त्वों का समावेश होगा, ऐसा विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है। प्रवादों की पिच्छल धरती से ऊपर उठ कर हम सम्भावनाओं के उन्मुक्त आकाश की ओर देखें। तब नयी कविता हमारे भाव-जगत से असंपृक्त बन कर एकदम नयी और अस्पृश्य नहीं रहेगी।

• २३ •

नई कविता : व्यक्तिवादी काव्य

नई कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति 'व्यक्तिवाद' है। उसमे जो वैचित्र्य दिखलाई देता है वह मूलत इसी व्यक्तिवाद के कारण है। इस व्यक्तिवाद के जन्म और विकास का अपना इतिहास है। मूल रूप से व्यक्तिवादी प्रवृत्तिया का सम्बन्ध स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन से है जो स्वय भौतिकवादी विज्ञानवादी सस्कृति की प्रतिक्रिया है। विज्ञान के विकास ने भौतिकता को प्रश्रय दिया और कवि व्यापक समाज से छिन्न-भिन्न होकर विद्रोही बन गया। सामन्तवादी युगो मे कवि समाज का प्रवक्ता और शीर्षस्थ वर्ग का चारण था। औद्योगिक क्रान्ति ने स्थिति मे परिवर्तन कर दिया। फल यह हुआ कि प्रजातन्त्री चेतना का जन्म हुआ और कवि नवोन्मुक्त समाज का सन्देशवाहक बन गया। उसने विज्ञान मे मानवीय सम्भावनाओ का श्रेष्ठतम विकास देखा और स्वतन्त्रता, समता तथा बन्धुत्व के आदर्शों को नई वैज्ञानिक सस्कृति मे मूर्तिमान देखना चाहा। परन्तु विज्ञान को कवि का यह नेतृत्व पसन्द नही था। उसने पूजीवाद से गठबन्धन कर लिया और कवियो के नए समाज के स्वप्न अधूरे ही रह गए। इसलिए यूरोपीय स्वच्छन्दतावाद के काव्य मे हम निरन्तर कुण्ठा, अवसाद और असतोष का स्वर पाते हैं। सवेदनशील कवियो मे यह असतोष धीरे-धीरे विद्रोह का रूप धारण कर लेता है और कवि के लिए सबसे बड़ी समस्या यह हो जाती है कि विरोधी जगत मे अपने छोटे से व्यक्तित्व को किस प्रकार सुरक्षित रख सके। प्रजातन्त्र की इकाई व्यक्ति ही है। अत कवि का यह विद्रोह प्रजातन्त्री आदर्शों के विरुद्ध नही पडता। इसीलिए स्वच्छन्दतावादी काव्य के भीतर विकसित व्यक्तिवादी एव विद्रोही स्वर उस युग के समीक्षको और सहृदयो को आकर्षक बना रहा। शीघ्र ही प्रजातन्त्र के भीतर असगतियाँ दिखलाई पडने लगीं और रोमास से व्यक्तिवाद का साथ छूट गया। पिछली एक शताब्दी का काव्य व्यक्तिवाद के उत्तरोत्तर उत्कर्ष और कवि की सवेदनात्मक भूमि के निरन्तर सकोच का इतिहास कहा जा सकता है।

इस सकोच के कारणो की खोज करना आवश्यक है। एक कारण है प्रचलित नीति का विरोध। उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे यूरोप मे व्यक्तिवाद और रोमास के विरोध मे नीतिवादी दृष्टिकोण को विकसित किया गया। अग्रेजी समाज और साहित्य मे इसका विशेष प्रसार था। रूसो, टॉल्सटाय और रस्किन के साहित्य-सिद्धान्त इस नीतिवादी साहित्यदृष्टि के शिखर थे। इस साहित्य का जीवनोल्लास से स्पष्टत विरोध था और नीरस पक्तियो को ही काव्य के नाम से चलाया जाने लगा था। 'नयी कविता' के कवियो ने परम्परित नीतिवादिता को एकदम तिरस्कृत कर

दिया। फलतः किसी एक वर्ग के न रहने में ही उन्होंने अपनी सार्थकता समझी। नीति की डोर के शिथिल होकर टूट जाने पर काव्य-क्षेत्र की एकान्विति ही समाप्त हो गई। इसी से कवियों को छोटे-छोटे गुट बांधने या किसी आलोचक का पल्ला पकड़ने की चाह हुई। 'कला के लिए कला' सिद्धान्त का जन्म हुआ और कवियों का दृष्टि अन्तर्मुखी होने लगी। आग्रह हुआ कि काव्य नीति-निरपेक्ष हो, अच्छा हो यदि विषय-वस्तु से भी शून्य हो। इस प्रकार व्यक्तिगत दृष्टिकोण और वैचित्र्यमयी अनुभूति को प्रश्रय मिला।

एक दूसरा कारण है विज्ञानवादी दृष्टिकोण का प्रसार। आधुनिक संस्कृति मूलतः बुद्धिवादी और विश्लेषणप्रिय है। उसमें ज्ञान की अपार महिमा है, परन्तु हृदय के स्रोत निरन्तर सूखे जा रहे हैं। जिसे शिक्षा कह कर चलाया जा रहा है, वह सूचना मात्र है। उसमें अनुभूति को जगह नहीं मिली है। फलतः आज का शिक्षित मनुष्य व्यर्थता से भर गया है। कविता का स्रोत है आनन्द, जिज्ञासा, रहस्य। हमारे ज्ञान की परिधि इतनी विस्तृत हो गई है कि कुछ भी अप्रत्याशित नहीं रह गया है। काव्यरूढ़ियाँ आज हास्यास्पद जान पड़ती हैं। 'अद्भुत' का थोड़ा भी स्पन्दन जीवन में शेष नहीं रह गया है। वैसे विज्ञान और कविता में निरन्तर विरोध ही हो, यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि विज्ञान रहस्योन्मुखी है। उसमें जिज्ञासा और समाधान के अनेक सूत्र हैं। परन्तु आज विज्ञान विशेषज्ञता के उस संसार में पहुँच गया है जहाँ तालिकाओं का राज्य है और मानव-शिशु तथ्यों की मरुभूमि में खो गया है। फल यह हुआ है कि हम अहं के स्तूप बन गए हैं। हम चमत्कृत होने में मान-हानि समझते हैं। हमारी सहज मानवीय अन्तर्वृत्तियाँ जड़ होती जा रही हैं।

यह कहा जा सकता है कि सिनेमा, टेलीविज़न और रेडियो के इस युग में कविता के लिए स्थान ही कहाँ है क्योंकि हमारी जिज्ञासा की भावना इन्हीं से पुष्ट हो जाती है। परन्तु मनुष्य अनुभूतिधर्मी ही नहीं है। वह अनुभूति को ग्रहण भी करना चाहता है। वाणी के द्वारा वह अपनी अनुभूतियों को आकार देता है, उन्हें अपने लिए अधिक संवेदनीय बनाता है। भाषा मनुष्य की विशेषता है और हम अनुभूति के आलेखन में ही शब्दों का उपयोग नहीं करते, उनके ही द्वारा हमारी अनुभूति प्रेक्षणीय बनती है। वास्तव में हमारी सभी गहरी अनुभूतियाँ उस समय तक किसी-न-किसी अंश तक अधूरी रहती है जब तक हम उन्हें वाणी नहीं देते। अनुभूति का सम्पूर्ण मधु भाषा के पात्र में ही ढल सकता है। अन्य कलाएँ भी अनुभूति को बांधने में समर्थ हैं, परन्तु इन कलाओं में सभी सक्षम नहीं हो सकते। शब्द की कला सार्वभौमिक और सहज है और उसमें व्यंजना की अपार सामर्थ्य है। अन्य कलाओं में अनुभूतियों के प्रकाशन की सीमा है परन्तु इस प्रकार की कोई सीमा भाषा के साथ नहीं लगी है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और व्यापक-से-व्यापक अनुभूति शब्दबद्ध हो सकती है। फिर हम अनुभव ही करना नहीं चाहते, उसे समझना भी चाहते हैं। समझ कर अन्य संवेदनशील मनुष्यों तक अपनी समझ पहुँचाना भी हमारी संवेदना का एक अंग बन जाता है। इस प्रकार अनुभूति के साथ भाषा और भाषा के साथ प्रेषणीयता का सम्बन्ध अनिवार्यतः लगा हुआ है। अनुभूति स्वान्तःसुखाय होकर भी

लोकानुरंजनाय या लोकहिताय होती है क्योंकि जोडना उसका धर्म है और जहाँ वह अपने मे ही सिमट जाती है वहाँ कुठाग्रस्त और अनगढ बनी रहती है।

परन्तु केवल बुद्धिग्राह्य होने पर ही अनुभूति ग्राह्य नही बन पाती, उसे हृदयस्थ भी होना होगा। हम तर्क और बुद्धि के द्वारा ही अपने अनुभवो को भी समझना चाहते हैं और यह नहीं समझते कि यह भ्रांति है। हमें उन्हें तर्क और भावना दोनों भूमियों पर ग्रहण करना है। धर्म और कला जीवन को एक साथ तर्क और भावना के दो विभिन्न और विरोधी स्तरो पर समझने के उपक्रम हैं और इन दोनो के सम्पूर्ण योगायोग मे ही हमारी जीवनानुभूति की सक्षमता, परिपूर्णता तथा गहनता की अभिव्यक्ति होती है। वैज्ञानिक युग मे धर्म और कला के भावकोश सूख जाते हैं। कवि का कर्त्तव्य है कि वह नए स्रोत खोले और अपने युग को अनुभूति-सक्षम बनाए। जहाँ वह व्यक्तिगत वैचित्र्य से ही चिपट कर रह जाता है, वहाँ वह अपने इस मूल कर्तव्य से विमुख हो जाता है। अपने मन को टटोल कर कवि सब के मन की कली खोलता है परन्तु जहाँ वह ऊहापोहग्रस्त होकर या कुण्ठित होकर अपने मन को ही बन्द कर लेता है, वहाँ वह अपार अन्तराल को पार कर किस प्रकार अन्य मन तक अभियान कर सकेगा ?

वैचित्र्यवादी कवि कह सकता है कि वह अपने तक ही सीमित रहेगा, दूसरों की चिंता उसे क्यों हो ? क्यो वह प्रेषणीय बने ? परन्तु क्या केवल मात्र तर्क से अपने को भी तुष्ट किया जा सकता है ? रुद्ध मानस अपने भीतर किस सौंदर्य की सृष्टि कर सकेगा ? हम यह नहीं कह सकते कि आज बीसवी शताब्दी मे हमें कविता की आवश्यकता ही नहीं है। आदिकाल से कवि युगानुभूति का व्याख्यापक रहा है। युगान्तर के साथ अनुभूति की प्रकृति मे भी अन्तर पडता गया है। मानव की मूल प्रकृति इतनी शीघ्रता से नहीं बदलती और अनुभूति की प्रकृति भी बहुत धीरे-धीरे बदलती है परन्तु अनुभूति का स्वरूप युग के साथ अवश्य बदल जाता है। अनुभूति के किसी पक्ष पर हम कम बल देते हैं या अधिक, उसके प्रति हमारी संवेदना किस गहराई पर विकसित होती है, यह बहुत कुछ परिवेश पर अवलम्बित है। बदलते परिवेश के साथ काव्य भाषा ही नहीं बदलती, काव्यात्मक संवेदना के स्वरूप, प्रकार, गाम्भीर्य एव अन्तर्योग मे भी अन्तर पड जाता है और उसे स्वय अपने लिए अनुभूति एव सार्थक बनाने के लिए कवि को उपयुक्त छन्द, काव्य-रूप, प्रतीक तथा प्रतिमान देने होते हैं। इसीलिए एक ही अनुभूति विभिन्न युगो मे विभिन्न स्वरूप धारण करती हुई दिखाई देती है।

यह स्पष्ट है कि परिवेश ही युग धर्म की सृष्टि करता है और नए परिवेश को पहचानना तथा उसे वाणी देना कवि का परम कर्त्तव्य है। परन्तु परिवेश की पहचान क्या एकदम सरल बात है ? जैसे-जैसे मानव-संसार वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण सरल होता गया है, वैसे-वैसे मानव-संस्कृति का स्वरूप जटिल होता गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे क्रान्तियाँ दिखलाई पडती हैं और नए-नए ज्ञान विज्ञान प्रत्येक क्षण हमारी चेतना के द्वार पर दस्तक देते दिखलाई पडते हैं। जीवन के भीतर-बाहर झाँकने की इतनी खिडकियाँ आज खुल गई हैं कि कवि के लिए सब में से

झाँकना असम्भव हो गया है। वह कहाँ तक विशेषज्ञ बने। मनोविज्ञान, मनःविश्लेषण, नृतत्व, पुरातत्व, भौतिक-शास्त्र, धर्मशास्त्र,—किससे वह क्या ले, किस सीमा तक ले, क्या छोड़े ? अतः मनुष्य का सतत विकसित ज्ञान ही आज उसकी अनुभूति की सीमा बन गया है। उसने संवेदना के पैरों में बेड़ियाँ डाल दी हैं और उसे पंगु बना दिया है। इसी से वैचित्र्य में ही ज्ञान का आभास देकर आज का कवि अपना छुटकारा पा जाना चाहता है। नए काव्य में समस्त ज्ञान-भूमियों की संहृति में यही रहस्य है। परन्तु वहाँ ज्ञान उस प्रकार एकान्विति को प्राप्त नहीं हो सका है जिस प्रकार कालिदास के काव्य में। वह काव्य साधना के माध्यम से समीकृत नहीं हुआ है, परिवेश और परम्परा के निरर्थक आकलन का आतंकवादी आग्रह मात्र बन गया है।

यह स्पष्ट है कि इस गर्त्त से काव्य का उद्धार करना होगा और वैचित्र्य की भूमि पर से उठा कर उसे सन्तुलन और साधना के देश से परिचित कराना होगा। यह बता देना होगा कि काव्य मात्र-संवेदन नहीं है, वह अनुभव है, जीवन-विस्तृत अनुभव की भूमि पर ही श्रेष्ठ काव्य खड़ा किया जा सकता है। क्षणवादी संवेदन और तुरन्ती वास्तविकता को लेकर हम किसी भी स्थायी कृति की सृष्टि नहीं कर सकेंगे। नए काव्य की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि उसने साधना की कठोर भूमि को छोड़ कर सहजानुभूति के पिश्चल पथ पर चलना आरम्भ किया है और पथ को ही मंजिल मान लिया है। रिल्के के उन शब्दों को उसके सामने रखना होगा जिनमें श्रेष्ठ काव्य की रूपरेखा स्थापित करते हुए उसने कहा है :

But alas, one does not get very far with verses if one write them too early. One should wait and collect sense and sweetness during a whole lifetime and if possible a long one, and then, right at the end, one might perhaps be able to write ten lines that were good. For verses are not, as people suppose, feeling (one has those soon enough)—they are experiences. For the sake of a verse one must see many cities, men and things, one must know animals, one must feel how birds fly, and understand the gestures with which little flowers open in the morning. One must be able to look back upon roads in unknown regions, on unexpected meetings and on partings that one long foresaw, on days of childhood that are still unexplained, on parents whom one had to hurt, if they brought one a pleasure and one did not comprehend it (it was a pleasure for someone else),—on childish illnesses, that begin so strangely with so many deep and difficult charges, on days in still, subdued rooms and on mornings by the sea, on all that the sea can mean, on seas, on nights of travel that rushed away on high and flew with all the stars—and even if one is able to think of all that, it is not sufficient. One must have memories of many nights of love, of which not one was like another of cries of women in labour and of light, while sleeping women in childhood, who are closing. But one must also have been beside the dying, must have sat beside the dead in the room with the open

window and the intermittent sound And still, even to have memories is not sufficient If there are many of them one must be able to forget them, and one must have the great patience to wait till they return For the memories themselves are not yet what is required Not till they become blood within us, look gesture, nameless and longer distinguishable from ourselves, not till then is it possible, in some very rare hour, for the first word which verse which arise in their midst and to proceed from them

(कोई अल्प वय मे ही कविता लिखने लगे तो भी बहुत बडा कवि नहीं बन सकता। कवि बनने के लिए प्रतीक्षा करनी होगी और जीवन भर, सम्भव हो तो लम्बे जीवन भर अर्थ और माधुर्य का चयन करना होगा और तब ठीक अन्त मे वह दस पंक्तियाँ ऐसी लिख सकेगा जो अच्छी पंक्तियाँ हों। क्योंकि जैसा लोग मानते हैं, कविताएँ संवेदनाएँ नहीं हैं - संवेदनाएँ जल्दी उभरती हैं—वे अनुभव हैं। एक भी रचना के लिए कवि को अनेक नगरों, मनुष्यों, वस्तुओं को देखना होगा, अनेक पशुओं को जानना होगा, महसूस करना होगा कि पक्षी कैसे उडते हैं और उन भंगिमाओं को समझना होगा कि जिनमें छोटे-छोटे फूल सुबह को खिलते हैं। अपरिचित प्रदेशों मे बिछी सडकों की स्मृति उसे ताजी करनी होगी। अप्रत्याशित भेंटें और पूर्वाभासित विदाइयाँ, बचपन के दिन जो अभी भी अबूझे हैं, माता पिता जिन्हें हमने तब नहीं समझा जब वे हमे सुख पहुँचाना चाहते थे और जिन्हें हमने पीडा पहुँचाई,—बचपन की बीमारियाँ जो अजीब तरह शुरू होती हैं और इतने गम्भीर और कठिन परिवर्तन दे जाती हैं,—खामोश, पराजित कमरों मे बीते दिन और समुद्र तट की सुबहें,—और समुद्र क्या कुछ हो सकता है, विशेषत यात्रा की रातों मे जो उडती चली जाती हैं और सितारों से होड करने लगती हैं। और यदि कोई इन सब को स्मृति मे सुरक्षित रख सके तो भी काफी नहीं है। प्यार की अनेक रातों की याद बनी रहनी चाहिए और ये रातें भी एक-जैसी नहीं हों। क्या होती हैं प्रसव-पीडा के समय की नारी कण्ठ की चीत्कारें और कैसे होते हैं प्रसव के बाद नवजात शिशु से लिपटे हुए गोरे, हल्के शरीर। यही नहीं, मरणासन्न मनुष्यों की शय्या से लगकर बैठना होगा और शव के साथ भी, जब कमरे की खिडकी खुली हो और कभी-कभी कोई शब्द चेतना पर आघात करता हो। और इनकी स्मृति-मात्र से काम नहीं चलेगा। बहुत-सी स्मृतियों मे से कुछ को भुला देना होगा और कुछ के लिए धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी होगी जब तक कि वे लौट न आएँ। क्योंकि केवल स्मृतियाँ ही वांछित नहीं हैं। उन्हें हमारे भीतर का रक्तप्रवाह बन जाना होगा, नाम-रूपहीन और हमसे अभिन्न बनकर हमारी निगाहों और मुद्राओं मे झाँकना होगा। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक यह सम्भव नहीं है कि किसी दुर्लभ क्षण मे इन स्मृतियों के बीच में कोई गीत उठे और इनमे से फूटकर आकार ग्रहण करे।)

आज का कवि ज्ञान से परास्त है और विज्ञान से हार गया है। अपनी अनुभूति के धागे मे वह इन्हें पिरो नहीं सका है। इसी से उसकी काव्यात्मक संवेदना विशृंखल, अस्पष्ट और सतही है। अपनी पीढ़ी की तरह कवि का स्पर्श भी सतही

और तात्कालिक रह गया है। आज वह न स्रष्टा है, न द्रष्टा। वह अपनी अनुभूति के प्रबल प्रवाह में बहता हुआ निःसहाय तृण बन गया है। उसमें उस अन्तर्दृष्टि का अभाव है जो सतही असंगतियों, अस्पष्टताओं और विभिन्नताओं के भीतर घुस सके और केन्द्रवर्ती सार्थकताओं को पहचान सके। दर्शन का काम यदि युग की समस्त तथा विरोधी उपलब्धियों को बौद्धिक स्तर पर एकात्मकता देना है तो काव्य का काम उन्हें नए सौन्दर्य-बोध एवं नए भाव-जगत में एकाकार करना है। केवल बौद्धिक धरातल पर चलकर आज का कवि ज्ञान-विज्ञान से छोटी ही चीज हमें दे सकेगा, वह बड़ी चीज नहीं जिसकी परम्परा काव्य कहलाती रही है। उपनिषद् के ऋषियों ने कवि को 'मनीषि', 'ऋषि' और 'धीर' कहा है। केन्द्र तक पहुँचने वाली अन्तर्दृष्टि जिस साधना की अपेक्षा करती है वह एक साथ हृदय-मन की संतुलित साधना है। उसी के फलस्वरूप आस्था के कमल खिलेंगे और कवि नए युग को अभिव्यक्ति दे सकेगा। तब उसके लिए प्रेषणीयता का प्रश्न रहेगा ही नहीं क्योंकि उसके प्रतीक युगनिष्ठ, सहज सौन्दर्यप्राण तथा तादात्म्यज रहेंगे। इस युगाधार पर प्रतिष्ठित युगातीत सत्य भी वैचित्र्यभ्रांत तथा अमर्यादित न रहकर मानव-मूल्यों की अभिव्यंजना में सहज सक्षम रहेगा।

२४

नयी कविता : आस्था का प्रश्न

नयी कविता को लेकर आस्था का प्रश्न भी सामने आया है। कहा गया है कि आज हमारी आस्था संकट में है और इसीलिए नयी कविता में आस्था के स्वर नहीं बोलते। अनास्थाजन्य अवसाद और कुंठा नयी कविता के प्रमुख अंग बन गए हैं और प्रयत्न करने पर भी इनसे छुटकारा नहीं मिल रहा है। इस पृष्ठभूमि में प्रश्न यह उठता है कि काव्य में आस्था का क्या स्थान है? आस्था का ही नहीं, धारणा का महत्त्व भी हमें देखना है।

एक पक्ष का कहना है कि काव्य धारणा से स्वतंत्र वस्तु है। डॉ० आइ० ए० रिचर्ड्स ने 'साइंस एण्ड पोइट्री' शीर्षक ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार किया है और यह स्थापित किया है कि वैज्ञानिक धारणाएँ ही नहीं, सभी प्रकार की धारणाओं से मुक्त काव्य का सृजन सम्भव है। परन्तु अन्त में उनको भी मानना पड़ा है कि ऐसा काव्य श्रेष्ठतर काव्य नहीं है क्योंकि काव्य की उच्चतर भूमियों पर दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण बन जाता है।[1] आज काव्य में धर्म और यौन सम्बन्धी धारणाएँ ही नहीं, प्रचलित राजनैतिक धारणाओं का भी तीव्र आग्रह है। इस परिस्थिति में यह सुझाव सरल लगता है कि काव्य धारणाओं से मुक्त रहे। इस विचारधारा के अनुसार काव्य मन स्थिति मात्र है और काव्यगत धारणाओं की परीक्षा विज्ञान, समाज-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र को लेकर नहीं की जा सकती। काव्यानन्द को स्वत सिद्ध और सर्वनिरपेक्ष मान कर, हम सामाजिक क्रियाशीलता से छुटकारा पा सकते हैं जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति की जिम्मेदारी है। परन्तु काव्यानन्द सामाजिक कर्त्तव्यशीलता का स्थानापन्न क्यों बन जाये? आज विभिन्न धारणा क्षेत्रों में बौद्धिक फैसला करना असम्भव है, परन्तु उससे कृति के आनन्दग्रहण में क्यों बाधा हो? वास्तव में व्यावहारिक क्षेत्र से अलग हटने के लिए आज विशुद्ध काव्यानन्द की बात उठाई जा रही है। परन्तु रिचर्ड्स ने इस सम्बन्ध में एक समझौता भी किया है। उन्होंने बौद्धिक धारणा और भावनात्मक आस्था में अन्तर रखना चाहा है। हम अपनी बौद्धिक धारणाओं को भावनात्मक आस्थाओं का रूप दे देते हैं, परन्तु क्यों हम इन दोनों को अलग-अलग नहीं रखें? रिचर्ड्स बौद्धिक धारणा को काव्य-क्षेत्र से तिरस्कृत करना चाहते हैं परन्तु भावनात्मक आस्था की स्थिति अनिवार्य

---

1 A great deal of Poetry can, of course be written for which total independence of all beliefs is an easy matter But it is not poetry of the more important kind because the temptation to introduce beliefs is a sign and measure of the importance of the attitudes involved. (*Richards Science and Poetry*, p 86)

मानते हैं। उन्होंने कवि की आस्था के दो रूप माने हैं,—प्रमाणसिद्ध और कल्पनात्मक। प्रमाणसिद्ध आस्था को आधार बना कर कोई श्रेष्ठ काव्य नहीं रचा जा सकता जबकि कल्पना का योग श्रेष्ठ काव्य को आत्मसात् करने के लिए परमावश्यक है। हम कल्पना-जगत में दो विभिन्न और विरोधी धारणाएँ रख सकते हैं, शर्त यह है कि वे तर्क-संगत हों और अपने-अपने स्थान पर पूर्ण हों। रिचर्ड्स ने वैज्ञानिक सत्य के विपरीत भावनात्मक तथ्य को 'मिथ्या तथ्य' (स्यूडो-इस्टेटमेण्ट) कहा है और उसकी परिभाषा इन शब्दों में दी है: A pseudo statement is a form of words which is justified entirely by its effect in releasing or organising our impulses or attitudes. (*Science and Poetry*, pp. 58-9) (मिथ्या तथ्य शब्दों का वह स्वरूप है जो हमारी संवेदनाओं और दृष्टिकोणों को संगठित अथवा मुक्त करके अपने को चरितार्थ करता है)। मिथ्या-तथ्यों का हमारे जीवन-संस्कारों के निर्माण में बड़ा हाथ है और वैज्ञानिक सत्य कदापि उनका स्थान ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि उनमें भावना-कोशों को छूने की क्षमता ही नहीं है। विज्ञान की नई खोजों और नवीन बुद्धिवाद ने असंख्य मिथ्या-तथ्यों की हत्या कर दी है परन्तु नए तथ्यों का सहारा हमें नहीं मिल सका है। फलतः आज हमारी आस्था अनुर्वरा और क्लांत है।

परन्तु क्या काव्यानन्द के सम्बन्ध में एक प्रकार की मनःप्रतीति को लेकर चलना ही ठीक होगा? क्या हम मतभेदों और जीवनदर्शन की विभिन्नताओं के रहते हुए भी श्रेष्ठ काव्य से रसग्रहण नहीं कर सकते? इलियट का विचार है कि कृति से आनन्द ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि पाठक कवि की धारणाओं और उसके विश्वासों का साझीदार हो। 'दांते' शीर्षक अपने निबन्ध में इलियट ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि हम व्यक्ति दांते और कवि दांते के विश्वासों में अन्तर कर सकते हैं और यह उचित नहीं है कि दोनों में कोई सम्बन्ध हो। किसी भी लेखक के लिए यह कहना हास्यास्पद है कि उसने अपने काव्य का अपनी धारणाओं से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है। वास्तव में जिस प्रकार हम कवि की धारणाओं से सहमत होकर उसके काव्य में आनन्द ले सकते हैं, उसी प्रकार असहमति रहने पर भी उससे उतना ही आनन्द ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु कृति 'साहित्यिक' हो, उसमें 'काव्य' हो तभी यह सम्भव है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि साहित्य क्या है, काव्य क्या है और क्या वह धारणा या आस्था से एकदम अलग और स्वतंत्र वस्तु है। इलियट के विचार में काव्यानन्द को व्यक्तिगत आस्था से अलग करके देखना असम्भव है। कवि और पाठक दोनों के लिये यह बात लागू होती है। उसने विशुद्ध काव्यानन्द को हास्यास्पद माना है। स्वीकारात्मक तथा अस्वीकारात्मक काव्य के आनन्द के विभिन्न स्रोतों तथा रूपों के सम्बन्ध में भी इलियट के विचार द्रष्टव्य हैं: Actually one probably has more pleasure in the poetry when one shares the beliefs of the poet. On the other hand there is a distinct pleasure in enjoying a poetry when one does not share the beliefs, analogous to the pleasure of

'mastering' other men's Philosophical systems It would appear that 'literary appreciation' is an abstraction, and pure Poetry a Phantom, and that both in creation and enjoyment much always enters which is, from the point of view of "Art" irrelevant (*Selected Essays*, 1917-32, pp 229-31)

(वस्तुत कवि की आस्था का सहभागी बनकर हम काव्य से अधिक आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। इसके विपरीत जिस काव्य के धारणा पक्ष को हम स्वीकार नहीं कर सकते उसके रसास्वादन मे हमे एक विशेष प्रकार का आनन्द होता है जो उसी प्रकार का है जिस प्रकार का आनन्द हमें दूसरे लोगो के दार्शनिक तन्त्रो पर हावी होने मे प्राप्त होता है। यह ज्ञात होगा कि रसास्वादन मन स्थिति मात्र है और विशुद्ध काव्य मृग-मरीचिका है तथा सर्जन एव आस्वादन मे बहुत कुछ ऐसा रहता है जो 'कला' की दृष्टि से असार्थक है।)

परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि काव्य-सर्जन मे आस्था का कोई हाथ ही नहीं रहता अथवा इससे काव्य को नई ऊँचाइयाँ नहीं मिलतीं। नयी कविता का दाते या तुलसी के साहित्य के समकक्ष रखने से अन्तर स्पष्ट हो जाता है। नये कवि के दृष्टिकोण व्यक्तिगत ही रह जाते हैं, पाठक या तो उन्हें अपना ही नही पाते या वे पाठक के लिए घृणास्पद, अनुर्वर और निरर्थक होते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि हमारी सस्कृति अभी काव्यात्मक भूमियो का निर्माण नही कर सकी है। दाते और तुलसी के विश्वासो मे युग की आस्था प्रतिबिंबित है और उनके जीवन-दर्शन के प्रति उस युग के पाठक सम्पूर्ण रूप से आश्वस्त थे जबकि नए युग की नयी कविता के सम्बन्ध मे ऐसा नहीं कहा जा सकता। वास्तव मे हमारी कठिनाइयाँ युग-सधि की कठिनाइयाँ हैं। यह नही कि आज आस्था की आवश्यकता हो नही रही हो। आज का कवि आदर्शों और मूल्यो के निर्माण मे अपने को अशक्त पाकर प्रतिक्रिया-स्वरूप अतिवाद की ओर दौडता है या वैचित्र्य की ओर। लारेन्स के काव्य मे विद्रोह की पराकाष्ठा है, उसने सब-कुछ तोड-फोड डाला है, परन्तु नई आस्थाओं के निर्माण मे वह अशक्त रहा है। सार्वभौम दृष्टिकोण के अभाव मे नए कवि दार्शनिक, धार्मिक अथवा आध्यात्मिक मूल्यों का निर्माण नहीं कर पाते और उनकी आस्थाएँ खण्डित, असम्पूर्ण और असपृक्त रहती हैं। इसका कारण यह है कि नया कवि दाते, तुलसी या मिल्टन की तरह सम्प्रतीति (विज़न) पर विश्वास नहीं रखता। वह तथ्यो मे बँध गया है। वह ऐसे सार्वभौमिक जीवनदर्शन का निर्माण नहीं कर पाता जिसमे तथ्य फलीभूत और अधिक सार्थक हो सकें और समाजशास्त्रीय एव अर्थ-शास्त्रीय सिद्धान्तो तक ही सीमित रहे। उसकी अन्तर्दृष्टि खण्डित और सतही रहती है। वह तथ्यो को समझना चाहता है और वस्तुसत्ता पर उसका अटूट विश्वास है। इसका फल यह है कि आज काव्य मे ऐसे मन्तर्योग का अभाव है जो सम्पूर्ण सस्कृति को आध्यात्मिक समृद्धि दे सके और नया कवि मूल्यों के क्षेत्र मे व्यक्तिगत खोजों मे ही सन्तुष्ट है।

यह कहा गया है कि धर्म का स्थान आज कला ने ले लिया है क्योंकि दोनों

एक ही प्रकार की मनःस्थितियाँ है और दोनों से हमारी संवेदनाओं का संस्कार होता है। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि कला मानव के धार्मिक संवेदन की अभिव्यक्ति है। धर्म के भीतर जो केन्द्रीय और प्राणवान् शक्ति है, उसी का प्रकाशन कला के माध्यम से भी होता है। दोनों चरम सत्ता के सम्बन्ध में मानवीय संवेदना की सृष्टि है जिसे हम 'आध्यात्मिक' उपकरण कह सकते है। परन्तु धर्म क्या है? किस प्रकार वह दर्शन से भिन्न है? कला और दर्शन के उपकरण भी क्या समान है? ये कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। क्रोचे ने कला और दर्शन के अन्तर को स्पष्ट करते हुए धर्म को 'पुराण' (मिथ) के पास रखा है। दोनों के मूल में आस्था है, परन्तु कला मे 'पुराण' का उपयोग आस्था को पीछे छोड़ जाता है। कलाकार उसे सौन्दर्य के प्रतीक के रूप में लेता है और पुराण-गाथा को रूपक मान कर चलता है। दर्शन धर्म का साधारणीकृत, सूक्ष्म और चिन्तनबद्ध रूप है। कलाकार के लिए उस आस्था की आवश्यकता नहीं जो चिन्तन को 'पुराण' और धर्म का रूप दे देती है। कलाकार अपने प्रतिमान के प्रति न विश्वासी है, न अविश्वासी। परन्तु कलाकार की यह तटस्थता आस्थात्मक न होकर भी आस्था से कुछ बड़ी चीज है और उसकी उपलब्धि सरल नही है। कविता मे तथ्य की कठोरता, अभिव्यंजना की मधुमयता एवं वक्रता के द्वारा तरल और सुग्राह्य बन जाती है। लय और अर्थ, गीत और स्वप्न घुल-मिलकर काव्यप्रक्रिया बनते हैं और उनके द्वन्द्व में भी चमत्कार रहता है। वास्तव मे दार्शनिक और धार्मिक धारणाएँ उसी समय काव्य का रूप ग्रहण करती हैं जब वे काव्यात्मक अभिव्यंजना में आत्मसात हो जाती हैं। उनकी तर्कसंगति गद्य की तर्कसंगति न होकर भाव-संगति के ढंग की वस्तु है। काव्य की भाँति दर्शन-चिन्तन का अपना सौन्दर्य है और यह धारणा ठीक नही है कि प्रतिमान और प्रतिरूप चिन्तन से ओतप्रोत नही होते। विशुद्ध काव्य की भाँति दर्शन-चिन्तन भी तीव्र और उत्कृष्ट आत्मानुभव है और उसका काव्य से स्वतंत्र अपना आकर्षक अस्तित्व है। यह तर्कना समीचीन नही है कि काव्य वस्तून्मुखी ही हो, विचारोन्मुखी नहीं, क्योंकि कवि के सौन्दर्यबोध को दोनों उद्दीप्त एवं अभिव्यंजित कर सकते है। शब्द वस्तु-प्रतीक ही नहीं, विचार-प्रतीक भी है। काव्य में यदि शब्दों का प्रयोग विहित है तो विचार क्यों त्याज्य होगा? परन्तु काव्य मे शब्द कवि की अनुभूति के अनुसार नए सरगमों में बँधते है और वस्तु-जगत ही नही, विचार-जगत भी नए और अप्रत्याशित इन्द्रधनुषी रंगों में भास्वर हो उठता है। परन्तु कवि का चिन्तन इसलिए महत्त्वपूर्ण नही होगा कि वह 'चिन्तन' है वरन् इसलिए कि वह 'काव्य' है और उसकी सार्थकता होने मात्र में है। अपने से बाहर उसकी कोई सार्थकता नही है। काव्य में शाश्वत या वस्तून्मुखी धारणा का महत्त्व नहीं होता, न कोई काव्यगत धारणा सही-गलत होती है, क्योंकि काव्य का रूप धारण करते ही वह कवि की अनुभूति, मूर्त्तिमत्ता तथा जीवन-संवेदना के साथ ओतप्रोत होकर नया रूप धारण कर लेती है।

यह भी कहा गया है कि आज का कवि समस्त अथवा अनेक धारणाओं और आस्थाओं के प्रति विश्वासी है और हमारे प्रतीक बहुमुखी हो गए है। फलतः उन्हें सूक्ष्म और तीक्ष्ण बौद्धिकता से पुष्ट करना आवश्यक हो जाता है। परन्तु आस्था की

यह अनेकरूपता अनास्था की अराजकता भी बन सकती है। इसे उदारता भी कहा जा सकता है परन्तु धारणा क्षेत्र में उदाराशयता का अर्थ यह भी हो सकता है कि हम सभी के प्रति सदयालु तथा सदेहशील हैं। अनास्था में सभी प्रकार की आस्थाओं की अस्वीकृति भी रह सकती है और उससे सभी प्रकार की आस्थाओं के प्रति सहिष्णुता का जन्म भी हो सकता है। नयी कविता में आस्था अनास्था के बीच की यह सूक्ष्म विभाजन-रेखा भी ध्यान देने योग्य है। कम-से-कम इलियट के काव्य के सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसमें समस्त पूर्ववर्ती धारणाओं और आस्थाओं का आधुनिक युग की सवेदना की अभिव्यक्ति में उपयोग हुआ है यद्यपि स्वय कवि किसी भी विशिष्ट देश-काल या आस्था से बँधा नहीं है। इस प्रकार इलियट ने विचारों के क्षेत्र में सवसहृति के द्वारा तटस्थता और निर्वैयक्तिकता ग्रहण कर ली है। परम्परा को नवीन में अन्तर्भुक्त कर इलियट ने आधुनिक युग की एक महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक समस्या का समाधान किया है परन्तु इस सार्वभौमिक आस्था में क्या परम्परा के प्रति अनादर का भाव भी ध्वनित नहीं है ? यह स्पष्ट है कि आज की परिस्थितियों में आस्थावान बने रहना कठिन हो गया है और धर्म के प्रति अश्रद्धालु बनकर हम कला के नाम पर आस्था का व्यापार ही कर सकते हैं, युग को आस्था नहीं दे सकते। पूर्व युगों की आस्थाएँ अनुभूत सत्य न होने के कारण युग की आस्था का स्थान नहीं ग्रहण कर सकतीं। उनका उपयोग बौद्धिक और औपचारिक ही होगा।

फल यह है कि आज हम पिछले युगों और पिछली सस्कृतियों के महाकवियों के प्रति भी सशयप्राण हो उठे हैं। आस्थाहीन युग का व्यक्ति आस्थावान युग को कैसे समझ सकेगा ? या तो ऐसे कवियों से हमें चिढ़ है, जैसा शैली के प्रति आर्नल्ड और इलियट के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कहा जा सकता है, या हम यह विश्वास करना चाहते हैं कि व्यक्ति दाते की आस्था कवि दाते की आस्था से अवश्य भिन्न होगी, जैसा डॉ० जे० एलराइट का विचार है। परन्तु ऐसा विचार मनबहलाव मात्र है क्योंकि किसी भी कवि की सम्पूर्ण कृति एक अव्याहृत इकाई होती है और यह मानना कि कवि की व्यक्तिगत आस्था काव्यगत आस्था से भिन्न और विरोधी हो सकती है, कवि की ईमानदारी अथवा उसकी अनुभूति की सच्चाई के प्रति अन्याय होगा। यह सम्भव है कि व्यक्तिगत आस्था का रूप धारण करने पर वह अधिक तीव्र, मर्मस्पर्शी एव सप्राण बन जाए, परन्तु उसकी प्रकृति नितान्त भिन्न नहीं हो सकेगी।

अन्त में, काव्यगत आस्था के प्रश्न के सम्बन्ध में हमें कुछ सीमाओं का उल्लेख कर देना होगा। या तो हम कवि के विचारों तथा धारणाओं को स्वीकार करें या उन्हें अस्वीकार करें, परन्तु विचार और धारणाएँ परिवर्तनशील हैं और युग-परिवर्तन के साथ हमें अपने महाकवियों का मूल्यांकन बदलना होगा। हम जिन धारणाओं को भ्रामक और अविश्वसनीय मानते हैं उनके कारण यदि हम काव्य को अस्वीकार कर दें तो दाते, शेक्सपियर और तुलसीदास सब आज अमान्य बन जाते हैं। एक दूसरा मार्ग यह है कि हम काव्य को तथाकथित साहित्यिक उपकरणों (रस, छद,

अलंकार, मूर्तिमत्ता आदि) के लिए ही ग्रहण करें और उसके धारणा-पक्ष को एकदम छोड़ दें। परन्तु यह स्पष्ट है कि महान कवियों की रचना केवल मात्र साहित्यिक उपकरणों के कारण महान् नहीं है और उनकी आस्था ही उनके काव्य को महत् बनाती है, ये उपकरण नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि हम काव्यगत आस्था के मूल्यांकन के लिए काव्यात्मक मापदण्ड का निर्माण कर सकें। परन्तु यह काम अत्यन्त सूक्ष्म और सरल है क्योंकि एक ही कवि की दो कृतियों में धारणा का उपयोग भिन्न और कमाधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है। कवि अपनी वैयक्तिक आस्था को किस हद तक काव्यात्मक स्वरूप दे सका है, यह हम कैसे जानेंगे। इस अन्तर्योग के लिए हमारे पास सहृदय की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के अतिरिक्त और कोई निश्चित मानदण्ड नहीं है। परन्तु आस्था की खोज के इस युग में हम इस प्रश्न से एकदम विरत नहीं हो सकते। नयी कविता आस्था के संकट से उबर कर उसकी खोज के लिए कटिबद्ध है—यह निश्चय ही जागरूकता का चिन्ह है परन्तु आस्था यदि कविता से बाहर की वस्तु है तो उसे युग में खोजना होगा और उसके लिए प्रतीक्षा करनी होगी। खोई हुई आस्था को युग कैसे लौटा सकेगा, यह संस्कृति के क्षेत्र का प्रश्न है, कविता के क्षेत्र का नहीं। तब तक कवि निकम्मा नहीं बैठा रह सकता। युगधर्म के भीतर शाश्वत सत्य की प्रतिष्ठा का आग्रह छोड़कर वह युगवाणी ही हमें दे सके तो कृतकृत्य होगा। अनास्था ही यदि युगसत्य है तो वही कवि की शक्ति भी बन सकती है और उसी से कालान्तर में आस्था के फूल भी खिल सकते हैं। क्या भृगु का कठोर पदाघात विष्णु की छाती पर श्रीवत्स बनकर शोभित नहीं है?

२५

छायावाद और प्रयोगवाद

छायावाद-काव्य की नीव १९१२-१३ के लगभग प्रसाद और माखनलाल चतुर्वेदी की रचनाओं से पड़ी और १९१८ के लगभग पंत की रचनाओं के प्रकाशन के साथ उसे स्थायित्व प्राप्त हुआ। १९१८ से १९३६ तक के १८ वर्ष छायावाद के उत्तरोत्तर विकास के वर्ष हैं। इसके बाद काव्य सहसा नई भूमियों की ओर मुड़ने लगता है जिन्हें 'प्रगतिवाद' और 'प्रयोगवाद' कहा गया है। इलियट ने ठीक ही कहा है कि आज के युग में कोई भी काव्यधारा २० वर्षों से अधिक नहीं चलती और प्रत्येक पाठक तीन चार पीढ़ियाँ जी लेता है। छायावादी काव्यधारा इसी तथ्य को प्रमाणित करती है।

छायावाद कल्पना और भावना की अपराजिता शक्ति लेकर आया और उसने राष्ट्रीय जीवन की स्वातन्त्र्य-कामना को काव्य के भीतर चरितार्थ करने का उपक्रम किया। ऊपर से देखने पर गांधीवादी राष्ट्रीयता और छायावाद असंपृक्त दिखलाई पड़ते हैं परन्तु दोनों में मध्यवित्तीय समाज की भावोन्मुक्ति समान रूप से हुई है और दोनों उद्दाम तथा स्वतंत्र जिजीविषा की उपज हैं। दोनों के पीछे लगभग १०० वर्षों का नवजागरण है जो क्रमश राजनीति तथा साहित्य के विकासमान प्रतीकों के माध्यम से इन आन्दोलनों में परिणति को प्राप्त होता है। उन्हें हम अपने-अपने क्षेत्रों में भारतीय पुनर्जागरण की पूर्णाहुति कह सकते हैं। वैसे छायावाद-काव्य के भीतर 'भारतीय आत्मा', 'नवीन' तथा 'दिनकर' को लेकर एक राष्ट्रवादी उपधारा भी समानान्तर बह रही है जिसने मुख्य धारा के काव्यरूपों, प्रतीकों तथा अभिव्यंजना-शैलियों को आंशिक रूप में ही अपनाया है, परन्तु यहाँ हम सम्पूर्ण काव्य के अंतर्बोध की बात कर रहे हैं और इन १८ वर्षों के उस काव्य को सामासिक इकाई मान रहे हैं जो तरुण कवियों की सृष्टि था। समकालीन समीक्षकों ने नई काव्यधारा को कोरी 'कविता' मान कर उसके साथ अन्याय ही किया क्योंकि इससे उसके सांस्कृतिक मूल्यों पर से हमारी दृष्टि हट गई। यह सुविधा अवश्य हुई कि हम उसे रीतिकालीन स्थूल शृंगारिकता तथा द्विवेदीयुगीन काव्य की इतिवृत्तात्मकता एवं नैतिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में देखने लगे परन्तु अन्तर काव्यदृष्टि का नहीं, जीवनदृष्टि का था और काव्य-परम्परा के अध्ययन मात्र से उसका समाधान नहीं हो सकता था। छायावाद के सांस्कृतिक स्रोत इस तरह स्पष्ट हो जाते हैं कि 'प्रसाद' काशी जैसी प्रमुख सांस्कृतिक नगरी के निवासी थे जो भारतेन्दु-युग में ही नवजागरण से परिचित हो गई थी और उनका गद्य-साहित्य सांस्कृतिक प्रश्नों, समाधानों और तर्क-वितर्कों से भरा पूरा है, पंत-निराला बार-बार विवेकानन्द

अद्वैत दर्शन तथा कालिदास की ओर मुड़ते हैं और महादेवी अपनी निजी व्यथा को औपनिषदिक तत्त्व-ज्ञान, बौद्ध दर्शन तथा निर्गुणवाद के संदर्भ में ही महार्घ बनाती हैं। इस प्रकार छायावाद नवजागरण का चारण मात्र नहीं है, न उसे हम वयःसंधिक-स्वेच्छाचार कह सकते हैं। वह सांस्कृतिक पुनर्मूल्यांकन की भूमिका पर से हमे प्राप्त हुआ है। उसमें बन्धनों को तोड़ कर बह चलने की उद्दाम शक्ति ही नहीं है, वैसा करने का दावा भी है।

१९१८ से १९३६ तक हम छायावाद को निरन्तर प्रगतिशील देखते हैं। वह प्रौढ़ता के अधिकाधिक उच्च तथा संश्लिष्ट आयामों को प्राप्त करता है और 'आँसू', 'पल्लव', 'गुंजन', 'अनामिका', 'तुलसीदास', 'गीतिका', 'लहर', 'कामायनी', 'सांध्य-गीत' और 'यामा' के रूप में अपना श्रेष्ठतम अर्घ्य हिन्दी भारती के चरणों पर अर्पित करता है। 'आँसू' के व्यक्तिवादी क्रन्दन से 'कामायनी' के समष्टिवादी जीवन-सौन्दर्य तक छायावाद का अपरिसीम प्रसार है। पंत के 'ज्योत्स्ना' नाटक में इस काव्यधारा का जीवनोल्लास नवयुग का मंगल-गान बन गया है। छायावाद ने भाव के सौन्दर्य को देखा था, कर्म के सौन्दर्य की ओर उसकी दृष्टि नहीं गई थी, परन्तु इस नाटक मे छायावाद का कवि कल्पना के इन्द्रधनुषी विभ्रम से नीचे उतर कर कर्म-संकुल वस्तु-जगत की चहल-पहल के बीच में पहुँच जाता है। स्वप्न-विहग धरती के दाना-पानी की ओर उन्मुख होता है और कल्पना की वंशी में युगवाणी बोलने लगती है। अभिजात के स्वप्नों से खेलने वाली षोडशी सहसा ग्राम्या बन जाती है तो विश्वास नहीं होता परन्तु यह भी आधुनिक काव्य का एक सत्य ही है। निराला की कृति 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' की रचनाएँ स्पष्ट कह रही हैं कि जहाज का पक्षी फिर जहाज पर लौट आया है और उसकी जीवनदृष्टि बदल गई है। वह कुछ नया कहना चाहता है जो नये छंद माँगता है और नई भाषा में बंधने के लिए आतुर है। यह वेदना काव्य की ही वेदना नहीं है—उस पीढ़ी की भी वेदना है जिसने 'अनदेखे' को देख लिया है और जो 'अकहे' को कहना चाहती है। यहीं से 'प्रयोगवाद' का आरम्भ होता है। इस काव्य के पुरस्कर्त्ता छायावाद के ही कवि हैं: निराला, पन्त और भगवती चरण वर्मा—परन्तु बहुत शीघ्र ही इन कवियों की सामाजिक मान्यताएँ मार्क्सवादी प्रेरणाओं में बन्ध कर 'प्रगतिवाद' बन जाती हैं और उनके प्रयोगों की भूमि 'प्रयोगवाद' का नाम धारण कर लेती है। नई पीढ़ी के तरुण कवि इन दो धाराओं में बँट जाते हैं और विरोधी राजनैतिक कैम्पों में चले जाते हैं।

परन्तु क्या 'प्रयोगवाद' प्रयोग मात्र ही है। प्रयोगवादी कविता के अग्रगण्य कवि अज्ञेय ने बार-बार कहा है कि यह शब्द आरोपित है क्योंकि प्रयोग का कोई वाद नहीं होता। अर्थात् यह माना गया कि 'प्रयोगवाद' शिल्पगत नहीं, वस्तुगत है। नया कहना है, इसीलिए नए प्रतीक, नए छंद, नई भाषा। अन्यथा नयापन ध्येय नहीं है। प्रयोग से परे कवि की आत्मा के उद्वेलन को हम देखें—कि उनका 'शोक' कहाँ है, 'श्लोक' के चक्कर में न पड़ें। कहने का तात्पर्य यह है कि 'प्रयोगवाद' भी 'छायावाद' की भाँति काव्य में कुछ बड़ा और व्यापक संदर्भ लेकर सामने आया है

और इस संदर्भ को भी हमें पहचानना होगा।

यों प्रयोगवाद छायावाद से ही फूटा है। परन्तु हम उसे प्रतिक्रिया कहें या विकास, अथवा एकदम नई चीज जो अपनी नवीनता के द्वारा ही हमें छूना चाहती है। कुछ ने उसे बहिरंग की नवीनता मात्र माना और धिक्कारा। परन्तु अन्तरंग की नवीनता भी प्रयोगवाद में कम नहीं थी। देखना है कि इन दोनों भूमिकाओं पर प्रयोग में नवीन क्या था। प्रश्न यह है कि छायावाद के मूर्धन्य कवि ही पहले इस ओर क्यों अग्रसर हुए और फिर दूसरों को मशाल पकड़ा कर पीछे क्यों हट गए। क्या यह माना जा सकता है कि नया काव्य (प्रयोगवादी काव्य) नये युग की पुकार थी जो सत्याग्रह आंदोलन असफलता के बाद आत्ममंथन का विष पी रहा था और धर्म, नीति, राजनीति, सौन्दर्यचेतना, सभी क्षेत्रों में नये समाधान चाहता था? या छायावाद का कवि अपनी उन्मुक्त-उड़ान से थककर शिथिल हो गया था और कल्पना तथा भावना के आयतित प्रसार से ऊब कर नये परन्तु अधिक विश्वस्त आकाशखण्ड खोजता था?

१९३६ भारतीय नवजागरण (रेनेसाँ) में नया मोड़ देने वाली तिथि है। जहाँ एक ओर राष्ट्रीय मोर्चे पर पीछे हटने की वेदना है और खड्ग की धार कुंठित लगती है तथा तूणीर खाली दिखलाई पड़ता है, वहाँ दूसरी ओर नये राजनैतिक वादों की ठोस भूमि की खोज भी होने लगती है। कांग्रेस के भीतर समाजवादी दल का जन्म कुछ पहले हो गया था और उसे मार्क्सवादी विचारधारा का गांधीवादी संस्करण समझा गया। परन्तु जहाँ प्रगतिवादी कवि कथाकार नये राजनैतिक-सामाजिक समीकरणों की खोज में लगे, वहाँ प्रयोगवादी कवि कुंठा तथा अनास्था के भीतर से ही अभिव्यक्ति के नये मार्ग खोजने लगा। वह वर्त्तमान से ही चिपट गया, भविष्यत् की ओर देखने का साहस उसने नहीं किया। उसने व्यक्तिगत प्रतीकों की खोज शुरू की और अपनी सौन्दर्यचेतना को पश्चिम के प्रतीकवादियों बिंबवादियों-अतियथार्थवादियों की उपलब्धियों से पुष्ट करना चाहा। बौदलेर-मेलार्मे वरलें-वलेरी से चलकर वह इलियट लारेन्स काफ्का रिल्के तक गया और नवीनताओं में ही उलझ कर रह गया। इससे यह लाभ तो हुआ कि हिन्दी काव्य काशी की गलियों से बाहर निकल कर पेरिस के चौराहों पर जा खड़ा हुआ परन्तु उसकी स्थिति बहुत कुछ दिग्भ्रम की स्थिति रही है और पश्चिम का अधिक होने के कारण वह पूर्व का कम रह गया है। एक प्रकार से प्रयोगवादी काव्य में हम उन्नीसवीं शताब्दी से चली आती सांस्कृतिक निष्ठाओं को एकदम छिन्न भिन्न होता हुआ पाते हैं। बीच में गहरी दरार जाग उठी है जो अभी भर नहीं पाई है।

प्रयोगवाद छायावाद से प्रतिक्रियात्मक है इस अर्थ में कि उसने भावना और कल्पना की उड़ान को धता दे दी है, उसे कवि के व्यक्तित्व के प्रति अविश्वास है और परम्परित छन्दों से उसे चिढ़ है। वह छन्द की लय नहीं चाहता, अर्थ की लय ही उसके लिए बहुत है, परन्तु इस 'अर्थ' को पकड़ना भी बड़ी बात है, क्योंकि प्रयोगवाद 'अकहे' को 'कहे' से बड़ा मानता है। प्रयोगवाद छायावाद की अप्रस्तुत भूमिका और नादात्मक-चित्रात्मक भाषा को एकदम अनुपयोगी मानता है क्योंकि

उसमें कवि के व्यक्तिगत अनुभवों को देने की सामर्थ्य नही है। इसमें संदेह नहीं कि उसने अपनी सीमा के भीतर से कालिदासीय सौन्दर्य-चेतना और रवीन्द्रीय रहस्य-वाद को चुनौती दी है और संगीत से कविता का सम्पूर्ण रूप से विच्छेद कर दिया है। छायावाद बहिर्जगत, इतिहास, दर्शन और रहस्यवाद की भूलभुलैयों में खो गया था। प्रयोगवाद ने उसे उबारा और अन्तर्जगत की ओर इशारा किया। परन्तु कठिनाई यह हुई कि वह अन्तर्जगत से ही चिपट कर रह गया और उसने यौन-प्रतीकों की दुनिया को ही कवि की दुनिया समझ लिया। छायावाद की प्रच्छन्न अतृप्ति प्रयोगावाद में बहुचर्चित हो उठी है। अप्रत्याशित और अमर्यादित की ओर निरन्तर बढ़ती हुई आकांक्षा ने प्रयोगवाद को परम्परा से विच्छिन्न ही नहीं किया है, इस विच्छिन्नता को सांस्कृतिक संकट भी बना दिया है।

परन्तु चाहें तो हम प्रयोगवाद को छायावाद के विकास के रूप में भी देख सकते हैं। प्रयोगवाद बुद्धिवाद और यथार्थवाद की दुहाई देता है, परन्तु उसमें वैचित्र्य के प्रति तीव्र आकांक्षा है। उसने यौनवाद को जीवन-मंत्र मान लिया है जिसे अतिवाद ही कहा जा सकता है। जीवन की स्वस्थ वास्तविकता की ओर उसकी दृष्टि नहीं है। वह 'क्षण' को पकड़ना चाहता है क्योंकि उसने गति को ही जीवन का धर्म मान लिया है। इस दृष्टि में पर्याप्त स्वच्छन्दतावादिता है। यथार्थ को पकड़ने जाकर उसने उसे अ-यथार्थ बना दिया है। प्रयोगवादी अन्तर्जगत का कवि है परन्तु उसका अन्त-र्जगत तरल, क्षुब्ध, तथा आकांक्षी है और वह उसे चेतन मन के स्तर पर नही, अवचेतन के स्तर पर पकड़ना चाहता है। फल यह है कि उसने पिछले युग के स्वच्छन्दतावाद को भावना और कल्पना की नई भूमियाँ दी हैं और अपनी नई खोज के अनुरूप व्यक्तिगत प्रतीकों, उपमानों तथा देवकथाओं की सृष्टि की है। इस भूमिका पर देखें तो प्रयोगवाद नव-स्वच्छन्दतावाद कहा जा सकता है। बुद्धि की व्यर्थता को समझता हुआ भी वह अपने अनुभवों को बौद्धिक प्रतीकों में बांधना चाहता है। यह उसकी सीमा है। परन्तु उच्छिष्ट सौन्दर्यबोध से यदि उसकी तृप्ति नहीं है तो हम इसके लिए उसे लांछित नही कर सकते।

कहा जाता है कि प्रयोगवाद बौद्धिक है और इस भूमिका पर वह छायावाद से भिन्न है, परन्तु उसकी बौद्धिकता शास्त्रगत भले ही अधिक हो—क्योंकि नया कवि बहुविज्ञता का दावेदार है और अपने दावे में रस लेता है, परन्तु वह बौद्धिकता उसमें नहीं है जो काव्य-वस्तु को सौष्ठव देती है, रूपायित करती है तथा उसे सौन्दर्यप्राण-प्रतीकों में बांधती है। सच तो यह है कि छायावाद के श्रेष्ठ कवि लक्ष्य को निरन्तर सामने रखते हैं और भावना तथा कल्पना के ऊपर हावी हैं, जबकि प्रयोगवादी कवि प्रतीकों के साथ बह जाता है। वह न भावना को उपयुक्त रूप दे सकता है, न कल्पना को शृंखलित प्रतीकों, रूपकों, स्वरों में बांध सकता है। उसका बुद्धिवाद काव्य के प्रथित उपकरणों तथा परम्परा के विरोध तक सीमित रह गया है। प्रकृत्या वह अभी स्वच्छन्दतावादी ही है और इस प्रकार छायावाद परम्परा की देन ही कहा जा सकता है। अभी भी वह मूल्यों का अन्वेषी ही है, ऐसे नए मूल्य वह पा नहीं सका है जो उसे भविष्यत् के प्रति आश्वस्त कर सकें। फलतः

उसमें एकाकीपन की पीडा है और अपने प्रति आक्रोश है। उसकी उपलब्धि के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि वह अब 'नयी कविता' बन गया है परन्तु नई कविता वह कब नहीं था। और यह भी हो सकता है कि यह 'नयी कविता' भी उसका कोई प्रयोग ही हो।

: २६ :

सामयिक कविता की प्रवृत्तियाँ

सामयिक काव्य-प्रवृत्तियों को हम 'परम्परा' और 'प्रयोग' इन दो शब्दों के अन्तर्गत रख सकते हैं। पूर्ववर्त्ती काव्यधाराओं का रंग एकदम समाप्त नही हो जाता, वरन् परवर्त्ती प्रवृत्तियों के जन्म और विकास में उनका प्रसारात्मक अथवा विरोधात्मक योग रहता है। परम्परा समन्वय के बल पर आगे बढ़ती है। उसमें समझौता है। इसके विपरीत प्रयोग विरोध पर पलते हैं। प्रयोग ही कालान्तर में परम्परा बन जाते हैं और परम्परा के विरोध में नए प्रयोग का जन्म होता है। इस प्रकार काव्य-विकास को हम प्रयोगों की सतत शृंखला के रूप में देख सकते हैं और परम्परा को इस शृंखला को जोड़ने वाली कड़ियाँ मान सकते हैं। समसामयिक कविता की प्रवृत्तियों के समझने के लिए यह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया ही सबसे सरल पड़ती है।

परम्परा के द्वारा सामयिक कविता को क्या प्राप्त हुआ है। यह स्पष्ट है कि द्विवेदीयुगीन काव्य तथा 'छायावाद' के संस्कार अब भी संपूर्णतः शेष नहीं हुए हैं। पुराकर्मी कवियों की रचनाएँ भी चल रही हैं और उनके अनुकर्त्ता एवं पाठक भी हैं। परन्तु इस श्रेणी की नई रचनाओं में पर्याप्त नवीनता भी है जो नए विकास की सूचक है। छायावाद का रोमानी रंग और प्रतीकात्मक बोध 'प्रयोगवाद' के अन्तर्गत प्रतीक-काव्य में घुल-मिल गया है और गीत-परम्परा के विकास के अगले चरण दर्जनों गीतकारों में दिखलाई देते हैं। स्वयं छायावादी काव्य में 'गीत' की धारा दुर्बल ही रही। निराला, प्रसाद, पन्त और महादेवी के गीतों के रूप मे जो निधि हमें मिली, वह अधिक नही थी और उसमें अभिव्यंजना एवं कला का परिपाक अधिक नहीं हो पाया था। समसामयिक काव्य में प्रतीक-धारा से स्वतन्त्र यह गीत-धारा निरन्तर चलती रही है और उसमें आंचलिक गीतों का जन-कण्ठ भी मिल गया है। समस्त आधुनिक काव्य राष्ट्रीय जन-जागरण की भावात्मक अभिव्यक्ति है। उसमें राष्ट्रीयता-प्रधान काव्य की एक सुनिश्चित धारा रही है और कल्पनाविलासी छायावाद के भीतर भी माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, नवीन और दिनकर के काव्य में यह राष्ट्रीय धारा बराबर विकासमान रही है। सामयिक काव्य में यही अन्तर्राष्ट्रीय चेतना में परिवर्त्तित हो गई है। वास्तव में हमारी राष्ट्रीय चेतना लोकमंगल पर आधारित थी और उसके अहिंसक शस्त्रों का उपयोग ही पंचशील के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय जगत का वज्रघोष बन गया है। 'पन्त' की भू-चेतना हमारे राष्ट्रीय काव्य का ही अन्तर्राष्ट्रीय एवं विश्वजनीन भूमि पर प्रसार है। इसे हम परम्परा की तीसरी कड़ी कहते हैं। चौथी कड़ी महाकाव्यों, खण्डकाव्यों एवं आख्यानों की धारा है। छायावाद ने 'मिलन', 'पथिक' 'कामिनी' और

'कामायनी' जैसे प्रबन्ध काव्य हमें दिये परन्तु भावुकता तथा कल्पना के प्रति पूर्वग्रह होने के कारण काव्य की प्रकृत्य विरोधी क्लासिकल भूमि अधिक विकसित न हो सकी। 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' में ही छायावाद पूर्व-परम्परा से अपना सम्बन्ध जोड़ सका है और इन रचनाओं को क्लासिकल रचनाओं का वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ है।

परन्तु इन सामयिक प्रवृत्तियों में से प्रतीकवादी प्रवृत्ति को छोड़ कर नई कविता के समर्थक अन्य किसी प्रवृत्ति को महत्त्व देने के लिए तैयार नहीं हैं। वे यह मानते हैं कि नई कविता का संवेदन-क्षेत्र सीमित है, परन्तु नई कविता के बाहर भी सामयिक काव्य-जगत का लम्बा-चौड़ा विस्तार है, इसे वे मानने को तैयार नहीं हैं। इसके विपरीत वे प्रगतिवादी काव्यधारा को आधुनिक काव्य की सशक्त धारा मानते हैं और उसे नई प्रवृत्तियों में रखते हैं। प्रगतिवादी काव्यधारा मार्क्सवादी विचार से आक्रांत है परन्तु उसका उत्पीड़न-विरोधी तथा नारों से बँधा रूढ़ राष्ट्रीय कविता का ही नया विकास है, यह वे नहीं मानते। जो हो, यह स्पष्ट है कि परम्परा की कई भूमियाँ सामयिक काव्य में आत्मसात हुई हैं और इन भूमियों पर समय समय पर श्रेष्ठ रचनाएँ हमें मिलती रही हैं।

'प्रयोग' के अन्तर्गत वह सब कुछ आ जाता है जो पहले 'प्रयोगवाद' नाम से आता था और अब नई कविता कहलाता है। परन्तु नई कविता क्या एक सम्पूर्ण इकाई है या संश्लिष्ट योगायोग। छायावाद से सामयिक काव्य का विच्छेद प्रयोगों के माध्यम से ही हुआ परन्तु ये प्रयोग अभिव्यंजना के क्षेत्र में ही प्रस्तुत हुए। नई भाषा, नए छन्द, नए काव्य रूप। छायावाद की मधुमयी भाषा, गीतात्मकता, छन्द-सौष्ठव, बँधे-सधे काव्यरूपों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और 'प्रयोगवाद' सामने आया। कहा गया कि नई भावाभिव्यंजना चाहिए, इसलिए नहीं कि वक्तव्य नया है, इसलिए कि वक्तव्य दुर्बल है या है ही नहीं और उसे अभिव्यंजना से प्रेषणीय और महार्घ बनाना है। 'प्रयोग के लिए प्रयोग' की परम्परा चली और काव्य दुर्बोध एवं संस्कृति भ्रष्ट हो गया। काव्य-संस्कृति की कोई कल्पना नए काव्य के पुरस्कर्त्ताओं के मन में नहीं थी और उन्होंने अनगढ़ देवता को ही अपनी पूजा दे दी क्योंकि गढ़े देवता को तो सब कोई पूजते थे। फलतः वैचित्र्य साध्य बन गया और कविता छन्द-मुक्त, लय-मुक्त, अर्थ मुक्त अमूर्त संकेत मात्र रह गई। काव्य मुद्राओं से बोझिल, रहस्यमय और कूटस्थ बन गया। प्रयोगों की इस वैचित्र्यमयी शव साधना से नई कविता उबरी नहीं, इसके प्रमाण हैं 'चक्रव्यूह', 'नकेन,' वसन्त और 'पतझड़' जैसे काव्य संकलन। परन्तु भाषा-शैली और छन्द के क्षेत्र के प्रयोग काव्य की चरितार्थता नहीं हैं और उनके द्वारे पर अधिक दिनों जीना असम्भव है। अतः स्वयं नई कविता के दावेदारों ने 'प्रयोगवाद' नाम को तिलांजलि दे दी और 'नई कविता' जैसे व्यापक, सर्वभुक् और भ्रामक नाम को ओढ़ लिया। प्रश्न यह है कि इस नई कविता में नयापन क्या है और वह परम्परा से स्वीकार का नाता रखती है या विरोध का। स्पष्ट ही नई कविता का नयापन अभिव्यंजना की नवीनता के छद्म-वेश में काव्य-जगत में प्रवेश करता है परन्तु उसके सहारे धीरे-धीरे दो महायुद्धों के बीच की यूरोपीय और अमेरिकी कविता का

भाव, विषाद, अवसाद और आत्मपीड़न हिन्दी कविता का अंग बन जाता है। १९२२ के गांधी-इर्विन पैक्ट ने सत्याग्रह-आन्दोलन को गहरा धक्का पहुँचाया और देश भर पर अनिश्चय के बादल छा गए। 'नवीन' जैसे अलमस्त कवि की वाणी भी खाली तूणीर और कुण्ठित खड्ग-धार के शोक में डूब गई। इसके बाद द्वितीय महायुद्ध, राशन, महंगी, उन्नीस-सौ-बयालीस और देशव्यापी दमन ने हमारी आस्था को बेतरह झकझोर दिया। नये काव्य का जन्म इसी आत्मघाती वातावरण में हुआ और आज के नये कवियों में से अधिकांश के संस्कार इसी समय बने। नई पीढ़ी की पीड़ित चेतना ने पॉउण्ड, इलियट, काफ़्का, रिल्के, लोरका और जुले ब्लाक के काव्य में अपने युग का प्रतिबिंब देखा। पश्चिम की इस नई कविता में बौद्धिकता का आग्रह था और नृतत्व-शास्त्र तथा मनोविश्लेपण के अन्तश्चेतनीय तत्त्व पूर्णतः ग्रहीत थे। हमारे यहाँ भी बौद्धिकता का दम भरा जाने लगा और यौन-प्रतीकों की भरमार हो गई। विभाजन के रक्तपात तथा पश्चात्‌वर्त्ती असंगतियों ने कवियों की द्वंद्व, आत्मरक्षी एवं संकोची मनोवृत्तियों को दृढ़ किया। विशाल विश्व-प्रांगण से सिमट कर कविता एकान्त कक्ष का निर्गन्ध पुष्प बन गई। नई कविता का ही प्रतीक लें तो उसे शीशे के गमले में सजाया कैक्टस कहा जा सकता है। वह जीवन के खोखले-पन का प्रतीक बनी। इस प्रकार अभिव्यंजना के क्षेत्र में प्रयोगों से लेकर वक्तव्य की नवीनता तक नई कविता की संश्लिष्टि का सम्बन्ध है। उसमें पिछले अस्सी वर्षों के पश्चिमी काव्य का प्रभाव स्पष्ट है। मेलार्मे, वरलें, इलियट, पॉउण्ड, वाल्ट ह्विटमेन, कमिंग्स, डायलन टामस आदि अनेक कवियों को अनुकरणीय माना गया है और प्रतीकवाद (सिम्बोलिज़्म), प्रतिबिंबवाद (इमेजिज़्म), प्रयोगवाद (एक्सपेरिमेंट-लिज़्म), यथार्थवाद (रियलिज़्म), नवपरम्परावाद (न्यूक्लासिसिज़्म) आदि लगभग एक दर्जन वादों का मधु उसमें संचित है। कभी-कभी किसी एक कवि के काव्य में कई धाराओं अथवा कवियों का प्रभाव मिलता है। यह सारा काव्य नागरिक संवेदना से ओतप्रोत है और इसमें मध्यवर्ग तथा उच्च मध्यवर्ग के संस्कारों का प्रकाशन हुआ है। पिछले दस वर्षों में नई कविता का क्षेत्र संकुचित होता गया है और आज कवि ही उसके पाठक हैं। देश के नए निर्माणों के प्रति यह कवि-वर्ग अनासक्त है। उसकी दृष्टि बहिर्मुखी नहीं, अन्तर्मुखी है। आज के समाज में कवि अपने को उपेक्षित पाता है, इससे उसके अहं पर चोट पड़ती है और वह काठिन्य, दुर्बोध्य तथा वैचित्र्य के कूर्म-कवच में ही अपनी सुरक्षा समझने लगा है।

कविता के क्षेत्र में नव प्रवर्त्तन के दो ही कारण सम्भव हैं। या तो उसका अभिव्यंजनापक्ष पुनरावृत्ति, रूढ़िवादिता तथा अतिवादिता के कारण जड़ होने लगे और उसमें अभिव्यक्ति की सम्भावनाएँ ही समाप्त हो जाएं। छायावाद काव्य के अन्तर्गत प्रसाद, पन्त और महादेवी के काव्य में अभिव्यंजना-पक्ष की यही स्थिति दिखलाई देती है। केवल निराला ही अन्त तक प्रयोगी बने रहे और उन्हें ही नए काव्य का नेतृत्व मिला। नई कविता में भी अभिव्यंजना-पक्ष जटिल, रूढ़िग्रस्त और निरर्थक होता जा रहा है और स्वयं उसके भीतर विरोध के बीज पड़ रहे हैं। दूसरा कारण परिवेश का परिवर्त्तन है। राष्ट्रीय चेतना के शिथिल होने पर ही अनुत्साह, कुंठा

और अवसाद की भूमियो पर नई प्रयोगी कविता का जन्म हुआ और बहिर्जीवन की गतिविधियो से त्रस्त होकर कवि आत्मसंकोची, भीरु तथा विद्रोही बन गया। सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन का अस्वास्थ्य ही आज की नई कविता म प्रतिबिंबित है। इन क्षेत्रो की भावी गतिविधियाँ क्या होगी, यह कहना कठिन है, परन्तु नए निर्माण के सफल होने पर नई कविता का कंठ-स्वर बदल सकता है और कविता फिर विराट् जीवन का प्रतीक बन सकती है।

आवश्यकता इस बात की है कि नया कवि नवजीवन तथा निर्माणोन्मुख प्रवृत्तियो के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझे और पश्चिम की आत्मघाती प्रेरणाओ से मुंह मोड कर अपने देश के जन-मन से अपना सम्बन्ध जोडे। पश्चिम का काव्य दो महायुद्धो की विभीषिका के भीतर से गुजरा है और उसने विषपान के द्वारा ही नीलकंठ बनना चाहा है। उसके सामने कोई बडा जीवनादर्श नहीं रहा है। युद्धान्तरीय तथा युद्धोत्तर जीवन की विशृंखलता ही उसमे मूर्तिमान है। परन्तु उसकी कुंठा सच्ची और सशक्त है। हमारे कवियो ने कुंठा का व्यवसाय किया है परन्तु उधार कुण्ठा और अनुद्भूत अवसाद केवल अशक्त काव्य की ही सृष्टि कर सकते हैं। अनास्था और कुण्ठा का साहित्य भी महान् हो सकता है, शर्त यह है कि यह अनास्था और कुण्ठा स्वसंवेद्य हो, गम्भीर तथा मूलबद्ध हो। पश्चिम मे फिर स्वास्थ्य की ओर लौटने के प्रयत्न चल रहे है और स्पेण्डर तथा आडन के काव्य मे जान-बूझ कर जीवन की आस्थाप्राण तथा प्रसन्नचेतस् भूमियो की खोज स्पष्ट है। अपने यहाँ भी 'दिनकर' ने 'सीपी और शंख' मे स्वस्थ विदेशी रचनाओ के अनुवाद द्वारा नया बीज डाला है। अज्ञेय की इधर की रचनाओ मे नए कवि-कर्म के प्रति व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण सामने आया है और कुछ अन्य कवि भी आत्मसंकोच के घेरे से बाहर निकल कर विराट् जीवन के संवेदनो के प्रति आकर्षित हुए हैं। नई कविता के अभिव्यंजना-पक्ष को यदि हम विराट् जीवन चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम बना सकें तो पिछले बीस वर्षों की काव्य साधना का सर्वश्रेष्ठ अपनी परम्परा मे आत्मनिष्ठ हो जाए। परम्परा से नाता जोड कर ही नई कविता स्थायीत्व प्राप्त कर सकेगी। इलियट के काव्य मे परम्परा से नाता जोड कर ही नवीनता सार्थकता को प्राप्त हुई है, यद्यपि यह परम्परा विक्टोरियनो तथा रोमांटिको की परम्परा न होकर सत्रहवी शताब्दी के डॉने, आँशा आदि दार्शनिक कवियों की बुद्धिवादी परम्परा है। केवल विरोध, असंगति तथा आत्मसंकोची भीरुता के आधार पर किसी महान् सर्जन की कल्पना भी असम्भव है। नए कवियो ने जीवन, सौन्दर्य तथा अन्तर्जगत के अनेक स्वस्थ स्वरूपों के प्रति आँखें बन्द कर ली हैं और उनके दम्भ ने उनकी संवेदना के प्रसार मे गतिरोध उत्पन्न कर दिया है। संवेदना के संकोच तथा प्रसार के पल्ले मे ही काव्यानुभूति का संकोच और प्रसार बंधा है। आवश्यकता इस बात की है कि नई अभिव्यंजना शैलियो के प्रति जागरूक रहते हुए भी हम अपने काव्य में प्रसन्न-चेतना के बीज बोएँ। तभी हम सामयिक काव्य को नई दिशाएँ दे सकेंगे और उसे अवचेतनीय गर्तों से उबारेंगे।

यह स्पष्ट है कि समसामयिक काव्य में जहाँ एक ओर 'नई कविता' की संकोचिनी प्रवृत्तियाँ हैं, वहाँ गीत, आंचलिक कविता और उर्दू की काव्य शैलियो के

माध्यम से केन्द्रप्रसारिणी प्रवृत्तियां भी चल रही हैं। नया प्रगीत-मुक्तक और सूक्ति-काव्य अभिव्यंजना तथा अनुभूति के नए क्षेत्रों की ओर संकेत करते हैं। अकेले गीत-काव्य में चित्रपटीय संगीत, लोकगीतपरम्परा तथा विभिन्न साहित्यिक प्रभावों के द्वारा अनेक प्रकार की सूक्ष्म पद्धतियां देखने में आ रही हैं। इस प्रकार सामयिक कविता वर्गबद्ध बन गई है और उसमें व्यापक संदर्भों के स्थान पर खण्ड चेतनाओं का ही अधिक प्रसार है। उसने अभिव्यक्ति की नई राहें खोली हैं और राष्ट्र के अन्तर्बहिर जीवन के अनेकानेक स्पन्दनों को वाणी दी है। परन्तु अभी वह लक्ष्यभ्रष्ट है। उसे मानवधर्मी तथा आत्मीय बनकर सरस, सक्षम तथा सार्थक बनना है। पश्चिम के वैचित्र्यवाद तथा अवसादजनित विभ्रम से ऊपर उठकर जिस दिन नया काव्य उदात्त जीवन-बोध, समग्र जीवन-चेतना तथा विश्वजनीन दृष्टिकोण अपनाने में समर्थ होगा, उस दिन परम्परा उसके भीतर से आप झांक उठेगी और कालिदास से प्रसाद तक की सारी काव्यानुभूति नए संवेदनों का सम्बल बन जायेगी। अभी हम युग-संधि की द्वाभा में हैं। अतः काव्य में भी अभिसंधियां ही अधिक है। नया काव्य नए प्रभात के चारण की प्रतीक्षा में है। उसी की वेणु में हमारी यह नवीनता मानवीय और प्रभविष्णु बनकर फलवती हो सकेगी। अभी तो हम यही प्रार्थना कर सकते हैं कि 'अनामिका सार्थवती बभूवः'। नई कविता 'अनामिका' ही तो है, परन्तु क्या वह निरन्तर अनामिका बनी रहेगी ?

२७

आधुनिक समीक्षा का स्वरूप

(१)

आधुनिक काव्य समीक्षा में 'आधुनिक' शब्द का क्या अर्थ है? उससे समीक्षा की क्या सीमाएँ हो जाती हैं? क्या काव्य-समीक्षा साहित्य की अन्य विधाओं की समीक्षा से भिन्न है? भिन्न है तो किस प्रकार? अन्त में, काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में नए सिक्के क्या हैं, वह सिक्के खोटे तो नहीं हैं और वे बाजार में कैसे चल रहे हैं, ये कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। क्योंकि किसी भी जाति, राष्ट्र या भाषा को मान कर चलने वाले लोग काव्य को गलत समझें, या समझने में गलती करें तो यह कोई श्रेय की बात नहीं है।

इलियट ने अपने एक निबन्ध 'द फ्रान्टेयरस ऑव क्रिटिसिज़म' में आधुनिक समीक्षा को कॉलरिज से प्रारम्भित माना है क्योंकि कॉलरिज ने ही पहली बार साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में दर्शन, मनोविज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र की उपपत्तियों को लागू किया और इस प्रकार काव्य को व्यापक परिवेश में रखने की प्रणाली चली। उन्नीसवीं शती में कवि के जीवन, उसकी अंतर्प्रवृत्तियों, युग की पृष्ठभूमि, जातीय अथवा राष्ट्रीय चेतना तथा युग धर्म के आधार पर काव्य के मर्म तक पहुँचने की चेष्टा हुई और बीसवीं शताब्दी में समाजशास्त्रीय, मार्क्सवादी तथा मनोविश्लेषणात्मक दृष्टियों का काव्य-समीक्षा में समावेश हुआ। इस प्रकार आधुनिक काव्य-समीक्षा का आरंभ समीक्षा के सीमा-विस्तार के साथ होता है और पिछले डेढ़-सौ वर्षों से यह प्रक्रिया जारी है। अतः काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में 'आधुनिकता' का अर्थ नये ज्ञान का काव्यार्थों पर आरोप हुआ। परन्तु यह स्पष्ट है कि यही आधुनिकता आज काव्य-समीक्षा की सीमा बन गई है। दर्शन, मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविश्लेषण अथवा भाषा शास्त्र में से कोई यह दावा नहीं कर सकता कि वह सम्पूर्णतः या निर्विवाद रूप से काव्य के अंतरंग का उद्घाटन कर सकता है। स्वयं इलियट के दो निबन्ध काव्य-समीक्षा के दो ध्रुव स्थापित कर देते हैं। १९२३ ई० में उन्होंने 'द फंक्शन ऑव क्रिटिसिज़म' निबंध में लिखा है 'Criticism must always profess an end in view, which, roughly speaking, appears to be the elucidation of works of art and the correction of taste The critics task, therefore, appears to be quite clearly cut out for him, and it ought to be comparatively easy to decide whether he performs its satisfactorily and in

general, what kinds of criticism are useful and what are otiose." (*Penguin Series*, p. 18)

परन्तु १९५६ ई० में 'द फ्रांटियरस ऑव क्रिटिसिज़्म' निबन्ध में वह स्पष्ट रूप से विशुद्ध समीक्षा की ओर लौटते दिखलाई देते हैं। इस निबन्ध में उन्होंने समीक्षा की सीमाओं का विवेचन किया है और प्रभाववादी समीक्षा (इम्प्रेशनिस्टिक क्रिटिसिज़्म) तथा शोधात्मक समीक्षा (स्कालरली क्रिटिसिज़्म) को उसकी दो सीमाएँ कहा है। इन सीमाओं के बीच में ऐसी समीक्षाएँ हैं जो ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों पर आधारित हैं अथवा कवि के व्यक्तित्व और अन्तर्मन के प्रकाश में उसके काव्य के सम्बन्ध में स्थापनाएँ उपस्थित करती हैं। इलियट के विचार में ये स्थापनाएँ और समीक्षाएँ काव्य-गत सौन्दर्य का उद्घाटन करने में उसी प्रकार असमर्थ हैं जिस प्रकार प्रभाववादी समीक्षा क्योंकि इनमें आरोप अधिक है और सिद्धान्तों, स्थापनाओं अथवा अनुमानों से काव्य तक पहुँचने का उपक्रम है। इससे काव्य-सत्य की उपलब्धि भले ही सम्भव हो, उसके अन्तर्निष्ठ भाव-बोध तक पहुँचना असम्भव बात है। वास्तव में जहाँ समीक्षा की प्राचीन परिपाटी काव्य के शिल्प तक सीमित थी और इस सीमा तक एकांगी थी, वहाँ नवीन परिपाटी काव्य के स्रोतों तक पहुँच कर काव्य तक पहुँचना चाहती है। यह स्रोत या तो पाण्डित्य अथवा नवीन ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित हैं, या कवि-जीवन एवं कवि-मानस पर आधारित होने के कारण ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक। सभी कवियों के मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन की सामग्री हमें प्राप्त नहीं है परन्तु फ्राइड ने 'ल्यूनारडो डा-विंसी' निबन्ध में कलाकार के मनःविश्लेषण के आधार पर कलाकृति के मूल स्रोत तक पहुँचने की एक परिपाटी हमें दे दी है। अतः मनःविश्लेषण भी काव्य के मूल स्रोत से सम्बन्धित हो गया है। १९२५ में आई० ए० रिचर्ड्स ने 'प्रेक्टिकल क्रिटिसिज़्म' लिख कर पाठकों के दृष्टिकोण से काव्य तक पहुँचने का प्रयत्न किया परन्तु उनके पाठक नवीन वैज्ञानिक जगत के पाठक थे, प्राचीन युगों के काव्य-रसिक नहीं। फलतः वहाँ विश्लेषण ही पल्ले में अधिक पड़ा, काव्य की संश्लेषणात्मक एवं सूक्ष्म भावसंवेदना अस्पृष्ट ही रह गई। रिचर्ड्स के अनुवर्ती एम्पसन ने काव्य को भाषाशास्त्रीय बोध देने का प्रयत्न किया और अर्थविज्ञान का भी प्रचुर प्रयोग किया, परन्तु इन सब प्रयत्नों में काव्य का वास्तविक सौन्दर्य उद्घटित हो गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः इलियट ने यह आग्रह प्रस्तुत किया है कि काव्य-समीक्षा अपने मूल उद्देश्य (काव्यानन्द की उपलब्धि) से हट गई है। वह काव्य की व्याख्या तथा मूल स्रोतों की खोज पर अटक गई है। यह स्थिति उत्साहप्रद नहीं है। इलियट का प्रश्न है : साहित्य-समीक्षा के नाम पर जो दिया गया, वह रचना के सम्बन्ध में हमारी अन्तर्दृष्टि का विकास करता है अथवा उसका लक्ष्य साहित्य-रस है। यदि ऐसा नहीं है तो समीक्षा साहित्य के क्षेत्र से बाहर विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों के क्षेत्र में पहुँच जाती है। वह साहित्य नहीं रह जाती। यह अवश्य है कि विभिन्न विषयों का ज्ञान साहित्यसम्बन्धी हमारी अन्तर्दृष्टि को तीव्र, व्यापक एवं सूक्ष्म बनाता है परन्तु वह अन्तर्दृष्टि का स्थान नहीं

ले सकता। परन्तु केवल आस्वाद मात्र के विवरण या प्रभाव की विवेचना से समीक्षक का कर्त्तव्य पूरा नहीं हो जाता। यह स्पष्ट है कि श्रेष्ठ समीक्षक को इन दो अतियों से बचकर चलना होगा। इलियट हमारे धन्यवाद पात्र हैं कि उन्होंने दो-टूक शब्दों में साहित्य-समीक्षा के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की ओर इंगित किया है और इस विज्ञानवादी युग में काव्य को परिवेशीय ज्ञान एवं ऊहात्मक आस्वाद बोध से अलग करना चाहा है। विशुद्ध साहित्य-समीक्षा पर इन दो दो दिशाओं से संकट है और इलियट के उपरोक्त दो निबन्धों में इन संकटों की प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है। प्रभाववादी समीक्षा का युग तो वर्षों पहले समाप्त हो चुका है परन्तु बुद्धिमूलक अतिवाद से समीक्षा आज भी ग्रस्त है। उन्नीसवीं शताब्दी में सेण्ट बूव, टेन, और सेण्ट्सबरी से आरम्भ होकर मार्क्स, फ्राइड, रिचर्ड्स तथा एम्पसन तक इस नई पारिपार्श्वीय भूमि का विस्तार है। यह निश्चित है कि पिछली दो शताब्दियों की विपुल ज्ञान-राशि और मानवीय चेतना की नई उपलब्धियों को हम एकदम अग्रहीत नहीं कर सकते क्योंकि आज कवि और समीक्षक दोनों अपने कर्म के प्रति जागरूक हैं। वैज्ञानिक और बुद्धि-मूलक युग में गत-प्रतिशत तटस्थता का ढोंग नहीं चल सकता। साहित्य आज कमल चवण नहीं रह गया है और उसके लौह निकुंज में बीसियों जालरन्ध्र खुल गए हैं जिनसे अनेक सतर्क और अविश्वासी आँखें झाँकती हैं। आज का कवि केवल कवि, मात्र कवि नहीं है, वह आजीविका के लिए भी कुछ करता है और ज्ञान-विज्ञान की अनेक धाराओं में उसकी दिलचस्पी है। यह सम्भव नहीं है कि वह अपने व्यापक अनुभवों और विभिन्न अभिरुचियों को वाणी नहीं दे। इसी तरह आज का समीक्षक केवल साहित्यजीवी नहीं रह गया है, ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में उसकी पहुँच बढ़ रही है और वह नए अनुशासनों से अनुप्राणित हुए बिना नहीं रह सकता। जिस प्रकार कवि अखण्डित, सम्पूर्ण एवं अविभक्त इकाई है उसी प्रकार समीक्षक भी अपने समस्त विश्वासों, सिद्धान्तों, ज्ञानों एवं अनुभवों के साथ सम्पूर्ण इकाई ही होगा। परन्तु यह आग्रह व्यर्थ नहीं है कि वह समीक्षा के क्षेत्र में उतरते हुए रचना के तादात्म्य एवं आस्वाद पर अधिक बल दे। केवल वैज्ञानिक अध्ययन का दृष्टिकोण अपूर्ण ही कहा जायेगा।

भावुक (काव्यरसिक) और बुद्धि विलासी पण्डित की इन दो अतियों के बीच में इलियट अन्तर्दृष्टि और आस्वादन का विशिष्ट मार्ग बनाना चाहते हैं जो काव्य को कवि, युग, ज्ञान-विज्ञान तथा मतमतान्तरीय संदर्भों से एकदम रिक्त कर निर्वैयक्तिक, युगातीत, अन्तर्दृष्टिमूलक तथा मानवीय भूमि पर आस्वादनीय बना सके। कवि के जीवन तथा अन्तर्जगत्, युग-मन, समकालीन विचारधारा एवं भाषा की स्थिति का ज्ञान काव्यास्वादन की भूमिका बन सकता है और हमें भारती के मन्दिर की दहलीज तक पहुँचा सकता है। परन्तु भीतर प्रवेश करते ही हमें हृदय के पट खोलने होंगे और काव्य की प्रत्यक्ष एवं तात्कालिक अनुभूति के आधार पर अपना मत बनाना होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि इलियट के मत में समीक्षक का कार्य उस समय समाप्त हो जाता है जब वह पाठक को रचना के सामने उपस्थित कर देता है और रचना पर से पूर्वग्रह, मतासक्ति तथा मतमतान्तर का आवरण उठा

देता है। काव्यानुभूति प्रत्यक्षानुभूति है, अतः रचना को प्रत्यक्ष कराने में ही समीक्षा की सार्थकता है। वस्तुतः ये परदे आस्वादक अथवा काव्यरसिक के मन के परदे हैं जिन्हें तह-पर-तह खोलते जाना है। तभी रचना का निर्विशेष सौन्दर्य और अविभाज्य आनन्द उपलब्ध हो सकेगा।

(२)

इसमें सन्देह नहीं कि इलियट ने समीक्षा की इन दो सीमाओं पर ध्यान आकर्षित कर साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में संतुलन की ओर इंगित किया है तथा वैज्ञानिक युग की बौद्धिक विजृंभणा को काव्य के सूक्ष्म एवं तरल व्यक्तित्त्व तक पहुँचने मे असमर्थ बतलाया है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि समीक्षा का लक्ष्य क्या है ? क्या पश्चिमीय समीक्षा समीक्षक के किसी सर्वमान्य लक्ष्य की स्थापना कर सका है ? अथवा, क्या कोई सर्वमान्य, सर्वकालिक लक्ष्य सम्भव है ?

पश्चिम में दुःखान्त नाटक के सिलसिले मे लक्ष्य की बात पहली बार उठी थी और रेचन (कैथारसिस) को लक्ष्य माना गया था। इस रेचन-प्रक्रिया में भय और करुणा की भावना की निष्कृति की कल्पना की गई है और इससे भावगत स्वास्थ्य एवं सन्तुलन का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। आधुनिक युग में इस प्रक्रिया के स्वरूप और रेचन की नई व्याख्याएँ प्रस्तुत हुई हैं, परन्तु अरस्तू का यह रेचन-सिद्धान्त काव्यानन्द की व्याख्या के लिए परिपूर्ण नहीं है। परन्तु क्या नाटक का लक्ष्य काव्य के लक्ष्य से भिन्न होगा अथवा विभिन्न साहित्यविधाओं के लक्ष्य परस्पर भिन्न होंगे ? जहां तक काव्य का सम्बन्ध है उसे जीवन की अनुकृति (प्लेटो), व्याख्या या समीक्षा (आरनॉल्ड) अथवा पुनर्निमिति माना गया है या उसे जीवन से पलायन कहा गया है। वर्ड्सवर्थ ने उसे भावसंहृति (इमोशन रिक्लेक्टेड इन ट्रेन्क्वेलिटी) माना है। लक्ष्य की दृष्टि से इनमें से कौन सत्य के अधिक निकट है ? पश्चिमी समीक्षा काव्य को सत्य से त्रिधा दूर अथवा प्रवंचनात्मक मान कर चलती है और उसने काव्य को सत्यान्वेषण का एक अस्त्र मात्र मान लिया है। परन्तु सत्य की शोध दर्शन का विषय है, काव्य या साहित्य का विषय नहीं। जीवन से पलायन भी इसीलिए कि कवि जीवन के सत्य से भागकर उससे बचना चाहता है। ये सारे ही ध्येय काव्य के अन्तिम ध्येय नहीं कहे जा सकते।

'द फ्रांटियर ऑव क्रिटिसिजम' शीर्षक निबन्ध में एक स्थान पर इलियट ने इस समस्या की ओर इंगित अवश्य किया है जहाँ एल्डस हक्सले के एक ग्रन्थ का हवाला देकर उन्होंने 'जेन बुद्धिजम' के मनोविज्ञान की यूरोपीय मनोविज्ञान से तुलना की है। यूरोपीय मनोविश्लेषण का आदर्श है कि वह अस्वस्थ व्यक्ति को स्वास्थ्य प्रदान कर अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ (या नार्मल) व्यक्तियों के बीच में पुनर्स्थापित करे, परन्तु ध्यान मार्गीय बौद्ध धर्म की भांति उसके पास स्वास्थ्य का कोई शाश्वत मापदण्ड है ही नहीं। इसी तरह काव्य या साहित्य का भी कोई शाश्वत मापदण्ड पश्चिम के पास नहीं है। वास्तव में प्रश्न 'मूल्य' का है। पश्चिम के 'मूल्य' भौतिक और बुद्धिमूलक रहे हैं, अतः वहां धर्म, दर्शन और काव्य सभी बुद्धि का

अचल पकड़ कर चलते हैं और उनकी पहुँच अधिक-से-अधिक लोक-कल्याण या मानववाद तक है। काव्य और साहित्य के लिए किसी स्वतन्त्र, सम्पूर्ण एवं अव्याकृत लक्ष्य की खोज पश्चिम में अभी शुरू ही नहीं हुई है। हमारे यहाँ धर्म के क्षेत्र में मोक्ष अथवा निर्वाण को अन्तिम लक्ष्य माना गया है, दर्शन को बुद्धिव्यापार न मान कर सत्य के प्रत्यक्षीकरण का साधन बनाया गया है और काव्य के लिए ब्रह्मानन्द-सहोदर 'रस' के रूप में अन्तिम लक्ष्य की कल्पना है। ये लक्ष्य भिन्न होते हुए भी भिन्न नहीं हैं। ये भिन्न स्तर की समान उपलब्धियाँ हैं। साहित्य या काव्य की उच्चतम अभिव्यक्ति 'रस' के रूप में कल्पित है और इस रस को ध्वनित या व्यंजित मान कर उसमें बुद्धि का योगदान भी महत्त्वपूर्ण समझा गया है। वास्तव में काव्य अथवा साहित्य के विभिन्न स्तरों की कल्पना करनी होगी और साहित्य की श्रेष्ठतम उपलब्धि के साथ-साथ अलग-अलग स्तरों पर नीचे उतर कर सीमित लक्ष्य की भी कल्पना आवश्यक होगी। परन्तु किसी भी लक्ष्य के लिए शाश्वत एवं परिपूर्ण मापदण्ड का होना आवश्यक है, अतः यह महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि रसवाद या ध्वनिवाद की भाँति पश्चिम के पास साहित्य का भी कोई अन्तिम लक्ष्य हो जिसकी ऊँचाई से हम कृति एवं कृतिकार की सामर्थ्य का अनुमान कर सकें। यह आदर्श किसी भारतीय नाम से ही सूचित हो, ऐसा आग्रह हमारा नहीं है।

: २८ :

आंचलिक उपन्यास

आंचलिक उपन्यास के रूप में उपन्यास के भीतर एक नई 'कोटि' का विकास हुआ है और यह आवश्यक हो गया है कि हम उसके स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चित हो लें और उसकी परीक्षा के लिए मानदण्ड बना लें। यदि हम ऐसा नहीं करते तो आंचलिकता के नाम पर हमें ऐसी रचनाएँ मिलने लगेंगी जो उपन्यास नहीं होंगी या कम होंगी। वस्तुतः प्रत्येक नई शैली की रचना अनेक प्रश्न उपस्थित करती है और उनका समाधान आवश्यक हो जाता है। आंचलिक उपन्यास ने भी यही किया है।

'अंचल' शब्द अंग्रेजी 'रीजन' शब्द का पर्यायवाची बनकर आया है और आंचलिक उपन्यास से हमारा तात्पर्य 'रीजनल नॉविल' से है। इंग्लैंड में हार्डी और अरनॉल्ड बेनेट के उपन्यासों ने इस शैली का सूत्रपात किया और बाद में यूरोपीय और अमेरिकी साहित्य में इस कोटि की अनेक रचनाएँ आती हैं। अमेरिका के उपन्यासकारों ने औद्योगिक केन्द्रों, नगरों, प्रदेशों और वर्गों को लेकर ऐसा प्रचुर साहित्य हमें दिया है जो इस कोटि में रखा जा सकता है। जैसे-जैसे आंचलिक उपन्यासों की मांग बढ़ती गई है, वैसे-वैसे प्रौढ़ उपन्यासकार भी उसकी ओर आकर्षित हुए हैं। हिन्दी में आंचलिकता का आन्दोलन प्रगतिवादी आन्दोलन के साथ जुड़ा हुआ है जिसने जनपदीय भाषाओं के साहित्य को लेकर आन्दोलन खड़ा किया और लेखकों को सलाह दी कि जनजीवन (विशेष कर ग्रामीण जीवन) की ओर लौटें। वैसे हरिऔध जी ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' तथा बाबू शिवपूजन सहाय ने 'ग्रामीण समाज' में ग्रामीण जीवन को निकट से देखने का प्रयत्न किया था और भाषा में भी पर्याप्त 'स्थानिकता' लाने की चेष्टा उनके द्वारा हुई थी, परन्तु हिन्दी में इस दिशा में प्राथमिक सशक्त प्रयोग निराला के ही हैं जिन्होंने 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'चमेली' और 'काले कारनामे' के रूप में इस कोटि के तीन उपन्यास हमें दिये। इनमें से 'चमेली' का प्रथम परिच्छेद ही लिखा गया है और 'काले कारनामे' अपूर्ण ग्रन्थ है। ये उपन्यास प्रेमचन्द के आदर्शवाद के विरुद्ध भारतीय ग्रामीण जीवन और जन-जीवन की दुर्बलताओं को उभारते हैं और इनका दृष्टिकोण एकदम यथार्थवादी है। इन रचनाओं की आंचलिकता यथार्थवाद का सहारा लेने का दावा लेकर सामने आई थी और इनमें प्रयोग और विद्रोह की चेतना अधिक थी। परन्तु इन प्रयोगों ने नई पीढ़ी के तरुण उपन्यासकारों का ध्यान आकर्षित किया और नागार्जुन, हरिमोहन झा, उदयशंकर भट्ट, अमृतलाल नागर, लक्ष्मीनारायणलाल जैसे प्रतिभाशाली लेखक इस कोटि की रचनाओं के साथ क्षेत्र में आये। परन्तु इस क्षेत्र में सबसे प्रसिद्ध और लोकप्रिय नाम फणी-

श्वरनाथ 'रेणु' का है जिन्होंने रिपोर्ताज-शैली में 'मैला अंचल' और 'परती परिकथा' के रूप में दो वृहद् औपन्यासिक रचनाएँ देकर आंचलिकता को स्थायी और कलात्मक रूप दे दिया है। इन दोनों रचनाओं में हिंदी प्रदेश के सुदूर पूर्वी अंचल (पूर्निया) की भूमिका दी गई है। पहली रचना प्रेमचन्द के प्रति विद्रोह की परम्परा में आती है और ग्राम-जीवन तथा सत्याग्रही भारत सम्बन्धी उनके समस्त साहित्य को चुनौती देती है तो दूसरी रचना नवनिर्माण के सपने को नई वाणी देकर 'प्रेमाश्रम' और 'तितली' की परम्परा को आगे बढ़ाती है। इन उपन्यासों में अंचल-विशेष ही नायकत्व को प्राप्त हो गया है और बहुसंख्यक पात्र उपन्यास में रूप-रंग मात्र ही भरते हैं। चित्रोपम भाषा-शैली और चित्रपटीय कला जो 'फ्लैश-बैक' तथा 'क्लोज-अप' पर आधारित है इन रचनाओं को नई शैली की कलाकृति बना देती हैं। इस कोटि की कुछ अन्य रचनाएं भी हैं जैसे देवेन्द्र सत्यार्थी की रचनाएँ 'रथ के पहिए' और 'ब्रह्मपुत्र'। परन्तु ये रचनाएँ प्रागैतिहासिक और नृशास्त्रीय संदर्भों से इतनी पुष्ट हैं कि इन्हें कदाचित् हमें कोई नई श्रेणी देनी पड़ेगी। वास्तव में इन रचनाओं को न हम पूर्णरूप से ऐतिहासिक रचनाएँ कह सकते हैं, न आंचलिक। डॉक्टर प्रभाकर माचवे ने अपने एक लेख में इन्हें 'एन्थ्रोपोमारफिक नावेल्स' कहा है, अर्थात् 'मानवविज्ञानी उपन्यास'। इस प्रकार आंचलिकता अब प्रगतिवाद का पल्ला पकड़ कर नहीं चलती, वह स्वयं स्वतन्त्र साहित्यचेतना बन गई है। नाटक, काव्य और कहानी के क्षेत्रों में उसने अपना विस्तार किया है। जनपदीय भाषाओं के आकाशवाणी प्रोग्रामों से आंचलिकता के इस आन्दोलन को विशेष पुष्टि मिली है।

प्रश्न यह है कि आंचलिकता का स्वरूप क्या हो, उसकी सीमा क्या हो, उसका उपयोग क्या हो? आंचलिकता की नवीनता के मोह में न पड़कर हम उसकी साहित्यिक उपलब्धियों को ही लें और कला के मानदण्डों पर उसे परखें। पहली बात जो ज्ञातव्य है वह यह है कि लक्ष्य 'उपन्यास' है, आंचलिकता नहीं, क्योंकि आंचलिकता स्वयं अपने में कोई साहित्य कोटि नहीं है। वैसे वह भूगोल, नृशास्त्र, इतिहास, समाजशास्त्र आदि के अन्तर्गत आती है। इन विभिन्न ज्ञान-क्षेत्रों को हम यात्रा, रिपोर्ताज, रेखाचित्र, विवरण आदि अनेक रूपों में प्रस्तुत कर सकते हैं और कथा भी इनका माध्यम बन सकती है, परन्तु जहाँ आंचलिकता साधन नहीं साध्य हो, वहाँ उपन्यास हमें नहीं मिलेगा। आंचलिक उपन्यास में हमें 'उपन्यास' पर बल देना होगा। वह उपन्यास की मर्यादाओं का निर्वाह करे और साथ ही आंचलिक जीवन की संवेदना भी हमें दे। संवेदना,—ब्योरा नहीं—क्योंकि ब्योरा शास्त्र का विषय है, कला का नहीं। हार्डी, बैनेट और हेमिंग्वे के उपन्यास, उपन्यास के नाते श्रेष्ठ हैं, उनमें हम आंचलिकता का 'रस' अवश्य पाते हैं, परन्तु वह 'इतिहास-रस' की भाँति स्वतन्त्र कोटि की वस्तु नहीं है। ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस शब्द का निर्माण किया था और कहा था कि ऐतिहासिक उपन्यास में जो चीज हमें विशेष रूप से संवेदित रखती है उसे 'इतिहास-रस' की संज्ञा दी जा सकती है। इतिहास मानवीय चेतना को समृद्ध करता है, उससे केवल सूचना की वृद्धि नहीं होती। अतः यह मूलभूत तत्त्व है जो रस कोटि में कल्पित किया जा सकता है।

परन्तु नदी-पर्वत, खेत-खलिहान और नवनिर्माणों के विवरण प्रगीतात्मक (या गद्यकाव्यात्मक) संवेदना की सृष्टि कर सकते है और लेखक अपने भाषा-शिल्प से हम में स्थानीय रूप-रंग, कंठ-स्वर, प्रातःसंध्या का आभास भर सकता है परन्तु यह दृश्यात्मक और नादात्मक सामग्री 'सिनेरिमा' मात्र बन जाती है और उससे किसी नैसर्गिक संवेदना की सृष्टि नही होती। तात्पर्य यह है कि आंचलिकता के मोह में न पड़ कर हमें उसे उपन्यास की प्रकृत भूमि पर स्वीकार करना होगा। 'ज़िह्वागो' के सम्बन्ध में समरसेट माम का कहना है कि क्रान्तिपरक रूस के सम्बन्ध में यह उपन्यास अत्यन्त उत्कृष्ट विवरण प्रस्तुत करता है, परन्तु उपन्यास-कला की दृष्टि से दुर्बल रचना है। अनेक तथाकथित आंचलिक उपन्यासों पर भी यह कथन लागू होता है।

कुछ आलोचक प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों को भी 'आंचलिक' कहने लगे हैं। उन्होंने 'आंचलिक' शब्द का अर्थ-विस्तार किया है और सामान्य उपन्यास से विभिन्न विशिष्ट कथा के अर्थ में उसे लिया है। वास्तव में इस प्रकार के अर्थविस्तार से 'आंचलिकता' का अभिप्राय ही लुप्त हो जाता है। प्रेमचन्द्र और वर्मा जी के उपन्यास सार्वभौम मानवीय जीवन को प्रस्तुत करते है, अलबत्ता प्रेमचन्द मानव-जीवन को राष्ट्रीय सामाजिक भूमिका पर से देखते हैं और वर्मा जी बुन्देली जीवन और इस्लामी युग की भूमिका पर से। परन्तु ये उपन्यासकार 'राष्ट्रीय' जीवन और इतिहास के लेखे-जोखे को शास्त्रीयता नहीं देते, न विशेषज्ञता का दावा करते हैं। वे औपन्यासिकता के दावेदार हैं, इतिहासकार का दावा उनका नहीं है। उपन्यासकार मानव-जीवन का चित्रकार है, मनुष्य उसका ध्येय है—इतिहास, राष्ट्रीयता तथा ग्रामीण जीवन उस रंग के समान हैं जो उपन्यासकार की तूलिका में प्राण डालते है। वे साधन मात्र हैं, अधिक भी हो सकते हैं, परन्तु साध्य नही बन सकते। वर्मा जी ऐतिह्य के सम्बन्ध में बड़े ही परिश्रमी तथा जागरूक हैं। इसी तरह प्रेमचन्द के उपन्यास गांधीयुग का ऐतिहासिक अलबम् हैं। परन्तु इससे उनकी रचनाएँ 'उपन्यास' की किसी वर्गीय कोटि में नहीं बन्ध जाती। उनकी औपन्यासिक चेतना सार्वभौम, मानवीय और मूलभूत है। कम-से-कम 'आंचलिक' उनकी रचनाएँ नहीं हैं। ऐसा कहकर कदाचित् हम इन श्रेष्ठ लेखकों की सार्वभौमिकता को सीमाबद्ध करना चाहते हैं।

प्रश्न यह भी है कि आंचलिक क्यों? क्या यह इसलिए कि हम आज मनुष्य को सार्वभौम और अखण्डित रूप में नहीं देख पाते? क्या यह इसलिए कि पिछले युगों के महान् उपन्यासकारों जैसी संश्लिष्ट, सर्वग्राही, महाकाव्यात्मक जीवनदृष्टि हमारी नहीं रह गई है? क्या यह इसलिए कि हम विराट् को स्पर्श करने में असफल पाकर क्षुद्र को लेकर खेल करने चले हैं? इसमें संदेह नहीं कि आंचलिकता का अपना आकर्षण है—देश के दूर कोनों तथा अपरिचित मानव-समाजों के प्रति हमारा आकर्षण बराबर रहा है। यह भी मानना होगा कि इस प्रकार की रचनाएँ हमारे जीवन-बोध को विस्तार देती हैं क्योंकि हम अपने ज्ञान की परिधि से बाहर निकल कर नए-नए क्षेत्रों को छूते हैं। परन्तु उपन्यास का काम ज्ञान-विस्तार नहीं, संवेदना का विस्तार है। जहाँ भी मनुष्य है, उसके कर्त्तव्य-कर्म हैं, राग-द्वेष हैं, वहाँ

हमारी आत्मीयता का प्रसार तो निश्चित ही है। नवीन तथा विविध जीवन-खण्डों को उभारने में उपन्यासकार की सार्थकता नहीं है। उसे अनजाने मनुष्य के भीतर से जाने पहचाने मनुष्य का बोध हमें देना है। क्या आज के आंचलिक उपन्यासकार हमें ऐसा बोध दे रहे हैं? कहीं वे वैचित्र्य में ही तो नहीं उलझ गये?

एक बात और हुई है। प्रेमचन्द के बाद उपन्यास अपने स्वस्थ, संतुलित, 'क्लासिकल' दृष्टिकोण को पीछे छोड़ आया है। उसने 'रोमांस' की भूमियाँ अपना ली हैं और 'आंचलिकता' इन भूमियों में से एक भूमि ही है। काव्य के क्षेत्र में जिस स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को राष्ट्रीय चेतना के लिए हमने घातक माना था, वही नव-निर्माण के इस युग में व्यापक भारतीय मनुष्य की बात न सोच कर प्रांतीय, जनपदीय अथवा आंचलिक मनुष्य की बात लेकर चली है। इसमें उपन्यास प्रेमचन्द से पीछे की ओर लौटा है। आगे की ओर बढ़ा है, यह तो निःसन्देह नहीं कहा जा सकता। व्यापक जीवन संवेदन और राष्ट्रीय हिताहित के प्रश्नों से हटकर हम खण्ड जीवन के रेखा-चित्रों और वैचित्र्य साधन में लग गए हैं। परन्तु जहाँ इस क्षेत्र में ताराशंकर बन्दोपाध्याय बँगला भाषा में आंचलिक कथानकों को मानवीय संवेदन और चारित्रिक विशिष्टता में बाँध सके हैं, वहाँ हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकार भाषा-शिल्प, शैली-शिल्प तथा असाधारण के फेर में पड़ गये हैं। यह अवश्य है कि नागार्जुन और 'रेणु' के रूप में हमें इस क्षेत्र से दो कृती कलाकार मिले हैं परन्तु भय यही है कि हम इन वैशिष्ट्य को भुला कर कहीं आंचलिकता को आन्दोलन मात्र न बना दें। यह उचित है कि हम भारतीय मनुष्य के सभी परिवेशों में प्रवेश करें और उसकी स्थानिक विशेषताओं को समझें। आंचलिक जीवन हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति है और उसके साथ देश के लतावृक्ष, नदी-नद तथा पहाड़-समतल सांस्कृतिक परम्पराओं और उत्सव त्यौहारों में इस प्रकार बंध गये हैं कि उनकी ओर हमारा ध्यान बराबर चला जाता है। परन्तु हम आंचलिकता को हम जीवनदर्शन न मान कर मानव के जीवन व्यवहार और मनस्तत्व की भूमिका मात्र मानें।

आंचलिक उपन्यासों के सम्बन्ध में सबसे विवादास्पद बात भाषा को लेकर उठी है। उनमें आंचलिक भाषा का उपयोग कहाँ तक हो? आंचलिक भाषा से हमारा तात्पर्य जनपदीय भाषा से है। जहाँ प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य में उर्दू-हिन्दी के बीच में संतुलन रख कर प्रेमचन्दी भाषा का प्रवर्तन किया, वहाँ ग्रामीण भाषा-क्षेत्रों से सहायता लेकर व्यापक रूप से शब्दकोश की वृद्धि भी उन्होंने की। ग्रामीण जीवन-क्षेत्र में लोकप्रिय कहावतों तथा मुहावरों के साथ ग्रामीण लबोलहजा भी उन्होंने लिया, परन्तु उन्होंने पात्रों के वार्त्तालाप में सम्पूर्णतः जनपदीय भाषा (आंचलिक भाषा) का उपयोग नहीं किया। इसी से उनकी भाषा में आंचलिकता आभासित मात्र है, उसकी संवेदना सार्वदेशिक है—सम्पूर्ण हिन्दी प्रान्त में उसका सिक्का चला है। वर्मा जी ने 'गढ़कुण्डार' में बुन्देलखण्डी भाषा में कथोपकथन लिखे हैं परन्तु परवर्ती उपन्यासों में उन्होंने यह पद्धति छोड़ दी है। नागार्जुन और 'रेणु' इस पद्धति को अतिवाद तक ले गये हैं। संवादों से आगे बढ़कर विवेचना (घटनाओं की आलोचना) तथा विवरण में भी स्थानिक शब्दों का घटाटोप है। फलतः यह नहीं

कहा जा सकता कि इन लेखकों के उपन्यास अंचल-विशेष से बाहर भी उतनी लोकप्रियता प्राप्त कर सकेंगे या उतना ही रस दे सकेंगे। आंचलिक काव्य के सम्बन्ध में भी यही समस्या है। यह पद्धति चलती रही तो आंचलिक उपन्यास तथा काव्य जनपदीय अथवा विभाषा-साहित्य बन जाएगा और हिन्दी की व्यापक साहित्य-परम्परा से उसका सम्बन्ध टूट जायेगा। निःसन्देह अभी परिस्थिति इतनी चिन्त्य नहीं है, परन्तु संकट के चिह्न स्पष्ट ही दिखलाई पड़ रहे हैं। यदि हम साहित्य के क्षेत्र में जनपदीय आन्दोलन को पुनर्जीवित करना नहीं चाहते तो आंचलिक साहित्य की उपयोगिता के प्रति हमें जागरूक होना होगा। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, प्रेमचन्द से बहुत आगे बढ़ने में हमारी सुरक्षा नहीं है।

इस प्रकार आंचलिक उपन्यास हमारे सामने विषय-वस्तु, भाषा, शैली, उपयोगिता तथा कलासम्बन्धी अनेक प्रश्न लाया है। इन सभी प्रश्नों का तात्कालिक समाधान सम्भव नहीं है परन्तु हिन्दी उपन्यास की विकासशील प्रकृति को ध्यान में रखते हुए हम किसी मध्यम मार्ग का अन्वेषण अवश्य कर सकेंगे।

आंचलिक उपन्यास का स्वरूप क्या हो? उपन्यास जीवन का पुनर्निर्माण है,—पात्र और घटनाएं माध्यम हैं। अतः किसी निश्चित स्वरूप की ओर आग्रह अस्वाभाविक है। उपन्यासकार चाहे जिस शैली का उपयोग करे यदि वह जीवन को संवेदना देने मे सफल है तो वह सफल कलाकार है। यही देखना है। 'निराला' से लेकर 'रेणु' तक आंचलिक उपन्यास-लेखन में अनेक शैलियों का उपयोग हुआ है। विवाद 'रेणु' की शैली को लेकर उठा है जिसमे रिपोर्ताजी कला का आत्यंतिक प्रसार है जो रचना को एकरस बना देता है। उपयुक्त मात्रा में तथा औचित्य का ध्यान रखते हुए सभी शैलियों का उपयोग सम्भव है। उपन्यास का स्वरूप उसमें चित्रित जीवन की शिथिलता-तीव्रता, अन्तरंगिता-बहिरंगिता तथा अभिव्यक्ति की निकटता-दूरस्थता पर आधारित होगा। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के नियम नहीं बनाए जा सकते क्योंकि प्रस्तावित जीवन तथा उपन्यासकार की संवेदना की अपनी सीमाएं रहेंगी। आंचलिक उपन्यास के मापदण्ड की बात उसके स्वरूप के भीतर ही आ जाती है। आंचलिक उपन्यास यदि उपन्यास है तो उसके मानदण्ड भी उपन्यास के ही होंगे और उन्ही के आधार पर उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित होगी। आज उपन्यास के लिए प्लाट की आवश्यकता नहीं है और पात्रों की संख्या भी कमाधिक हो सकती है—यद्यपि 'रेणु' की रचनाओं में नामों की भरमार है—परन्तु यह जान लेना होगा कि उपन्यास अनेक रिपोर्ताजों का संकलन मात्र नहीं है, न वह अनेक कहानियों की समष्टि है। उसे 'कथा-चक्र' भी नहीं कहा जा सकता। वह अनेक व्यक्तियों के जीवन को एक निश्चित और निजी इकाई का रूप देता है। उसका अपना परिपुष्ट व्यक्तित्व होना चाहिये जो किसी प्रधान पात्र से सम्बद्ध हो या अनेक पात्रों में चित्रित जीवन-प्रवाह का आभास दे सके। उसके विशिष्ट आंचलिक रस और व्यापक मानवीय दृष्टिकोण में किसी प्रकार का विक्षेप घातक होगा।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि आंचलिक उपन्यास मनुष्य की उस दृष्टि का विकास है जो 'भूमा' को छोड़ कर 'अल्प' को देखती है और एकता को दुर्लङ्घ्य मान

कर अनेकरूपता में मानव-जीवन का आभास पाना चाहती है। परन्तु एकता हो या अनेकता, 'अल्प' हो या 'भूमा', मनुष्य वही है जिसे मूलभूत, सत्य, चिरता, विरोधी-धर्माश्रय तथा द्वन्द्वप्राण मान कर उपन्यासकार अपनी लेखनी उठाता है। इस मनुष्य में न कहीं छोटा है, न कहीं बडा है क्योंकि मनुष्य का मन ही त्रिकाल सत्य है जो देश काल की सीमाओं में नहीं बंध पाता। आंचलिक उपन्यास इसी विराट् मानव के रसकोशों तक हमें पहुँचा सके तो हम उसे सार्थक मानें, शेष सब कुछ वह आंचलिकता के नाम पर हमें दे तो हम उसे सहर्ष स्वीकार करें। इन्हीं सीमाओं के भीतर हम आंचलिकता से समझौता कर सकेंगे।

: २६ :

प्रेमचन्द की परम्परा

पिछले वर्षों में हमने प्रेमचन्द और उनके साहित्य को 'वादों' के भीतर से देखने का प्रयत्न किया है और उसमे यथार्थवाद तथा आदर्शवाद के विभिन्न रूपों की स्थापना की है। प्रगतिवादी आन्दोलन ने प्रेमचन्द को अपनी ध्वजा बना लिया और उन्हें पूर्णरूप से यथार्थवादी तथा वर्गसंघर्षमूलक जीवन-मूल्यों का उन्नायक कहा। रूसी क्रान्ति के बाद गोर्की को लेकर भी इसी प्रकार का वितण्डावाद आरम्भ हुआ था और उन्हें गत्यात्मक भौतिकवाद तथा वर्गसंघर्ष के संदर्भ देने में पार्टी के नेताओं ने कठिनाई का अनुभव किया था। बाद मे स्वयं गोर्की 'समाजवादी यथार्थ-वाद' के नारे के साथ सामने आये और उसे कम्यूनिस्ट पार्टी का अधिकृत दर्शन मान लिया गया। गोर्की समाजवादी-यथार्थवादियों मे अग्रगण्य बने और उनके साहित्य के मूलभूत रोमांसवाद से समझौता कर लिया गया। भारतवर्ष में प्रगति-वादी आन्दोलन के कर्णधारों को इतनी दूर जाने की आवश्यकता नही हुई क्योंकि प्रेमचन्द के साहित्य में वस्तुचित्रण तथा शैली के क्षेत्र में यथार्थवाद पहले से ही प्रतिष्ठित था। उसमें वर्गसंघर्ष की तीव्रता नही थी, परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता था कि विभिन्न सामाजिक स्तरों एवं वर्गों का चित्रण स्वत: उभर नहीं आया था। फलत: उन्हें 'लेबिल' कर लिया गया और उन पर यथार्थवाद की चिप्पी लगा दी गई। प्रेमचन्द के इस यथार्थवादी रूप को शास्त्रीय ढंग से पल्लवित करने का प्रयत्न हुआ और उन्हें आदर्शवादी परम्परा से एकदम तोड़कर स्वतन्त्र एवं विरोधी व्यक्तित्व दिया गया। इसकी प्रतिक्रिया भी हुई और समीक्षकों का एक वर्ग प्रेमचन्द को विशुद्ध आदर्शवादी मानने का आग्रह करने लगा। उसका दावा था कि प्रेमचन्द मूलत: और अन्तत: आदर्शवादी हैं और उसकी रचनाओं में आदर्शवाद का उतना ही उपयोग है जितना वांछनीय है, अथवा किसी भी अधिकारी आदर्शवादी रचना में हो सकता है। इन दो सत्यों के बीच में प्रेमचन्द के अपने दावे को रद्द कर दिया गया कि उनके उपन्यासों में 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' का दृष्टिकोण सुरक्षित है और उनकी भूमि समन्वयात्मक एवं सन्तुलित है। प्रेमचन्द का साहित्य पहले ही से सम-झौते का प्रतीक माना जाता था। कदाचित् यह मान लिया गया कि यह भी प्रेमचन्द का एक समझौता है: आदर्श, यथार्थ, आदर्शोन्मुख यथार्थ। इस प्रकार आदर्शवाद, यथार्थवाद और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के तीन बिल्ले प्रेमचन्द के साहित्य पर लगे। परन्तु प्रेमचन्द का अपना सिक्का अधिक चलता मालूम नहीं देता क्योंकि समीक्षक वर्ग प्रेमचन्द की साक्षी मानने के लिए तैयार नहीं है और वह दो-टूक बात करना

चाहता है, समझौता नहीं चाहता। इसी संदर्भ में यह भी प्रश्न उठा है कि प्रेमचन्द गांधीवादी हैं या उनकी अपनी स्वतन्त्र और निजी मान्यताएँ हैं। उनकी अंतिम रचनाओं ('गोदान' और 'कफन' की कहानियों) को लेकर उनकी प्रगतिवादिता घोषित की गई है और उन्हें भविष्यद्रष्टा माना गया है। जब स्वयं गांधीवाद की सीमाएँ ही निश्चित नहीं हैं तो इस प्रश्न पर कितनी दूर तक विचार हो सकेगा, यह तथ्य भुला दिया गया। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द प्रश्नों के चौराहे पर खड़े कर दिये गए हैं और समाधान के सारे प्रयत्न असफल हो रहे हैं।

निश्चय ही प्रेमचन्द सभी पंथों के दावेदार नहीं हो सकते। विदेशों में प्रेमचन्द और उनके साहित्य को मान्यता मिली है। उनके सम्बन्ध में उतना निर्विवाद होना ही पड़ेगा जितना निर्विवाद कोई श्रेष्ठ कलाकार और प्रतिनिधि राष्ट्रीय उपन्यासकार हो सकता है। अतः यह आवश्यक है कि हम प्रेमचन्द के मूल्यांकन से सम्बन्धित इन प्रश्नों को नवीन ढंग से देखें और उनके सम्बन्ध में कुछ निश्चित करें।

साहित्य को देखने के दो ही मार्ग सम्भव हैं—हम परम्पराओं से लेखक तथा उसकी कृति का सम्बन्ध जोड़ें या स्वयं उसके साहित्य के अन्तरंग को टटोल कर उससे पूर्व दिशाओं की ओर अथवा परम्पराओं की ओर बढ़ें। यह भी सम्भव है कि हम 'कृति' को ही प्रमाण मान लें और उसी से समाधान पाने की चेष्टा करें। इस पद्धति को प्रेमचन्द के साहित्य पर लागू करने से हमें कोई मापदण्ड निश्चय ही हाथ लगेगा अथवा किसी महत्त्वपूर्ण सूत्र की स्थापना अवश्य होगी। प्रेमचन्द उपन्यास लेखन की परम्परा में बहुत बाद में आते हैं और उनका उदय उस समय होता है जब स्वयं यूरोप में उपन्यास-लेखन की परम्परा या तो ह्रासमूलक हो रही थी अथवा वर्गवाद के ढाँचे में कस दी गई थी। प्रेमचन्द के समय में यूरोपीय उपन्यास अन्तर्मुख हो चुका था और उसमें फ्राइड की अवचेतना-सम्बन्धी मान्यताओं के आधार पर अन्तश्चेतनप्रवाहमूलकता की छाप थी। प्राउस्ट, जेम्स ज्वाइस, कैथराइन मेन्सफील्ड, जुले रोमे जैसे नवीन हस्ताक्षरों ने महार्घता प्राप्त कर ली थी और वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण, शिल्प और भाषा शैली सभी क्षेत्रों में प्रयोग चल रहे थे। एक प्रकार से परम्परित उपन्यास का युग समाप्त हो गया था और नया उपन्यास जन्म ले रहा था जो नितान्त व्यक्तिगत, विस्फोटक, आदर्श-शून्य, अराजक तथा प्रयोगी था। अन्तर्मन के मूल्य देने के लिए चरित्र को काल के चंगुल से उबारा गया और प्रताड़ित चेतना को एक साथ विभिन्न स्तरों पर रखने की चेष्टा की गई। इस प्रयत्न को भी अन्तरंगी यथार्थवाद अथवा मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद कहा गया। कहने का तात्पर्य है कि प्रेमचन्द के क्षेत्र में आने के समय से ही (१६१० के लगभग से) पश्चिमी यूरोप में उपन्यासरचना के आदर्श तथा उपकरण बदल गए थे और सम्भवतः प्रेमचन्द इस परिवर्तन से अपरिचित नहीं थे। रूस में हम गोर्की, बूनिन, मलवर्स टाल्सटाय तथा शोलोखव को प्रेमचन्द का समकालीन कह सकते हैं। गोर्की के नेतृत्व में क्रान्तिपरक रूस नव्य साहित्य को समाजवादी-यथार्थवाद के संदर्भ दे रहा था, परन्तु टाल्सटाय और चेखव के विराट मानवीय आदर्श बहुत कुछ कुण्ठित हो गए थे। फिर भी रूस के साहित्य से प्रेमचन्द सन्तुष्ट

थे और गोर्की की मृत्यु को उन्होंने व्यक्तिगत क्षति समझा था।

अतः प्रेमचन्द ऐसे संधिस्थल पर खड़े हैं जहाँ पश्चिमी-यूरोपीय और रूसी परम्पराएं मिलती हैं। एक ओर डिकेन्स, थैकरे, जार्ज इलियट, गेल्सवर्दी, अनातोले फ्रांस और रोमां रोलां की पश्चिमी-यूरोपीय पंगु परम्परा है तो दूसरी ओर टाल्सटाय का महान् साहित्य है जो स्वयं एक बड़ी सशक्त तथा स्वस्थ परम्परा है। इन दोनों के सर्वश्रेष्ठ उपकरणों को लेकर प्रेमचन्द ने अपने साहित्य की रचना की। गोगल, तुर्गनेव और टाल्सटाय ने पश्चिमी यूरोप के उपन्यासकारों (फ़ील्डिंग, डिकेन्स तथा बालज़ाक) से प्रेरणा प्राप्त की थी परन्तु रूस में उपन्यास का विकास रूसी प्रकृति के अनुकूल ही हुआ और टाल्सटाय के हाथ में वह महाकाव्यात्मक, सर्वभुक्, जीवनाभासी तथा वैविध्यपूर्ण बना। उसमें नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना हुई और उनके आधार पर व्यक्तिगत चरित्रों के अन्तर्जीवन की खोज की गई। उपन्यास का जीवन-पट विस्तृत ही नहीं, दोनों ओर खुला था और वस्तुसंगठन शिथिल, अप्रयासी (अनायासी) तथा अप्रयोजनीय था। कच्चे माल को ही जैसे रख दिया हो। उपन्यास का यह अनगढ़पन कला-पारखियों को नहीं रुचा और टाल्सटाय की प्रतिभा से आतंकित होकर भी उन्होंने बड़े संकोच से उन्हें उपन्यासकारों में स्थान दिया। परन्तु टाल्सटाय रूस की नवीन जीवन-शक्ति के द्योतक थे और उनकी लोकप्रियता ने समीक्षकों को एक बार फिर सोचने को मजबूर किया। इस नई उपन्यास-कला का यूरोप और अमेरिका के उपन्यासों पर भी व्यापक रूप से प्रभाव पड़ा। 'युद्ध और शान्ति' (१८६३-६६), 'अन्ना करीनन' (१८७५) और 'पुनर्जन्म' (१८६६) टाल्सटाय की उपन्यास-कला के चरम-बिन्दु हैं। टाल्सटाय की निरीक्षण-प्रतिभा और जीवन-शक्ति का व्यापक उपयोग उपन्यास के अणुवीक्षणीय वर्णनों तथा यथार्थ चित्रण में स्पष्ट रूप से दिखलाई देता है।

प्रेमचन्द ने उपन्यास की इन दो यूरोपीय धाराओं को आत्मसात् किया। १६१८ तक वे अपने उपन्यासों में व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान खोजते रहे। 'वरदान' (१६०२) और 'प्रेमा' (१६०७) (बाद में 'निर्मला' नाम से प्रकाशित,) (१६२३) इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। १६१८ में प्रकाशित 'सेवासदन' में उनका पश्चिमी-यूरोपीय परम्परा का बड़ा उपन्यास सामने आता है जो सुधारवादी चारित्रिक भूमि तथा आदर्शवादी परम्परा को सबसे सुन्दर रूप में स्थापित करता है। इस परम्परा की एक अन्य रचना 'गबन' है जो १६३० में प्रकाशित हुई। इस रचना में मध्यवित्तीय समाज की दुर्बलता तथा आत्मभीरुता का बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत हुआ है। परन्तु अपनी शेष रचनाओं में प्रेमचन्द टाल्सटाय के उपन्यास-लेखन से ही अधिक प्रभावित हैं और उन्होंने विराट् सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों को वाणी दी है। 'प्रेमाश्रम' (१६२२), 'रंगभूमि' (१६२४), 'कर्मभूमि' (१६३२) और 'गोदान' (१६३६) में वे निश्चित ही किन्हीं व्यक्तिगत समाधानों की खोज नहीं करते। उनके ये उपन्यास सममामयिक जीवन के अधिकाधिक स्पन्दन सूत्रबद्ध कर लेते हैं और उनकी विशालता तथा विविधता में लगभग बीस वर्षों का सारा भारतीय इतिहास प्रतिबिंबित हो उठता है। इन परवर्ती रचनाओं में प्रेमचन्द युगधर्म के

चित्रकार, चारण तथा इतिहासकार बन जाते हैं। सैकड़ों पात्रों तथा जीवनस्थितियों के बीच में एकरस होकर अपार सहानुभूति से मानव-महासागर की हिल्लोलमयी आकांक्षाओं को प्रतिध्वनित करने में प्रेमचन्द की कलम की बादशाहत सार्थक हुई है। उन्होंने सारे युग, समस्त देश, सहस्र-सहस्र नर-नारियों को अपनी बड़ी भुजाओं में समेट लिया है। वे जीवन के आलोचक न रह कर जीवनस्रष्टा बन गए हैं। उनके उपन्यास नवयुग के पुराण हैं। उनमें क्या नहीं है ?

इस नए समीकरण को हम क्या कहेंगे ? यह पश्चिमी यूरोप से कितना लेता है और रूस से कितना, इसकी जाँच कौन करेगा ? कला की जीवत चेतना में सुदूर देशों और दूरतर परम्पराओं का सर्वश्रेष्ठ नया रूप ग्रहण कर ले तो क्या उसे पश्चिमीय कहा जायेगा या पूर्वीय। आदर्श और यथार्थ की विभिन्न और बहुत कुछ विरोधी भूमियों को भी क्या कलाकार की विरोधीधर्माश्रयी चेतना एकात्मता नहीं दे सकेगी ? जिस विराट्, उदात्त तथा अतरंगी स्तर पर यह समीकरण प्रस्तुत हुआ है वह भी क्या किसी 'वाद' की संकोची मुट्ठी में समा सकेगा ? आत्मदान का ही क्या कोई 'वाद' है ?

परन्तु युग बुद्धिवादी है और बुद्धि हार नहीं मानती। फलतः प्रेमचन्द के साहित्य के लिए हमें 'वाद' का कटहरा ढूँढना ही होगा। स्वयं प्रेमचन्द के सामने भी ऐसी कठिनाई प्रस्तुत हुई थी और अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उन्हें अपने साहित्य की व्याख्या करनी पड़ी थी। उन्होंने अपने एक निबन्ध में बड़ी सतर्कता से आदर्शवाद और यथार्थवाद की अच्छाई-बुराई निरूपित की है और दोनों को कला चेतना के क्षेत्र में एकांगी माना है। इन दोनों को वे परस्पर विरोधी न मान कर पूरक मानते हैं। वे यथार्थ जीवन की ठोस भूमि पर ही सचरण करना चाहते हैं परन्तु उदात्त मानवीय आदर्शों तथा आस्थावान सम्भावनाओं का मुक्त वातावरण ही उन्हें पसन्द है। वे मनुष्य को देवता के रूप में ही नहीं, दुर्बल मानव के रूप में भी देखना चाहते हैं, परन्तु देवत्व पर उनकी अडिग आस्था है। वे मनुष्य केन्द्रीय साहित्य के रचयिता हैं। परन्तु उनका चरित्र-नायक अपनी दुर्बलता तथा पराजय के भीतर भी मानवीय गुणों को चरितार्थ करेगा। इसी को उन्होंने 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' कहा है। यथार्थ है मनुष्य की दुर्बलता। परन्तु आदर्श है मनुष्य का देवत्व। दुर्बलता से देवत्व की ओर जाना होगा। तमसो मा ज्योतिर्गमय। यही यथार्थ पर आदर्श की विजय है। परन्तु क्या इसमें ही यथार्थ की सार्थकता भी नहीं है। वस्तुन्मुखी जीवन-सत्य को सम्पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुए भी प्रेमचन्द जीवन की वस्तुवादी रूपरेखा से बंधे रहना नहीं चाहते। मानव के भीतर देवत्व और युगधर्म के भीतर युगातीत की प्रतिष्ठा की उन्होंने कल्पना की है। इसे 'समझौता' कहा जा सकता है। परन्तु स्वयं प्रेमचन्द ने इसे 'महानों का यथार्थ' कहा है। दुर्बलों का भी यथार्थ होता है, प्रेमचन्द इसे जानते हैं और उनके निबन्ध में इसका संकेत है, परन्तु प्रेमचन्द जान-बूझकर भी अनजान बने रहने में ही सत्य की सार्थकता समझते हैं। वास्तव में जिसे एक दृष्टि से 'आदर्शवाद' कहा जायेगा, वही दूसरी दृष्टि से 'महानों का यथार्थवाद' होगा। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द आदर्श और यथार्थ की दार्शनिक परिभाषाओं को साहित्य के क्षेत्र में नहीं उतारते। चेतन और जड़ को मूल में मान कर चलने वाला इन दो दार्शनिक प्रपत्तियों को उन्होंने अपनी विवेचना में स्थान नहीं दिया है। उनका दर्शन कला-दर्शन है, व्यावहारिक सर्जन का दर्शन है। उन्होंने अपने को नास्तिक कहा है और मोक्ष तथा धर्म को अविश्वसनीय माना है। परन्तु वे केवल भौतिक मूल्यों के भी समर्थक नहीं है। मानव-प्रकृति की मांगलिकता पर उनका अगाध विश्वास है। परन्तु भौतिक जीवन उनके लिए निश्चय ही महान् एवं संग्रहणीय है। उसके मार्जन में ही समाज और व्यक्ति की सुरक्षा है। उनके जीवन-दर्शन में ईश्वर का स्थान मनुष्य को मिला है और धर्म नैतिक मूल्यों का समुच्चय वन गया है। मानवीय जीवनादर्शो तथा सामाजिक जीवनमूल्यों के उत्तरोत्तर संवर्द्धन मे ही उन्होंने कला की सुरक्षा मानी है। इसी संदर्भ को सामने रख कर प्रेमचन्द आज मानववादी कलाकार कहे जाते हैं, परन्तु प्रेमचन्द की अपनी परिभाषा 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' में भी यही मानववाद ही तो क्रियाशील है। यह तो शब्दों का हेरफेर मात्र हुआ। यह भी कह सकते हैं कि मानववाद से प्रेमचन्द के साहित्य की अंतरंगी स्थिति सूचित होती है और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से उसकी प्रक्रिया जानी जाती है। परन्तु शब्दों के इस इन्द्रजालिक प्रयोग से प्रेमचन्द के मूल्यांकन में कोई अन्तर नही पड़ता।

आदर्शवाद और यथार्थवाद के संकीर्ण घेरे में यदि प्रेमचन्द वन्द नहीं होना चाहते तो हमारा ऐसा आग्रह क्यों है। क्यों हम उनमें जीवनानुभूति का ऐसा सर्वांगीण विकास नहीं देख पाते जो उन्हें प्रतिनिधि कलाकार की व्यापक चेतना दे। क्या आदर्शवादी कहकर हम यह इंगित करना चाहते हैं कि प्रेमचन्द समस्याओं के समाधान से बचते थे या उनके समाधान हमारे युग के लिए असार्थक हैं। यदि ऐसा है तो क्या हम कलाकार से प्रश्नों के अतिरिक्त समाधान की भी आशा रखते हैं। अथवा, क्या आदर्शवादी कहकर हम उनके साहित्य के आध्यात्मिक (या प्रेमचन्द की मान्यता पर से, नैतिक) तत्वों की उपेक्षा करना चाहते हैं और उन्हें वर्गसंघर्ष का पोषक बनाने का उपक्रम करते हैं। प्रेमचन्द साहित्य को ऐसी मशाल मानते हैं जो राजनीति के आगे-आगे चलती है। यह मशाल सत्य, अहिंसा, प्रेम, वलिदान, तप और त्याग की मशाल है। परन्तु वह जीवन से पलायन नहीं करती, अतीत की ओर नही देखती। वह भविष्यत् की ओर उन्मुख है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से भी हमें प्रेमचन्द और उनके साहित्य को देखना है। प्रेमचन्द उन्नीसवीं शती के समन्वयात्मक आदर्शवादी नवोत्थान के अन्तिम चरण हैं और युग-संधि पर खड़े हैं। उनके पीछे सौ वर्षो का नवजागरण है, राममोहनराय-वंकिम-दयानन्द-तिलक की रेनेसां-चेतना है। अपने युग में वे गांधी जी के साथ हैं जो स्वयं व्यावहारिक आदर्शवाद के प्रतीक हैं। स्थिर संस्कृति के मूल्य ही उनके साहित्य में अधिक उभरते हैं। आज हम दो संस्कृतियों के बीच के अन्तराल में खड़े हैं। नई संस्कृति गढ़ी जा रही है। प्रेमचन्द के जीवन के अन्तिम वर्षों में (१९३२ के बाद) बड़ी तीव्रता से रेनेसां-युग अथवा नवजागरण-युग के मूल्यों में परिवर्त्तन हुआ था और

गांधीवादी विश्वास डगमगा उठे थे। उस समय पैरों के नीचे की खिसकती धरती को देह के सम्पूर्ण दाव से पकड़ने में ही हमने सुरक्षा समझी थी और यथार्थ की ओर यह आग्रह प्रेमचन्द के अंतिम उपन्यास 'गोदान' और उनकी 'कफन' संकलन की कहानियों में दिखलाई पड़ता है। उन्हीं दिनों 'महाजनी संस्कृति' निबन्ध लिखकर उन्होंने रूस की नई मार्क्सवादी चेतना की ओर भी गम्भीरतापूर्वक इशारा किया था। स्पष्ट ही वे अपने आदर्शवाद से असंतुष्ट हो उठे थे और नए यथार्थवादी समाधानों की ओर बढ़ना चाहते थे। उनकी इस प्रगतिशीलता में 'वादी'—व्यक्ति की प्रगतिशीलता नहीं, स्वतन्त्र चिन्तक और कलाकार की प्रगतिशीलता ही हमें अधिक मिलेगी। प्रेमचन्द के व्यक्तित्व और साहित्य में उन दिनों यथार्थ का एक टुकड़ा भी जुड़ा परन्तु उसमें आदर्शवाद का विरोध अथवा अस्वीकार नहीं था। उनके इस उत्तर साहित्य में अस्थिर, संशयास्पद, उग्र तथा विस्फोटक जीवन-मूल्य हमें मिलते हैं जो नई सांस्कृतिक स्थिति के सूचक हैं। इस परिवर्तन में युग-संधि की स्पष्ट झलक है। गांधी जी ने नए अस्थिर जीवन-मूल्यों की उपेक्षा की और अपने जीवन दर्शन पर अटल रह कर मृत्यु का वरण किया। कबीर की भांति निर्माणोन्मुख सांस्कृतिक युग के आरम्भ में नहीं, तुलसी की भांति एक सुस्थिर परम्परा के अंत में प्रेमचन्द आते हैं और यह परम्परा उन्हीं पर समाप्त हो जाती है। इसीलिए साहित्य में न तुलसीदास की परम्परा चल सकी, न प्रेमचन्द की चलती दीखती है। परन्तु युगान्तर के चिह्न उनके साहित्य में यथार्थवादी संदर्भों के रूप में स्पष्ट ही उभरे हैं। टूटते हुए जीवन-मूल्यों की प्रतिध्वनि तथा अनास्था की झलक उनके उत्तर साहित्य में अवश्य है, परन्तु उसमें ऐसी शक्ति नहीं थी कि वह स्वयं किसी परम्परा का निर्माण करती। नया साहित्य पुकार-पुकार कर कह रहा है मैं हूँ अपनी शिकस्त की आवाज़ (मैं अपने टूटने की प्रतिध्वनि हूँ)। परन्तु 'कफन' की कुछ कहानियों को छोड़ कर अवरोध, कुंठा और पराजय प्रेमचन्द के उत्तर साहित्य में भी कहीं नहीं हैं। होरी टूट गया है परन्तु जीवन और सदाशयता के प्रति उसकी आस्था अटूट रह गई है। धनिया और गोबर प्रेमचन्द के नए दृष्टि-कोण के प्रतीक कहे जा सकते हैं और 'गोदान' शीर्षक में भी कलाकार का आक्रोश प्रगट है, परन्तु उपन्यास का नायक होरी प्रेमचन्द की सदाशयता और उनके भीतरी आदर्शवाद की ही विजय है। चेखव की 'डार्लिंग' कहानी की नायिका में जिस प्रकार कलाकार का शाप वरदान बन कर उभरा है, वही सम्भवतः होरी की स्थिति है। परम्परा के अंतिम मोड़ पर खड़े प्रेमचन्द यदि उसमें ही सम्पूर्ण न बंध सकें तो आश्चर्य ही क्या है।

समाधान कहाँ है? निश्चय ही 'वादों' के भीतर प्रेमचन्द और उनके साहित्य का समाधान नहीं है। पीछे की ओर से आगे आने वाली साहित्य-परम्परा अथवा प्रेमचन्द-युग के साहित्य से पीछे की ओर देखने वाली दृष्टि से प्रेमचन्द के साहित्य का मूल्यांकन एकांगी ही रहेगा। स्वयं प्रेमचन्द के कृतित्व में उनकी कला का स्वरूप हमें ढूंढ़ना होगा। उनके व्यक्तित्व, साहित्य तथा युग में ही उनके साहित्य के मूल्य भी हमें मिलेंगे। बाहर से किन्हीं भी वादों को उन पर आरोपित करना भ्रामक रहेगा। अच्छा हो यदि हम स्वयं प्रेमचन्द से ही अधिक सहारा लें। प्रेमचन्द की

कर्मण्यता तथा सर्वग्राहिता को न समझकर हमने एकदिन उसी तरह उनका हाथ पकड़ना चाहा था जिस प्रकार सुजान भगत के पुत्रों ने अपने पिता को दान देने से रोक लिया था, परन्तु प्रेमचन्द फिर कर्मक्षेत्र में उतर पड़े और उनकी कर्मण्यता की खेती राशि-राशि शस्य-शीर्षों में लहलहा उठी। आज जब खेती कटकर घर आ गई है और कोठे भर गए है, प्रेमचन्द अपने आत्मदान से हमें भरपूर तुष्ट करना चाहते हैं। किसी 'सन्त' के कहने से उसकी असमर्थता के दावे पर वह अपने पुण्य की गठरी में से कुछ भी कम नहीं करेंगे। इस भरी-पुरी गठरी को वे अपनी पीठ पर लाद कर हमारे घर पहुँचाने को तैयार हैं। प्रेमचन्द को हम साथ ले सकें तो यह गठरी हमारे घर पहुँच सकती है, अन्यथा 'वादों' के झमेले में प्रेमचन्द के आत्मदान का कोई-न-कोई अंश हमे अलभ्य रह जायेगा। सम्पूर्णता में प्रेमचन्द को आत्मसात करने के बाद ही हम प्रेमचन्द की परम्परा का निर्माण कर सकेंगे और उनके साहित्य की प्राणवान, विविध, परुष तथा सर्वग्राही चेतना के उत्तराधिकारी बन पायेंगे। अन्यथा, प्रेमचन्द की परम्परा और उनकी विरासत का मोह हमें छोड़ देना होगा।

• ३० •

आधुनिक पश्चिमी काव्य

(१)

आधुनिक काव्य को हम एक प्रकार से १७६८-१८२० ई० तक के रोमांटिक काव्य का परवर्ती विकास मान सकते हैं। वास्तव में यूरोप में रोमांटिक काव्य का पहला उच्छ्वास १८२० ई० तक समाप्त हो जाता है और १८६० ई० के लगभग टेनीसन, ब्राउनिंग, प्री-रेफिलाइट वर्ग, स्विनबर्न और बोदलेर के काव्य में हमें उसका दूसरा चरण मिलता है। इस दूसरे उच्छ्वास के कवियों की बहुत-सी मान्यताओं और काव्यप्रक्रियाओं ने नए काव्य को जन्म दिया और पो, रिम्बो, मेलार्मे, वर्लें और पाल वेलरे को हम इस नये काव्य का प्रवर्त्तक कह सकते हैं। वास्तव में काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण में बराबर परिवर्तन होता गया है, परन्तु मूलाधार नहीं बदले हैं। काव्य की प्रकृति अब भी रोमांटिक है यद्यपि उसने परम्परावाद और सामाजिक बोध से भी बहुत कुछ ग्रहण कर लिया है। कुछ अन्य कारणों से हम उसे रोमांटिक काव्य के भीतर एक स्वतन्त्र धारा के रूप में देखते हैं। नयी काव्यधारा और रोमांटिक काव्यधारा के अनन्य सम्बन्ध पर विचार करता हुआ 'एक्जिल्स केसिल' का लेखक एडमण्ड विलसन कहता है उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रोमांटिक आन्दोलन ने जो समस्याएँ उठाई थीं, आज हम उनमें भली-भाँति परिचित हैं। हम आज भी परम्परावाद और स्वच्छन्दतावाद को लेकर तर्कवाद उपस्थित करते हैं और समसामयिक साहित्य को इन्हीं शब्दों की परिधि में बाँधना चाहते हैं। फिर भी हमारे अपने युग का काव्यान्दोलन न तो केवल स्वछन्दतावादी आन्दोलन का पतन है, न उसका प्रसार। उसे हम उसका पूरक ही अधिक कह सकते हैं। वह उसी ज्वार की दूसरी लहरी है। और ज्वार का यह रूपक भी उस पर पूर्णरूपेण लागू नहीं होता। आज जो हमारे सामने प्रस्तुत है, वह पूर्णतः स्वतन्त्र आन्दोलन है जिसका जन्म भिन्न परिवेश से हुआ है और जिसकी व्याख्या के लिए हमें भिन्न परिभाषा गढ़ना होगी। जो हो, यह स्पष्ट है कि नये काव्य की प्रवृत्ति भिन्न होने पर भी रोमांटिक काव्यधारा के परिवेश में उसे समझने में सरलता हो सकेगी।

रोमांटिक काव्यधारा के कारण काव्य और समाज में एवं कल्पना और व्यवहार के जगत में बहुत गहरी खाई पड़ गई थी यद्यपि रोमांटिक कवियों की काव्यानुभूति के कारण यह बात अधिक असुविधाजनक सिद्ध नहीं हुई। रोमांटिक आन्दोलन व्यक्ति का विद्रोह था। जिस परम्परावाद के विरुद्ध यह विद्रोह उठा

था, उसकी अपनी कुछ विशेषताएँ थीं। उसमें राजनीति और नैतिकता के क्षेत्रों में समाज की समूहगत चेतना का प्रसार था और कला के क्षेत्र में निर्वैयक्तिकता उसका आदर्श थी। क्लासिकल कलाकार अपने चित्र के केन्द्र में उस प्रकार प्रतिष्ठित नही होता था जिस प्रकार रोमांटिक कलाकार। वह अपने नायक की सत्ता में विलीन नही हो जाता और कथा के बीच-बीच में अपने व्यक्तिगत भावोच्छ्वास को स्थान देना कदाचित् उसके लिए कलाच्युति थी। परन्तु रोमांटिक कृतियों मे या तो लेखक (या कवि) ही नायक है, या वह अपने नायक से पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है और इस तरह लेखक का व्यक्तित्व और उसका भावोच्छ्वास पाठक के लिए अदम्य रूप से आकर्षक बन जाता है। ये कलाकार समाज के समष्टिगत अधिकार के समकक्ष व्यक्ति के अधिकार को उभारते हैं। परम्पराओं, रूढ़ियों, नैतिक प्रतिबन्धों, धर्म और शासन की जड़ी-भूत संस्थाओं और प्रवृत्तियों के प्रति वे खड्गहस्त हैं। वास्तव मे रोमांटिक कलाकार मूलतः विद्रोही है परन्तु इस विद्रोह का एक दूसरा रूप भी है और वह विशेषतः ऐतिहासिक है। श्री ए० एन० ह्वाइटहेड ने अपनी पुस्तक 'साइंस एण्ड द माडर्न वर्ल्ड' में इस दूसरे रूप का विशदता से उद्घाटन किया है। ह्वाइटहेड के अनुसार रोमांटिक धारा वस्तुतः वैज्ञानिक विचार-धारा अथवा विश्व को यांत्रिक संगठन मानने वाली विचारधारा के प्रति प्रतिक्रिया थी। यूरोप की सतरहवी और अट्ठारहवीं शताब्दियाँ जहाँ कलापक्ष में क्लासिक्स के प्रभाव को सूचित करती हैं, वहाँ विचारक्षेत्र में डेकार्टे और न्यूटन का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस युग में कवि प्रकृति और विश्व को स्वचालित यंत्र मानने लगे थे और उनके लिए मानव-प्रकृति भी उसी प्रकार पूर्वनिर्दिष्ट, जड़वत् और यांत्रिक थी। रोमांटिक कलाकारों की प्रकृति-चेतना अत्यन्त सूक्ष्म और कोमल थी। उनके लिए विश्व महान् यन्त्र न होकर एक रहस्यमय सत्ता थी। उनके मत में मानव-प्रकृति को किन्ही दो-चार सूत्रों में बांधना असंभव बात थी। वर्ड्सवर्थ के काव्य में वैयक्तिक अनुभूति और बाइरन के काव्य में वैयक्तिक धारणा की प्रधानता है और इन कवियों को अपने भीतर के रहस्यानुभवों, द्वन्द्वों और संघर्षों को वाणी देने के लिए एक नयी ही भाषा का निर्माण करना पड़ा है। एक प्रकार से यह मनुष्य की चेतना में क्रांति का सूचक है। जहाँ सतरहवी-अट्ठारहवी शताब्दी के वैज्ञानिक विश्वप्रपंच को मशीन मानते थे और मनुष्य को प्रकृति से अलग, स्वतन्त्र और बाहरी वस्तु, वहाँ वर्ड्सवर्थ जैसे रोमांटिक कवियो ने विश्वप्रपंच को मूलगत चेतना का रूप माना और पर्वतों-नदियों के साथ मनुष्य को भी रखा। उनका कहना था कि विभिन्न इन्द्रियों के कार्यव्यापार और उनसे प्राप्त बहिरानुभूतियां अखण्ड और अविच्छिन्न हैं और उन सबको लेकर ही उस इकाई की सृष्टि होती है जो परम सत्य है। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य और जड़ प्रकृति में कोई द्वन्द्व नही है। मानव की अनुभूति और जड़ प्रकृति अंतर्सम्बन्धित है और विकासमान हैं यद्यपि हम अपने परम्परागत कार्य-कारण-सम्बन्धी अथवा जड़-चेतन-सम्बन्धी विचारों के कारण इस अनन्य सम्बन्ध की आत्मानुभूति नहीं कर पाते। इस प्रकार रोमांटिक काव्य प्रकृति के प्रति नयी अंतर्दृष्टि का प्रचारक है।

वह अपने चारो ओर के परिवेश मे डूब जाता है और वस्तुओं का अतरगी एवं तथागत वर्णन करता है। उसकी भाषा प्रतीकों और कल्पना-चित्रो के क्षेत्र मे नयी चेष्टाएँ लाती है, भले ही वह इसमे पूर्णत सफल नही हो, और उसका भावोच्छ्वास इस नयी भूमि पर हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हो जाता है। वास्तव मे मूर्तिमत्ता के क्षेत्र मे शान्ति-दर्शन के क्षेत्र मे क्रांति की सूचक है।

उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे विज्ञान ने मनुष्य, प्रकृति और विश्व प्रपंच को भौतिकवादी और यान्त्रिक व्याख्या के स्थान पर नयी विकासवादी व्याख्या को जन्म दिया जिसने मनुष्य के अह पर प्रहार किया और उसे एक बार फिर रोमांटिक कवियो की महत् कल्पना से नीचे उतार कर क्षुद्र और नगण्य प्राणी बना दिया जो पशु के स्तर पर चेतनावान है। वंशानुक्रम और परिवेश, ये दो तत्त्व ही मानव विकास के मूल तत्त्व माने जाने लगे और साहित्य मे भी प्रकृतिवाद के नाम से इन दोनो की पूजा होने लगी। ज़ोला के उपन्यासों मे इस विचारधारा का पूर्ण उत्कर्ष दिखलाई देता है। प्रकृतिवाद के विकास मे स्वच्छन्दतावाद की अतिभावुकता और शिथिलता की भी प्रतिक्रिया सम्मिलित थी और उसने क्लासिकल काव्य की तटस्थता और रूपात्मकता को भी एक सीमा तक अपना लिया था। फ्रांस मे इस प्रतिक्रिया ने प्रचुर साहित्य को जन्म दिया। अंग्रेजी साहित्य मे प्रकृतिवाद की स्पष्ट रूपरेखा नहीं दिखलाई पड़ती परन्तु रोमांस के विरुद्ध यथार्थ की भावना का बराबर विकास होता गया है। ब्राउनिंग और टैनीसन के काव्य मे शिल्प की जड़ता और वर्णन की तथ्यवादिता काफी मिलती है और रूपात्मक परिपूर्णता एवं सूक्ष्म चित्रण का उसी प्रकार प्राधान्य है जिस प्रकार पोप के काव्य मे। प्रकृतिवाद का विशेष विकास काव्य के क्षेत्र मे न होकर नाटक और उपन्यास के क्षेत्र मे हुआ और इब्सन तथा फ्लावेर की रचनाओं मे उसका बड़ा प्रभावशाली रूप हमे मिलता है। रोमांटिक काव्य के परवर्ती विकास के लिए हमे फ्रांस के कुछ कवियो को लेना होगा।

(२)

नयी कविता का पहला स्पन्दन हमे फ्रांस के जेरार्द द नेवल के काव्य मे मिलता है। इस कवि का विचार था कि दृश्यमान जगत हमारे मन चिन्तन से, जितना गहरा हम समझते हैं, उससे कही अधिक सम्बन्धित है और हमारे स्वप्न और भ्रम भी किसी प्रकार यथार्थ से अभिन्न रूप से जुड़े हैं। इस विचारधारा के कारण उसके काव्य मे प्रकृति का अत्यंत संवेदनाशील, व्यक्तित्वनिष्ठ चित्रण हुआ है और उसमे भीतर बाहर मिल कर एक हो गए हैं।

परन्तु वास्तव मे इस काव्यधारा को स्थायित्व देने का श्रेय एडगर ऐलेन पो को प्राप्त है। उन्नीसवी शती के मध्य मे अमेरिकी रोमांटिक लेखक पो, हाथर्न, मेलविले, व्हिटमैन और इमर्सन प्रतीकवाद की ओर अग्रसर होने लगे थे और फ्रांस के प्रतीकवादी आन्दोलन का इतिहास बोदलेर द्वारा पो की खोज

से शुरू होता है। बोदलेर ने पो को १८४७ ई० में पढ़ा और १८५३ ई० में उसने पो की कुछ कहानियों का अनुवाद प्रकाशित कराया। इसके बाद से पो का प्रभाव फ्रांसीसी साहित्य में बढ़ता ही गया। बोदलेर पो की समीक्षात्मक रचनाओं से भी परिचित हुआ और ये रचनाएँ प्रतीकवादी आन्दोलन का परिपत्र बन गईं। पो के काव्य में बहुत कुछ ऐसा था जो उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांटिक काव्य की पुनर्ध्वनि था, जैसे कॉलेरिज की रचना 'कुब्लाखाँ' और उसके गद्य को भी हम डिक्वेन्सी के गद्य के सामने रख सकते हैं, परन्तु उसने कॉलेरिज के बाद पहली बार निश्चित सिद्धान्त खड़े किये और स्वच्छन्दतावाद के कुछ पहलुओं पर विशेष बल देकर एक नयी काव्यधारा को जन्म दिया। यह धारा रोमांटिक धारा की शिथिलता और भाषा के क्षेत्र में उसकी अतिवादिता की विरोधिनी थी। काव्य के सम्बन्ध में उसकी कुछ निश्चित धारणाएँ थीं :

(१) मैं जानता हूँ कि अनिश्चितता सच्चे काव्य (और संगीत) का अंग है यदि वह काव्य या संगीत सचमुच में उत्कृष्ट है। यह अनिश्चितता व्यंजनात्मक ढंग से अस्फुट और फलतः आध्यात्मिक प्रभाव सम्पन्न हो। (पो) इस अनिश्चितता का आभास देना प्रतीकवाद का प्रधान लक्ष्य था। इसके लिए कई साधन थे, जैसे (क) वस्तुजगत और कल्पना के जगत को भावना में अत्यन्त निकट ले आना। (ख) विभिन्न इंद्रियानुभूतियों को समीकृत रूप में अनुभव करना जिससे जीवनानुभूति की एकता का आभास हो।

(२) उसका विश्वास था कि काव्य का मूल स्रोत मानवात्मा की उन गहराइयों, उन परछाइयों और खामोशियों में खोजना चाहिए जहाँ मनुष्य और उसके भवितव्य का संघर्ष चलता है, परन्तु ये गहराइयाँ लुकी-छिपी रहती हैं, चेतन मन की पहुँच उन तक नहीं है। उन साहसी व्यक्तियों को छोड़कर जो उन गहराइयों की खोज का व्रत ले लेते हैं शेष मानवों के लिए वे अनियंत्रित और आकारहीन हैं।

(३) पो के विचार में अन्तरात्मा की गहराइयों की खोज कला और शिल्प के उन सूत्रों द्वारा सम्भव है जिन पर कलाकार का विशेष अधिकार है। उसके मतानुसार कलाकृति का निर्माण उसी तरह सूक्ष्म पद्धतियों पर विकसित हो सकता है जिस तरह विज्ञान की किसी कृति का अथवा किसी व्यावहारिक संस्था का। उसके पहले कदाचित् किसी का भी ध्यान इस ओर नहीं गया था कि कविता का प्रभाव इस सीमा तक शिल्प पर आधारित है। पो न होता तो बोदलेर अपने को 'स्वप्न-देश का स्थापति' नहीं कहता, न मेलार्मे निश्चित शब्दों के माध्यम से शाश्वत सत्य की खोज में अपना जीवन बिताने का साहस करता। पाल वेलेरे ने कविता के जादू की जो इतनी पद्धतिबद्ध खोज की तो उसके पीछे पो के विचारों की ही प्रेरणा थी। यह स्पष्ट है कि नयी कविता का सैद्धान्तिक पक्ष पो की मान्यताओं और उसकी कृतियों से अनिवार्यतः प्रभावित है और उसे हम प्रतीकवाद का जनक कह सकते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में बुद्धि पर संवेदनाओं का आलेखन कोई नयी बात नहीं थी और हमें अनेक रचनाएँ ऐसी प्राप्त हुईं जिनमें काव्य का संगीतात्मक, अतर्कित और स्वप्नवत् रूप प्रतिष्ठित था। ये तत्त्व अंग्रेजी के रोमांटिक काव्य

में प्रचुर मात्र मे प्रतिष्ठित थे। इसीलिए अंग्रेजी पाठकों को फ्रांस के प्रतीकवादी आन्दोलन में कोई विचित्रता दिखाई नहीं पडी। काव्य मे जिन नये तत्त्वों का उपयोग हुआ, वह अंग्रेजी काव्य के लिए एकदम नये नहीं थे। वास्तव मे एलीजेबियन युग (सोहलवीं शताब्दी) के काव्य मे ये उपकरण वर्तमान थे। ये नये तत्त्व थे कल्पना चित्रों का प्रचुर उपयोग, रूपक-सकर, भाव की तीव्रता और बौद्धिकता का एक साथ निर्वाह, बौद्धिक और आध्यात्मिक भावस्तरों का एकीकरण, शैली के क्षेत्र मे वैचित्र्य की दृष्टि। गद्यात्मक उपकरणों के साथ अतिशयात्मक भाव-शैली का उपयोग उसी युग मे दिखलाई देता है। सच तो यह है कि ऐलिजेबेथ युग के काव्य में वे सभी उपकरण थे जिनके द्वारा रोमांटिक काव्यशैली का सृजन हुआ। इन्ही के विरोध मे अट्ठारहवीं शताब्दी मे नये काव्य का जन्म हुआ। प्रतीकवादी इन्ही उपकरणों की ओर लौटे।

फ्रांस के इस प्रतीकवाद ने समस्त छन्द शास्त्र को उलट पुलट कर दिया। उसके निर्माण मे जर्मन, फ्लेमिश, ग्रीक और अंग्रेजी स्रोतों से बहुत कुछ लिया गया है, अधिकतर अंग्रेजी से। वर्लें, मेलार्मे और बोदलेर तीनों अंग्रेजी साहित्य से पूर्णत परिचित थे। बोदलेर पर पो के प्रभाव की बात हम पहले कह चुके हैं। दो अन्य प्रारम्भिक प्रतीकवादी कवि स्टुअर्ट मेरिल और फ्रेन्सिस वेले ग्रिफिन अमेरिकन थे परन्तु पैरिस को उन्होने अपना निवासस्थान बना लिया था और फ्रांसीसी मे रचना शुरू कर दी थी। इनकी रचना का सबसे बड़ा और क्रान्तिकारी कदम यह था कि इन्होने फ्रांसीसी काव्य के मूलाधार 'एलेक्जेन्ड्रीन' छन्द के साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया था और उस तरह के अंग्रेजी स्वच्छन्द छन्द (इररेगुलर मीटर) प्रचलित किये थे जैसे आर्नोल्ड और ब्राउनिंग की रचनाओं मे पाये जाते थे। इस तरह फ्रांसीसी काव्य भूमि छन्दों की जड़ता से मुक्त हुई।

परन्तु इस नयी काव्यधारा की सबसे बड़ी विशेषता थी इसकी सैद्धान्तिक भूमि। वास्तव मे एक नये सौन्दर्य-शास्त्र का ही निर्माण हो गया। इस सौन्दर्य शास्त्र का जन्मदाता मेलार्मे है। स्टेफेन मेलार्मे (१८४२-९८) को प्रतीकवादी आन्दोलन मे वही स्थान प्राप्त है जो रोमांटिको मे कॉलिरिज को प्राप्त है। वही प्रतीकवादियों का मतगुरु था। उसकी अपनी मान्यताओं मे से कुछ तो पो से ली गई थी, जैसे (१) यह मान्यता कि विभिन्न इन्द्रियों के संवेदन परस्पर रूपान्तरित हो सकते हैं। और (२), कि काव्य संगीत से अभिन्न है और इसलिए उसमे संगीत के तत्त्वों और प्रभावों की योजना आवश्यक है। प्रतीकवाद काल्पनिक और वस्तु-जागतिक संवेदनाओं और अनुभूतियों को एक मान कर चलता है।

हमारी संवेदनाओं और कल्पनाओं, हमारी संकल्पात्मक अनुभूति और हमारे कृतित्व में बड़ा विरोध है, यह प्रतीकवादी मानते हैं। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांटिक आन्दोलन की भाँति यह भी विरोधमूलक आन्दोलन है। प्रकृति के यान्त्रिक रूप की कल्पना और मनुष्य की सामाजिक धारणा के विरोध मे नये (प्रतीकवादी) कविमों ने काव्य को व्यक्ति की भावनाओं और संवेदनाओं का प्रतिरूप बना दिया। इस तरह से वह स्वच्छन्दतावाद से एक विशेष दिशा में आगे बढ़ा हुआ

कदम था। फलतः काव्य नितान्त व्यक्तिगत वस्तु बन गया और कवि पाठक के प्रति निवेदित होने की जिम्मेदारी से छुटकारा पा गया।

प्रतीकवादियों के प्रतीक सामान्य ढंग के प्रतीक नहीं थे जिनसे हम दांते के धार्मिक काव्य मे या अंग्रेज़ी के रोमांटिक काव्य में परिचित थे। दांते और रोमांटिकों के प्रतीक परम्परागत, निर्विशिष्ट और वैयक्तिक थे। नये प्रतीकवादी कवियों के प्रतीक पूर्णतः व्यक्तिगत थे। कवि बहुधा अपनी अन्यतम गोपनीय अनुभूतियों के लिए विशेष प्रतीक चुन लेता है और जब तक हम इस प्रतीक-योजना से परिचित नहीं हो जाते, तब तक हम उसकी अनुभूति के मूल स्रोत तक नही पहुँच पाते। नये प्रतीकवादी कवियो की प्रतीक-सम्बन्धी मान्यता मेलार्मे के इन शब्दों में व्यनित होती है : "पर्नासी कवि वस्तुओ को तथ्यगत ग्रहण करता है और उसी रूप में उन्हें हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इसी का फल यह होता है कि उनमें रहस्य का अंग शेष नही रह जाता। वे मन को सृजन-शीलता अथवा कर्तृत्व के आनन्द से वंचित रखते हैं। वस्तुओं को नाम देकर हम कविता का तीन-चौथाई आनन्द नष्ट कर देते हैं। इससे अनुमान और शनैः-शनैः अनावृत्ति का आनन्द जाता रहता है। कल्पना का आनन्द है वस्तु की व्यंजना, उसका भाव-निर्माण।" (विल्सन के 'एक्जिल्स के सिल' से उद्धृत)। प्रतीकवादी अनुभूति या काव्यवस्तु को वर्णित या सूचित करना नही चाहते, वे उस अनुभूति या वस्तु को ही पाठक को देना चाहते हैं। उन्होंने काव्यप्रक्रिया के सम्बन्ध में कुछ बड़ी उलझी और सूक्ष्म धारणाएँ बना ली हैं। उनका कहना है कि हमारी चेतना का प्रत्येक क्षण दूसरे क्षण से भिन्न है और इसीलिए हमारी भाव-संवेदनाएँ और रसात्मक प्रतिक्रियाएँ सतत परिवर्त्तित और प्रवहमान हैं। फलतः काव्यभाषा-शैली के परम्परागत रूपों में उन्हें बाँधना कठिन है। प्रत्येक कवि अपने काव्य में अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन करता है और श्रेष्ठ काव्य में उसके व्यक्तित्व का यह निजी रूप ही उभरना चाहिए। कवि का लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह अपने अन्यतम व्यक्तित्व और संवेदना के अन्यतम क्षणों को पाठक को दे सके। इसके लिए विशिष्ट भाषा का निर्माण अनिवार्य है। यह भाषा प्रतीक-भाषा होगी। विशिष्ट, प्रवहमान, अस्पष्ट और रहस्यमय चेतना और भाव-संवेदन को तथ्य-कथन अथवा वर्णन-शैली के द्वारा ग्रहीत नहीं बनाया जा सकता। केवल कल्पना-चित्रों और व्यंजनात्मक शब्दों एवं प्रतीकों के द्वारा कवि इस क्षेत्र में सफल हो सकता है। ये कल्पना-चित्र और प्रतीक संगीत के सुरों की तरह सूक्ष्म, निर्विशेष और मार्मिक होंगे। अपने भावोन्मेष में प्रतीकवादी कवि यह भूल गया कि शब्द केवल नाद और रंग-रूप की ही व्यंजना पर समाप्त नहीं हो जाते, उनकी एक अर्थात्मक सत्ता भी है। वास्तव में प्रतीकवादियों के प्रतीक संदर्भविहीन रूपक-मात्र थे और कवियों ने जान बूझकर चेष्टित रूप से काव्य में उनका प्रयोग किया था। इस प्रयत्न में कलात्मक जागरूकता अधिक थी, कवि की आत्यंतिक भावविभोरता का अभाव था। फलस्वरूप, कम प्रतिभावान कवियों के हाथ में यह आन्दोलन कलाकारिता का आन्दोलन बन गया। परन्तु श्रेष्ठतम कवियों में भी प्रतीकों के निजी और रहस्यमय चुनाव के कारण दुर्बोधता आ गई और अस्पष्टता का आग्रह रहा। विशिष्ट

व्यक्तिगत सवेदनाओं और अन्तर्जगत के निगूढ आलोडन-विलोडन को काव्य-विषय बनाने के कारण ऐसा होना अनिवार्य था।

इस प्रकार प्रतीकवादी आन्दोलन का जन्म फ्रांस मे काव्यक्षेत्र मे हुआ परन्तु बाद मे यह आन्दोलन यूरोपव्यापी बन गया। कालान्तर मे इसने सभी साहित्यकोटियों को अपना लिया। इस धारा का सबसे प्रमुख समीक्षक रेमे द गोरमों है। इलियट ने इसके प्रभाव को स्वीकार किया है। उन्नीसवी शताब्दी का अन्त होते-होते यह सबसे प्रमुख आन्दोलन बन गया। यीट्स के इस कथन मे निश्चय ही बड़ा सार है "अट्ठारहवीं शताब्दी के बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया उन्नीसवीं शताब्दी के भौतिकवाद से मिल जुलकर एक हो गई है और प्रतीकवादी आन्दोलन जो जर्मनी मे वैगनर मे, इगलैंड मे प्री-रैफिलाइट वर्ग मे और फ्रांस मे विलेर द ल आइल आदम्स, मेलार्मे और मेटरलिंक मे पूर्णता को प्राप्त हुआ है और जिसने इब्सन और द एननजियो के भाव-जगत को आन्दोलित किया है एकमात्र ऐसा आन्दोलन है जो कुछ नयी बात कह रहा है।" (१८६७) यीट्स ने इस कथन मे जिन लेखको का उल्लेख किया है, वे सब के सब आज प्रतीकवादी धारा मे नही गिने जाते परन्तु यह निश्चय है कि मेलार्मे और परवर्त्ती फ्रांसीसी कवियों का यूरोपीय काव्यधारा पर विशेष प्रभाव पड़ा और इस प्रभाव को समझे बिना अमेरिका और इगलैंड के अनेक नये कवियो के काव्य से रसग्रहण करना कठिन होगा। प्रतीकवादी धारा के तत्व अग्रेजी काव्य के लिए नये न होकर भी नये सदर्भ मे अद्भुत बन गए और अग्रेजी काव्य परम्परा मे बद्ध आलोचक नए काव्य के साथ न्याय नहीं कर सके। इसीलिए इलियट के काव्य और ज्वाइस के उपन्यासों के प्रति अग्रेज समीक्षको का दृष्टिकोण बहुत कुछ कठोर, भ्रामक और असतुलित रहा है।

(३)

प्रतीकवादी नयी काव्यधारा के कुछ मूल सिद्धान्त हमे रिम्बो (१८५४-९१) के एक पत्र मे मिल जाते हैं जो उसने सत्रह वर्ष की आयु मे अपने एक मित्र को लिखा था। पाल वेलेर की यह मान्यता थी कि रोमांटिक कवियो का पुनर्मूल्यांकन अपेक्षित है और इस पत्र मे उसने इस पर विचार करते हुए कविता की एक नयी परिभाषा ही उपस्थित की है जो प्रतीकवाद पर पूर्णत लागू होती है।

(४)

मेलार्मे, रिम्बो और पाल वर्ले के बाद फ्रांस मे प्रतीकवादी काव्यधारा ने एक नया मोड लिया और एक नयी परम्परा स्थापित की। इस नयी परम्परा के प्रमुख कवि त्रिस्तॉं कार्बो और जुले लफार्ग थे। दोनो के काव्य व्यक्तित्व का विकास अत्यन्त क्षिप्र गति से हुआ और दोनों ही कीट्स की भांति तरुणाई मे मृत्यु को प्राप्त कर अपनी सम्भावनाओं के सम्बन्ध मे अनेक अनुमान छोड गए। त्रिस्तॉं कार्बो की प्रमुख रचना है 'ले अमोर जौन १८७३'। वर्ले ने १८८३ ई० मे

उस पर एक लेखमाला प्रकाशित की जिसे प्रतीकवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वर्लें की काव्य-कला पर इस तरुण कवि का काफी प्रभाव पड़ा है। लफ़ार्ग का काव्य कार्बी के काव्य से अधिक आत्मचेतन, सचेष्ट और कलात्मक है। लफ़ार्ग ने जर्मन-दर्शन का भी अध्ययन किया था और उसकी पारिभाषिक शब्दाली के द्वारा प्रतीकवाद में अस्पष्टता का प्रवेश हो गया, परन्तु फिर भी लफ़ार्ग प्रतीकवादी कवियों में सर्वविशिष्ट है। कार्बी और लफ़ार्ग ने फ्रेंच काव्य में एक नयी कोटि की भाषा और नयी भावना-धाराओं का समावेश किया। मेलार्मे के काव्य में हमे नयी मूर्तिमत्ता मिलती है, परन्तु भावना का अभाव है। उसमें भाषा-शैली का अभिजात्य हमें मिलता है, परन्तु इन दोनों कवियों ने साधारण बोलचाल की भाषा और व्यंगात्मक शैली को प्रश्रय दिया। अंग्रेज़ी कवियो में टी० एस० इलियट के प्रारम्भिक काव्य में हम विशेष रूप से इन दोनों कवियों को प्रतिनिधि पाते हैं।

परन्तु इलियट से पहले हमे विलियम बटलर यीट्स पर विचार कर लेना है जिसके प्रारम्भिक काव्य में हम रोमांटिक, प्री-रेफ़िलाइट और प्रतीकवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखते हैं। रोमांटिक और प्री-रेफ़िलाइट प्रभाव हमें विशेषतः 'द वांडरिंग ऑफ ओसिन' (१८८९). में मिलता है। कुछ ही वर्षो बाद पेरिस में यीट्स की भेंट मेलार्मे से हुई और अपने मित्र आर्थर सिमंस के द्वारा वह प्रतीक-वाद के सिद्धान्तों से परिचत हुआ। आर्थर सिमंस ने मेलार्मे की कुछ रचनाओं का अनुवाद भी किया था और यीट्स के परवर्त्ती काव्य 'द विंड अमंग द रीड्स' से 'शेडोई वाटर्स' तक में हम प्रतीकवाद की छाया पाते हैं। उन दिनों यीट्स साहित्यिक क्षेत्र मे प्रतीकवाद को ही एकमात्र आन्दोलन मानता था। १९०० ई० के बाद यीट्स के काव्य में प्रतीकवादी तत्त्व कम होते गए और उसने आयरलैण्ड की लोकगाथाओं और पुराण-प्रतीकों को लेकर एक नयी जातीय काव्यधारा का निर्माण किया जिसका अपना विशिष्ट स्वरूप था।

अंग्रेज़ी प्रतीकवादी धारा को कोई सशक्त व्याख्याता नही मिला यद्यपि हम वाल्टर पेटर को वह श्रेय दे सकते हैं जो फ्रांसीसी प्रतीकवादी काव्यधारा के व्याख्याता के रूप में मेलार्मे को प्राप्त है। वाल्टर वेटर की विचारधारा भी बहुत कुछ मेलार्मे से मिलती-जुलती है। उसका कहना है कि अनुभवों के द्वारा हमें सत्य की शाश्वत रूपरेखाएँ प्राप्त नहीं होती जो अपरिवर्त्तनशील और नित्य हों, बल्कि हमें सत्य के विभिन्न सूक्ष्म धरातल मिलते हैं जो हमारे भीतर के अथवा हमारे दृष्टिकोण के परिवर्त्तन के साथ सूक्ष्म रूप से अनिवार्यतः बदल जाते हैं। "समस्त वस्तुओं और उनकी सारभूत वास्तविकता को अनिश्चित पद्धति अथवा फ़ैशन मानना आधुनिक विचारधारा का चलन हो गया है।······मानवात्मा के प्रति दर्शन अथवा चिन्तामूलक संस्कृति की प्रमुख देन यह है कि उसके द्वारा मानवात्मा अनवरत और आकुल निरीक्षण के जीवन के लिए जाग्रत रहती है। प्रत्येक क्षण कोई आकार किसी-न-किसी अंग में परिपूर्णता प्राप्त करता है, प्रत्येक क्षण पर्वत या सागर पर अन्य से भिन्न कोई रंग झलक उठता है। संवेदना,

अन्तर्दृष्टि अथवा बौद्धिक हलचल का कोई भाव अप्रतिहत रूप से यथार्थ और आकर्षक हो उठता है। केवल एक क्षण के लिए ही सही, परन्तु यही सार्थक क्षण है। अनुभूति का फल नहीं, अनुभूति ही चरम लक्ष्य है। वैविध्यपूर्ण और नाटकीय जीवन में से कुछ गिने चुने स्पंदन ही हमें मिलते हैं। उन कुछ क्षणों में हम वह सब कुछ कैसे देख लें जो सूक्ष्मतम इन्द्रियों के द्वारा हम देखने में समर्थ हैं।" (ड्रिलेसा 'एक्विजल्म कैसिल' में पृ० ३३ पर उद्धृत)।

(५)

आधुनिक अंग्रेजी काव्य की नूतनतम प्रवृत्तियाँ हमें हापकिन्स (जेरार्ड मैनले हापकिन्स, १८४४-१८८६) के काव्य में मिलती हैं। हापकिन्स का काव्य बहुत बाद को सामने आया। उसकी मृत्यु के बहुत बाद १९१६ ई० में उसके मित्र राबर्ट ब्रिजेज ने 'द स्पिरिट आव मेन' नाम के कविता-सकलन में हापकिन्स की छः रचनाएँ प्रकाशित कराईं और १९१८ ई० में उन्हीं के सम्पादन में हापकिन्स की रचनाओं का पहला सकलन प्रकाशित हुआ। रचनाओं की सख्या कम होने पर भी हापकिन्स के नए प्रयोगों ने काव्य-जगत में हलचल पैदा कर दी। शब्द-प्रयोग, वाक्यविन्यास, लय आदि के क्षेत्र में हापकिन्स की रचनाएँ नयी विशिष्टता लेकर आईं और 'इमेजिजम' (चित्रवादी) काव्यधारा में, जो उस समय प्रमुखता प्राप्त कर चुकी थी, हापकिन्स की काव्यप्रवृत्तियों की प्रतिध्वनियाँ थीं। हापकिन्स का जगत शैली के काव्य-जगत की तरह काल्पनिक नहीं है, वह भाव-जगत है। कवि अपने भाव-जगत में एकदम डूब गया है। इस भाव-जगत के रूप-रंग, छाया-प्रकाश और उसकी गतिविधियाँ उसके लिए आकर्षक हैं। वह प्रत्येक वस्तु को चित्रकार की दृष्टि से देखता है, न चिन्तनशील दार्शनिक की दृष्टि से, न कलाकार की रूपमज्जामय दृष्टि से। परन्तु उसके भावजगत में जो सबसे महत्तम वस्तु है, वह है उसकी धार्मिकता। उसके भावान्दोलन इतने विशद और सर्वग्राही हैं कि ऐसा जान पड़ता है कि उनमें उसका सारा व्यक्तित्व ही समा गया है। हापकिन्स के व्यक्तित्व का एक नीतिवादी अंग भी है जो उसे देह के आकर्षण के प्रति विरक्त बनाए रखता है। वास्तव में कलाकार और नीतिवादी का द्वन्द्व ही हापकिन्स के व्यक्तित्व का द्वन्द्व है और यह द्वन्द्व उसके काव्य में पूर्णतया उभर आया है।

हापकिन्स के काव्य की विशेषताएँ हैं

(१) वह ऐसी लय का उपयोग करता है जो प्रचलित काव्य और छन्द-शास्त्र के विरुद्ध पड़ती है। वास्तव में आधुनिक अंग्रेजी काव्य में लोकगीत और प्राचीन वीर-गीतिकाव्य (बेलेड पोइट्री) की लयों का प्रयोग पहली बार इसी कवि में दिखलाई देता है। अंग्रेजी का छन्दशास्त्र स्वराघात पर आधारित है, परन्तु यह कदाचित् यूरोपीय काव्य का प्रभाव है जो चासर के समय से बराबर दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हापकिन्स ने ऐंग्लो-सेक्सन जाति की काव्य-पद्धति का पुनरुत्थान किया। अपने काव्य की लय-पद्धति को हापकिंस ने 'स्प्रिंग

रिद्म' कहा है। इसे हम गणात्मक और अक्षरात्मक गीत-पद्धति कह सकते हैं।

(२) हापकिन्स की दूसरी विशेषता यह है कि वह शब्दों का प्रयोग इतनी विशिष्टता और स्वच्छन्दता से करता है कि प्रथम दृष्टि में शब्दों के व्याकरण-सम्बन्ध स्थापित करना कठिन हो जाता है। वास्तव में हापकिन्स के ये दोनों ही प्रयोग उसे नये काव्य का अग्रगण्य नेता बना देते हैं क्योंकि आधुनिक काव्य परम्परागत लयों-छन्दों और रूढ़िगत काव्यभाषा से सम्पूर्ण रूप से विच्छिन्न हो जाता है। भाषा-शैली के नवीन और भावव्यंजक प्रयोगों में हापकिन्स की तुलना पूर्ववर्तियों में केवल शेक्सपिअर से की जा सकती है।

परन्तु हापकिन्स के प्रकाश में आने (१९१९) से बहुत पहले 'इमेजिज़म' (१९०८-१९१७) नाम का एक साहित्यिक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। इस आन्दोलन को एक ओर पो के माध्यम से कॉलेरिज से जोड़ा जा सकता है, और दूसरी ओर फ्रांस के प्रतीकवाद आन्दोलन से। इस प्रकार इसे हम अंग्रेजी रोमांटिसिज़म की ही पुनरावृत्ति कह सकते हैं। विक्टोरियन और जार्जियन साहित्य की अतिनैतिक, इतिवृत्तात्मक और तथ्यवादी साहित्यिक प्रवृत्तियों के विरोध में यह नया आन्दोलन सामने आया था। इमेजिज़म स्कूल के कवियों में अमेरिकी कवि वाल्टर डि ला मेर और फ्रेंच कवि जुले लफार्गे का प्रभाव प्रमुख है। प्रतीकवाद में ध्वनि या व्यंजना की प्रधानता थी। मेलार्मे ने स्पष्ट कहा था : "मेरा लक्ष्य नाजुक छाया-प्रकाश उभार कर वस्तु का भावनिर्माण है। उसका नाम न लेकर, सीधे अभिधात्मक शब्दों को छोड़ कर दुर्ग्राह्य शब्दों में उसे बाँधना है।" यह व्यंजना संगीत का प्रमुख अंग था और इसी से प्रतीकवादी कवि काव्य को संगीत के अत्यन्त निकट लाने में प्रयत्नशील थे। कॉलेरिज ने भी काव्य में नादात्मक ध्वन्यात्मकता को महत्त्वपूर्ण बतलाया था और पो का कहना था कि काव्य में संगीत जैसे आरोह-अवरोह और नाद-तत्त्व ही नहीं होने चाहिएँ, संगीत में जैसी निर्वैयक्तिकता और रहस्यमयता रहती है, वह भी होनी चाहिए। काव्य 'कहे नहीं', अर्थ नहीं दे, 'बोध' दे। कवि के पास संगीतज्ञ जैसे स्वर नहीं हैं, परन्तु उनके स्थान पर भाव और स्पन्दन है। स्वरों की भाँति ये भी निर्वैयक्तिक और सार्वभौमिक तत्व हैं। यह सम्भव है कि केवल कुछ भाव-संवेदनों से अन्य बहुत से भाव-संवेदनों की व्यंजना की जा सके, विशेष रूप से जब उन भावसंवेदनों का कोई गहनतम पारस्परिक सम्बन्ध हो।

इमेजिज़म (चित्रवाद) में कवि इतनी दूर नहीं जाता। वह अपने अन्तर्जगत की ऐसी सूक्ष्म भावनाओं का उद्बोधन (एवोकेशन) करता है जो तथ्य-कथन में जकड़ी नहीं जा सकती। न वह आधुनिक जगत के घात-प्रतिघातों और क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का उद्घाटन करना चाहता है। वह जार्जियन कवि की इतिवृत्तात्मकता के विपरीत काव्य को सरल, सुष्ठु और सूक्ष्म बनाना चाहता है। फलतः वह अपनी काव्यगत संवेदना को किसी निश्चित स्थूल चित्र (इमेज) में बाँध देने का प्रयत्न करता है। यह स्पष्ट है कि इस श्रेणी का कवि भी अपने भाव-संवेदन को सूक्ष्म रूप देगा। उसके पास भी प्रतीकवादी कवि के सामरस्य (एसोसिएशन) और व्यंजना (सजेस्चन) के दो तत्व हैं। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक अर्थ देना कवि

का लक्ष्य था।

इस में संदेह नहीं कि इमेजिस्ट कवियों ने अंग्रेजी काव्यधारा को संकीर्णता के गह्वर से निकाला और यूरोप की अत्यन्त सशक्त प्रतीकवादी धारा से उसका सम्बन्ध स्थापित किया। परन्तु धीरे-धीरे कवियों को यह ज्ञान हुआ कि वे स्वयं रूढ़ियों में बँध गए हैं और उनकी प्रतिवादी मान्यताएँ काव्यविकास में बाधक हैं। फलस्वरूप कुछ साहसी कवि प्रयोगों के नए क्षेत्र में उतरे। युग बदल गया था। नए युग के वैज्ञानिक विकास और तेजी से बदलते हुए नागरिक जीवन को काव्य क्षेत्र से बहिष्कृत करना असम्भव था। काव्य में वे नये संस्कार आने अनिवार्य थे जो जीवन के अभिन्न अंग बन गए थे। काव्यभाषा की विशिष्टता का जो आग्रह रोमांटिक, विक्टोरियन और जार्जियन युग के कवियों का था, वह समाप्त हो रहा था। नये कवि ने आधुनिक जीवन के सभी आनुषंगिक अंगों को स्वीकार कर लिया और इन्हीं तत्वों को लेकर काव्य का निर्माण करना चाहा। उनकी कविता में नागरिक कल्पना-चित्रों और मशीनों-राजनीतिज्ञों-कर्मचरों की भाषा का प्रवेश हुआ और ज्ञान विज्ञान के नये क्षेत्रों से उसने अपने उपमान बटोरे। इस नवीनतम धारा का पहला पुष्प इलियट की रचना 'लव साग आव जे० एल्फ्रेड प्रुफ्राक' (१९१४) है। आलोचकों का कहना है कि इलियट की इस रचना ने आधुनिक काव्य-जगत में महान् विस्फोट का कार्य किया। इस रचना की प्रारम्भिक पंक्तियाँ ही नयी काव्य चेतना की सूचक हैं

Let us go then, you and I,
When the evening is spread out against the sky
Like a patient etherised upon a table ,
Let us go through certain half deserted streets,
The muttering retreats
Of restless nights in one night cheap hotels
And saw dust restaurants with oyster-shells
Streets that follow like a tedious argument
Of insidious intent
To lead you to an overwhelming question
Oh, so not ask, what is it ?
Let us go and make our visit

इस रचना के प्रकाशन के दो वर्ष बाद ही प्रथम महायुद्ध का आरम्भ हुआ और अगले चार वर्षों (१९१४-१९१८) में जिस काव्य का निर्माण हुआ, वह नये काव्य की परम्परा में नहीं आता। वास्तव में नया काव्य जन भाषा और प्रयोगों का काव्य था और युद्ध काव्य में विक्टोरियन आत्मविश्वास, नैतिकता, और ललकार की प्रधानता थी। युद्ध काव्य की अपनी कोटि है, और आधुनिक यूरोपीय काव्य का यह एक प्रमुख अंग है, परन्तु नये काव्य के अविश्वास और संदेह के स्वरों के लिए हमें युद्धोत्तर काल की कविता को सामने रखना होगा क्योंकि उसी में युग का स्वप्न-भंग मुखरित है। इस असार्थकता और संदेह को सबसे चेतन वाणी टी० एस० इलियट के काव्य में मिली। इलियट का 'द वेस्ट लैण्ड' (१९२२) युद्धोत्तर यूरोप के आभ्यंतर ध्वंस

का प्रतीक बन गया। युद्धोत्तर काव्य में हमें यीट्स 'द लेक ऑव इनिसफ्री' जैसी दो-चार रचनाएँ भी मिल जाती हैं जिनमें कवि सामयिक जीवन की कटुता से भाग कर एक काल्पनिक स्वर्ग में आश्रय ग्रहण करता है, परन्तु उसमें युद्धोत्तर जीवन की विश्रांति और तज्जन्य स्वप्न-भंग ही अधिक है।

वास्तव में स्वप्न-भंग से कहीं अधिक बलवती भावना विशृंखलता की थी। मनुष्य के विश्वासों के महल ढह गए थे। यह प्रक्रिया १६१२ के लगभग ही शुरू हो गई थी, परन्तु युद्ध में जातीय गौरव की भावना के विकास और राष्ट्रीय आत्मविश्वास के पुनर्जन्म के कारण व्यक्तिगत जीवन में थोड़ी स्थिरता आ गई थी। महायुद्ध के बाद यह स्थिरता जाती रही और अविश्वास तथा अनास्था की ओर प्रत्यावर्त्तन आरम्भ हुआ। यह विचारधारा इतनी तीव्रता लेकर आई कि उसके पथ में जो पड़ा, बह गया। आशा, विश्वास, प्रेम और सौहार्द्य का संसार ही विनष्ट हो गया। उस संसार के देवता सिंहासनच्युत हुए और उनके ध्वज भूलुण्ठित। उनके स्थान पर नये विश्वासों और नयी आशाओं की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी और चारों ओर 'क्या', 'क्यों', और 'कैसे' की जिज्ञासा, संदेह और निराशा की वाणी गूँजने लगी। जीवन की भाँति काव्य क्षेत्र में भी उच्छृखलता और अराजकता का राज्य हो गया। युद्धक्षेत्र में कवियों ने एक नये ढंग की स्वतंत्रता सीख ली थी। वे जीवन से खेल कर चुके थे। केवल मात्र आत्मविश्वास का संबल लेकर निकल पड़ना उनका स्वभाव बन गया था।

काव्यदृष्टि में महान् परिवर्त्तन स्पष्ट था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में प्रतीकवाद के रूप में जो आन्दोलन काव्यक्षेत्र मे उठ खड़ा हुआ था, उसका मूल सिद्धान्त यह था कि कला अभिव्यक्ति है। परन्तु लगभग उसी समय एक नयी विचारधारा भी उठ खड़ी हुई कि कला पुनर्निर्माण या अभिव्यक्ति नहीं, निवेदन है। धीरे-धीरे यह मान्यता बल प्राप्त करती गई और आज काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे अप्रतिभ रूप से इसे अधिकार प्राप्त है। प्राचीन दृष्टिकोण के समर्थक कला का महत्त्व इसमे समझते थे कि उसमें मानव-जीवन और मानव-प्रकृति को सच्चाई के साथ वाणी मिले। कलाकार के दर्पण में हम अपना ही मुख देखना चाहते थे, अथवा बाहरी जगत का ऐसा बिंब जिसे हम पहचान सकें। परन्तु आधुनिकों का कहना है कि यह दृष्टिकोण भ्रामक है। इसमें उन्हें कवि की प्रकृतिगत मौलिकता के लिए कोई भी स्थान नही मिलता। उनका कहना है कि कलाकार प्रत्येक वस्तु को अपने विशिष्ट और व्यक्तिगत दृष्टिकोण से देखता है। फलस्वरूप वह सामान्य जन से कहीं अधिक स्पष्ट और दूर तक देखता है। कला उस विशिष्ट अन्तर्दृष्टि का निवेदन-मात्र है। कलाकार का महत्त्व यही है कि उसका पाठक या श्रोता भी उसके दृष्टिकोण को आत्मानुभूत कर सके। इस दृष्टि से देखने से आत्माभिव्यंजना उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाती जितना निवेदन। एक हद तक यह मान्यता गलत भी नही है यद्यपि कला को केवल संवेदन तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। उसके कुछ अन्य उपकरण भी हैं।

नये कवियों ने अपने को काव्य-परम्परा में स्थान देना चाहा तो उन्होंने नये काव्य की प्रवृत्तियों को डाने और ड्राइडन में देखना आरम्भ किया। इन प्राचीन

कवियों के काव्य में भी कला-जागरूकता और निवेदन महत्त्वपूर्ण थे। वे भी नये कवि की भाँति निर्वैयक्तिक थे। इलियट ने पहली बार नये काव्य को परम्परा की भूमि दी। अपने एक अत्यन्त प्रसिद्ध निबन्ध में उसने स्पष्ट रूप से कहा है "किसी भी कवि अथवा कलाकार की कला केवल मात्र अपने बल पर अर्थमती नहीं होती। उसकी विशिष्टता, उसकी मूल्यता पूर्ववर्ती कवियों और कलाकारों को लेकर सापेक्ष है। केवल उसे ही लेकर उसका मूल्यनिर्धारण असम्भव बात है। हमें उसे अनिवार्यतः पिछले युगों के मानदण्डों पर आँकना होगा। यह नहीं कि हम यह देखें कि वह परलोकगत कवियों जैसा है, या उनसे अच्छा-बुरा है। हमें उसे पिछले समीक्षकों के सिद्धान्तों पर तोलना नहीं है। यह ऐसा मूल्य है, ऐसी समतौल है जिसमें दोनों एक-दूसरे की तुला पर तुलते हैं। किसी पुरातन कृति से समकक्षता प्राप्त करना वास्तव में अक्षमता का चिह्न है। वह किसी भी अर्थ में समकक्षता प्राप्त करना नहीं है। कृति यदि नयी नहीं है तो वह कला की चीज भी नहीं होगी।" (ट्रडिशनल ऐंड इंडिविजुअल टैलेण्ट सेलेक्टेड ऐसेज—टी० एस० इलियट) इलियट के इस सिद्धान्त को लेकर उन्हें परम्परावादी कहा जाता है। यह स्पष्ट है कि इलियट ने काव्यक्षेत्र में बढ़ती हुई उच्छृंखलता को रोका और अराजकता को काव्य मानने वाले नयी पीढ़ी के कवियों के सामने परम्परा, संयम और साधना का नया आदर्श उपस्थित किया। कला को निवेदन मात्र मानने से कवि का अहं इतना बढ़ गया था कि वह समझता था कि जब वह अपने मन के अनुसार अपनी अनुभूति का प्रकाशन कर देता था तो बस उसका कर्त्तव्य पूरा हो जाता था। फलतः युद्धोत्तर काव्य का एक बहुत बड़ा अंश अराजक है। परम्परा के उत्तरदायित्व से मुक्त कवियों ने अपने ही काव्य को मानदण्ड मान लिया और काव्यभूमि प्रयोगों से भर गई। प्रयोग, प्रयोग, अनवरत प्रयोग। नयेपन की इस अदम्य आकांक्षा ने विडम्बना-काव्य ही उपस्थित किया, श्रेष्ठ काव्य हमें नहीं मिला। परन्तु नये शब्द, नये रूप, नये लय-छन्द के सहस्रश विधान और मिश्रण इस काव्य ने दिए। गद्य-पद्य की सीमाएँ ही टूट गईं। काव्यक्षेत्र से विरामचिह्न बहिष्कृत होने लगे और कविता विचित्र आकृतियों, चित्रों और रूपरेखाओं का आश्चर्य बन गई। छपे हुए पृष्ठ के लिए ही काव्य की सृष्टि होने लगी। प्रयोगों की इस बाढ़ में अर्थ, संकेत, प्रतीक, लय, छन्द, अभिजात शब्द सब बह गए। इसमें संदेह नहीं कि ये प्रयोग आज भी हमें आश्चर्यजनक और आकर्षक लग सकते हैं, कुछ सीमा तक उत्तेजक बन सकते हैं, परन्तु नये काव्य को इस अराजकता से शीघ्र ही उभरना पड़ा। संयम और ज्ञान की वाणी हमें पहले-पहल इलियट में सुनाई पड़ी।

(६)

इलियट का समीक्षक और कवि रूप बहुत कुछ भिन्न है। समीक्षा के क्षेत्र में वे आरनॉल्ड की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं और उनके दृष्टिकोण से परम्परा प्रयोग से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है, परन्तु काव्य के क्षेत्र में इलियट अदम्य साहसी और प्रयोगी हैं। इस दिशा में वे पूर्णतः मौलिक हैं। 'द लव-सांग आव जे० एल्फ्रेड प्रूफ्राक' (१९१२) में इलियट ने पहली बार आधुनिक काव्य को नयी काव्यभूमि

दी। सामान्य की ओर संक्रमण आधुनिक युग के यथार्थवादी दृष्टिकोण की विशेषता है और इस रचना में हम एक अमहत्त्वपूर्ण सामान्य व्यक्ति के मन में उठे हुए संघर्षों और भावान्दोलनों की एक अत्यन्त विशद और सूक्ष्म झाँकी देखते हैं। इस कविता को हम अंग्रेजी की पहली मनोवैज्ञानिक कविता कह सकते है। इस रचना में बाह्य चित्रण महत्त्वपूर्ण नहीं। नायक के मन का अंतर्विस्फोट ही महत्त्वपूर्ण है। एक ही मस्तिष्क में विभिन्न विचारधाराओं और किंकर्त्तव्यों का कैसा भावान्दोलन उठा करता है, इसका आकर्षक चित्रण यहाँ हमें मिलता है। दूसरी कविता 'द वेस्ट लेण्ड' (१९२२) में कवि ने व्यक्ति के मन को छोड़कर सामूहिक मन की अभिव्यक्ति करना चाही है। इस कविता का नायक यूरोप का युद्धोत्तर समाज है। पहली कविता से इस नयी कविता का दृष्टिकोण अधिक विशद् है, अधिक परिपक्व और विकसित कला का उपयोग कवि करता है। कवि वर्णन या चित्रण की पुरानी शैली को प्रतीकवादियों द्वारा ग्रहीत नयी व्यंजनात्मक शैली से मिला कर उपयोग में लाता है। युद्धोत्तर काल की व्यर्थता और निराशा की ऐन्द्रजालिक छटा हमें इस काव्य में मिलती है और युग के भावात्मक, बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक विशृंखलन का अवसादजनक चित्र उभर आता है। कविता की केवल ४३० पंक्तियों में इलियट ने समस्त यूरोपीय युद्धोत्तर भाव-जगत का आलोडन-विलोड़न अंकित कर दिया है। इलियट की इस रचना का अपना अलग सौन्दर्य है। उसकी विरूपात्मकता ही उसका सौन्दर्य है। यह सौन्दर्य विक्टोरियन और जार्जियन काव्य के सौन्दर्य से भिन्न है। कवि ने ग्रीक और लेटिन काव्यों, पुराण-गाथाओं, जनश्रुतियों और प्रागैतिहासिक रीति-रिवाजों की सारी दुनिया से पग-पग पर सहारा लिया है और नये भाव-संघात को पुराने जाने-पहचाने मूल्यों द्वारा उभारते हुए उन मूल्यों को भी नये अर्थ दिए हैं। यह कहा जा सकता है कि अध्ययनप्रसूत रूपकों और संदर्भों के कारण यह काव्य बौद्धिक बन कर विशिष्ट वर्गमात्र तक सीमित रह गया है, परन्तु कवि का यह आग्रह भी नहीं है कि वह सब के लिए लिख रहा है। कवि का अपना संसार है, परन्तु यह भी निश्चय है कि वह अधिक-से-अधिक पाठकों तक पहुँचना चाहता है। इलियट के काव्य का काठिन्य वस्तुतः उसका भाव-वैशिष्ट्य है। उसके प्रयोग भाव-गोपन के लिए नहीं, भाव-प्रकाशन के लिए ही हैं और धीरे-धीरे उसका पाठक-समाज निवेदन की कठिनाइयाँ पार कर व्यापक होता गया है। इसमें संदेह नहीं कि इलियट का 'द वेस्ट लैण्ड' सार्वयुगीन काव्य नहीं है, उसमें बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक की मनःस्थिति ही उभर सकी है, पर उसकी सीमाओं को स्वीकार करना उसको छोटा करना नहीं है। नयी काव्यधारा के विवेचक को इस रचना को अग्रस्तम्भ मान कर ही चलना होगा। युग-मन का जैसा चित्र इस काव्य में है, वैसा सारे आधुनिक काव्य में नहीं मिलेगा। उसमें सम्पूर्ण युग-चेतना सन्निहित है। उसमें घटनाओं का विवरण नहीं है, युद्धोत्तर जन-मन की असार्थकता और कुंठा निपिबद्ध है। इलियट की इस रचना का परवर्त्ती काव्य पर बड़ा व्यापक और गम्भीर प्रभाव पड़ा है। आधुनिक जीवन की उलझनों को विवरणात्मक ढंग से उपस्थित करना असम्भव बात है। उसके लिए ऐसी मनोवैज्ञानिक काव्यशैली के आविष्कार की आवश्यकता थी जो अन्तर्मन को

पुनर्जीवित कर सके। इलियट की नाटकीय, मनोविश्लेषणप्रधान, सतर्क, कला-सापेक्ष शैली नागरिक संस्कारों के उद्घाटन के लिए नये उपकरण देने में समर्थ रही है। एक तरह से इलियट ने एजरा पॉउण्ड और इमेजिज्म (चित्रवादी) स्कूल को आत्मसात कर अपने काव्य-जगत में प्रवेश किया है और इन स्रोतों का पूरा उपयोग उसके काव्य में हुआ है। इलियट पर पॉउण्ड का प्रभाव इसी से स्पष्ट है कि उसने 'द वेस्ट लैण्ड' को पॉउण्ड को ही इन शब्दों में समर्पित किया है

'कुशल कलाकार एजरा पाउण्ड को'

हम यह स्थापित कर चुके हैं कि अंग्रेजी काव्य की नव्यतम धारा पर फ्रांसीसी प्रतीकवादियों का प्रभाव रहा है और रूढ़िवादी तथा परम्परागत विचारधाराओं और काव्य परिपाटियों से पुष्ट होने के कारण यह प्रभाव काफी दूर तक महत्वपूर्ण रहा है। वास्तव में पॉउण्ड और इलियट नयी काव्यधारा के आदि कवि हैं। पॉउण्ड की एक रचना 'ह्यू सेलविन मावरले' में हमें इलियट के 'द वेस्ट लैण्ड' का बीज मिल जाता है। इस लम्बी रचना में हम १८६० से १९१८ तक के विस्तृत काल का चित्र एक कल्पित माध्यम से पाते हैं। एक समस्त युग की कुण्ठा और आत्मप्रताड़ना इस रचना में झलक उठी है। तृतीय पुरुष में नाटकीय ढंग से युग चित्रण की एक नयी शैली ही इलियट और परवर्ती कवियों में बाद में लोकप्रिय हुई है।

नव्यतम काव्यधारा के प्रवर्त्तकों में हमें विलियम बटलर यीट्स (१८६८-१९४५) का भी नाम लेना आवश्यक है। परन्तु यीट्स किसी काव्यधारा या काव्य-शैली के उन्नायक नहीं हैं, यद्यपि उन्होंने अनेक काव्यधाराओं और काव्यशैलियों को प्रभावित किया है। अनेक महत्वपूर्ण आधुनिक कवियों ने यीट्स के प्रभाव को स्वीकार किया है। स्वयं यीट्स में रवीन्द्रनाथ की भाँति अनेक काव्य व्यक्तित्व सन्निहित हैं। १८६० ई० के लगभग नवयुवक यीट्स की पेरिस में मेलार्मे से भेंट हुई और इसमें संदेह नहीं कि यीट्स के प्रारम्भिक काव्य में प्रतीकवाद का बहुत कुछ अंश है यद्यपि प्रतीकवाद के अनेक तत्त्व कवि की बहुत पहले की रचनाओं में भी मिल जाते हैं। बाद में आइरिश लोकगाथा और पुराण-कथा के तत्वों ने यीट्स के काव्य को एक अलग विशिष्टता दे दी और यीट्स आइरलैण्ड के राष्ट्रीय पुनरुत्थान के अग्रदूत बन गए। कल्पना और रोमांस के एक नये संसार का उन्होंने निर्माण किया और उनकी इस समय की मनःस्थिति को पलायनवाद ही कहा जा सकता है। परन्तु १९१० तक यीट्स की मनःस्थिति में महान् परिवर्तन हो गया था और अब उनके काव्य में सौंदर्य ही नहीं, शक्ति के भी दर्शन होते हैं। कालातिक जगत के भाव-विलास से ऊपर उठ कर कवि यथार्थ जीवन में ही सौन्दर्य ढूँढ़ने लगा है। कवि की प्रौढ़ कृतियों में हमें उसकी इस कोटि की कला का सर्वोच्च विकास दिखलाई देता है। उदाहरण के लिए, हम 'द टावर' नाम की रचना को ले सकते हैं। इस रचना में कलात्मक सौन्दर्य-सृष्टि की कोई जागरूक चेष्टा हमें जान नहीं पड़ती। कवि की सत्यान्वेषी अन्तर्दृष्टि और उसकी ईमानदारी ही हमें प्रभावित करने में यथेष्ट है। संयम और मिताचार इस काव्य की सबसे बड़ी शक्तियाँ हैं। दृश्यमान जगत की अवास्तविकता के पीछे की सच्चाई को कवि ने साहस से पकड़ा

है। इस परवर्ती काव्य में निर्वैयक्तिक की भावना स्पष्ट है जो अधुनातम काव्य की विशेषता है। रोमांटिक काव्य ने जीवन से सम्पर्क तोड़ दिया था, नये काव्य ने वैज्ञानिकता को आश्रय देकर, निर्वैयक्तिक बनकर, जीवन के सत्य को अपनाया। रोमांटिकों के इन्द्रधनुषी कल्पना-जगत के प्रति यह नये काव्य का विद्रोह था। यीट्स के इस परवर्ती काव्य में हमें स्वप्नभंग का काव्य ही अधिक मिलता है। परन्तु यह समस्त आधुनिक काव्य की विशेषता है। सतत प्रवाह और परिवर्त्तन के इस युग में जीवन का स्थायीपन नष्ट हो चुका है, पुरातन ध्वज गिर गए हैं और नए अभी खुन नहीं पाए हैं। ऐसे अनास्था के युग में कवि की वाणी में अवसाद और कुंठा की प्रधानता होना अनिवार्य है। वह एकदम नए, सब प्रकार से अरक्षित और अचिह्नित समुद्रों में संतरण कर रहा है।

(७)

नये कवियों में से इलियट के बाद जिन्हें सबसे अधिक ख्याति प्राप्त हुई, वे सिटवेल-परिवार के कवि थे। मिस एडिथ सिटवेल और उसके दो भाई सेचेरेवेल सिटवेल और आवसर्ट सिटवेल इस कवि परिवार के सदस्य हैं। 'द आक्सफोर्ड बुक आव मॉडर्न वर्स' नाम के संचयन में यीट्स ने सेचेवेरेल सिटवेल के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से लिखा है कि कालान्तर में यह कवि अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करेगा। इस कवि ने हापकिन्स के 'स्प्रिंग रिद्म' का बड़ा सुन्दर और व्यापक उपयोग किया है और उसके काव्य में हमें व्यक्तिगत कल्पना-चित्रों का चमत्कार दिखलाई देता है। एडिथ में भावना कम है, कला-जागरूकता अधिक है। उसकी पंक्तियाँ कठिन और गद्यात्मक हैं और भाषा-शैली भी जटिल है। यद्यपि मूर्त्तिविधान का एक बड़ा सुन्दर और ऐश्वर्यशाली रूप उसके काव्य में दिखलाई देता है। एडिथ की प्रारम्भिक रचनाओं में नारी के विविध रूप हमें मिलते हैं जिनमें करुणा और कोमलता का सर्वोच्च विकास है। परवर्त्ती काव्य में कारुण्य का और भी प्रसार दिखलाई देता है और अधिकांश रचनाएँ दुःखान्त हैं। कवियित्री की विशेषता है संगीत और प्रतिमान। उसमें इलियट जैसी गम्भीर दार्शनिकता नहीं है फिर भी काव्यात्मक संवेदनाओं के प्राचुर्य के कारण उसका काव्य उत्कृष्ट कोटि का काव्य है।

अन्य आधुनिक कवियों में वाल्टर डि ला मेर, डब्ल्यू० एच० डेविस, ए० ई० हाउसमेन, आडेन, स्पेण्डर, डे लेविस आदि का नाम ले सकते हैं। डि ला मेर के काव्य में परोक्ष और बालक के कल्पना-जगत का सम्पूर्ण ऐश्वर्य हमें मिलता है। जीवन की दैनन्दिन वास्तविकता से दूर एक विचित्र छायालोक की उसने सृष्टि की है। इसके विपरीत आडेन अपने चारों ओर के संसार तक ही सीमित है, परन्तु उसके काव्य में प्रतिदिन का अनुभव कुछ अधिक विशिष्ट, बहुमूल्य और गम्भीर बनकर हमारे सामने आता है। इन दोनों कवियों की भाषा बीसवीं शती की बहुमुखी और गूढ़ भंगिमायुक्त भाषा है। सामयिक जीवन के प्रत्येक अनुभव को ये कवि भाषा में बाँधते हैं। कोई भी अनुभव उनके लिए हीन और असार नहीं है। परन्तु फिर भी ये कवि आत्मनिष्ठ और व्यक्तिमुखी हैं। उनमें बीसवीं

शताब्दी के अन्य कवियो जैसा प्रयोग का बल नहीं है। ए० ई० हाउसमेन के काव्य मे हमे ऐसी ही निर्विशेषता मिलती है। वास्तव मे इन तीनो को आधुनिक काव्य का प्रतिनिधित्व नही दिया जा सकता। नूतनतम काव्य का प्रतिनिधित्व आडेन, स्पेण्डर और डे लेविस के काव्य मे मिलता है। ये कवि काव्य-विषय अथवा काव्य पद्धति में सौन्दर्य की गवेषणा नहीं करते। उनका विश्वास है कि आधुनिक कवि की सबसे बडी जिम्मेवारी सामयिक ससार के प्रति है। उसे अपने चारों ओर के ससार मे से खोज-खोज कर सुन्दर दृश्य नही दिखाना है, उसे वस्तुगत सत्य को सम्पूर्णता मे देना है। उनके लिए कला सत्य का निवेदन मात्र अर्थात् केवल तथ्य-गत सत्य ही नही है, उससे आगे बढ़कर ये कल्पनाजन्य सत्य तक जाते हैं। इन तीनो कवियों को हम आधुनिक काव्य की त्रिमूर्ति न कहकर त्रिधारा कह सकते हैं क्योंकि मूल विचारो मे समानता होते हुए भी वे काव्य-प्रक्रिया मे असमान और विभिन्न हैं। इन कवियो ने उपमानो, रूपकों और प्रतीकों के रूप मे आधुनिक वैज्ञानिक-भौतिक जगत का बडा व्यापक उपयोग किया है और काव्य विषय एव भाषा का अपरिसीम विस्तार हमे इनके काव्य मे मिलता है।

(८)

१६३० तक के काव्य मे हमे सामाजिक अथवा राजनैतिक चेतना नही मिलती। कवि विशुद्ध काव्य के समर्थक जान पडते हैं। वास्तव मे इलियट के काव्य की सबसे बडी लाघा ही यह है कि वह सामाजिक क्रान्ति के प्रति तटस्थ है और उसके साहित्य मे एक प्रकार की पलायन वृत्ति है। इलियट ने स्वय अपने लेखो मे कहा है कि कवि का समाज के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं है। "द मेन आव लेटर्स एण्ड द फ्यूचर आव यूरोप' निबन्ध मे उसने स्पष्ट रूप से यह मतव्य स्पष्ट किया है कि साहित्यकार का केवल एकमात्र उत्तरदायित्व है, कृति के प्रति। अवकाश के समय मे ही वह समाज के प्रति उत्तरदायी होता है। यह स्पष्ट है कि इलियट का यह दृष्टिकोण फ्रांस के इलुअर्ड और अरागा जैसे लेखको से भिन्न है जो काव्य के समाजोन्मुख कर्तव्य के कट्टर समर्थक हैं। १६३० के बाद जो कवि हमारे सामने आते हैं उनके दो वर्ग किये जा सकते हैं। पहले वर्ग के कवि आडेन, डे लेविस, मेक्नीस, स्पेण्डर, लेहमान आदि हैं जिनमे आडेन प्रमुख है। इन कवियो मे हमे सामाजिक या राजनीतिक जागरूकता भी मिलती है यद्यपि वे सामाजिक और राजनीतिक द्वद्वो मे अपने कवि-व्यक्तित्व को एकदम नहीं खो पाते। इन कवियो मे 'आधुनिक' बनने का प्रयास स्पष्ट है और इसी से इन्होने मशीनो, अस्पतालो, कटरों और अपने चारो ओर की सामाजिक स्थिति से प्रतिमानो को इकट्ठा किया है। वे उस जगत से पूर्ण रूप से आश्वस्त हैं जिनमें उनका जन्म हुआ है। वे अपने युग की रोगग्रस्त सामूहिक चेतना से भी पूर्ण रूप से परिचित हैं और मनोविज्ञान तथा मार्क्सवादी राजनीति मे उन्होने अपने युग की समस्याओं का समाधान प्राप्त कर लिया है। इन कवियों मे हमे व्यक्तिगत भावोद्रेक भी पर्याप्त मात्रा मे मिलता है, परन्तु वे आधुनिक जीवन की विषमताओं से सत्रस्त रहने के लिए व्यक्तिनिष्ठ नहीं बने रह पाते। यौन के

प्रति उनका आकर्षण अपरिसीम है, परन्तु सम्भवतः ऐन्द्रियता की मात्रा अधिक नहीं है। इसका कारण यह है कि उनका दृष्टिकोण बराबर बौद्धिक है। उनके प्रति यह लांछा भी उपस्थित की जा सकती है कि वे अपने व्यक्तित्वों से चिपटे रहने के कारण मानवता के व्यापक प्रश्नों में अपने को डुबो नहीं पाते। उनका काव्य बहुत दूर-तक कम्यूनिस्ट भावनाओं से प्रभावित है, परन्तु सच तो यह है कि हमें उसमें एक द्वैध व्यक्तित्व ही मिलता है जो वैयक्तिक विकास और सामाजिक चेतना के उभय पक्षों में कोई सन्तुलन स्थापित नहीं कर सका है। आडेन को छोड़कर लगभग सभी अन्य किसी-न-किसी रूप में दूसरे महायुद्ध (१९३९-४६) के अवसर पर युद्धकार्य से सम्बन्धित रहे और उन्होंने युद्ध-काल की चेतना के अनेक स्पन्दनों को काव्य का रूप दिया। इन कवियों की राजनैतिक चेतना का सबसे जाग्रत रूप हमें स्पेन के गृह-युद्ध से सम्बन्धित रचनाओं में मिलता है जिसमें इन्होंने मानव-मुक्ति का महामन्त्र पढ़ा था। आडेन, मेकनीस और स्पेण्डर युद्ध के बीच मे स्पेन गए और रेल्फ़ फ़ाक्स, जूलियन बेल, क्रिस्टोफ़र काडवेल और जान कार्नफ़ोर्ड से अन्तर्राष्ट्रीय ब्रिगेड में भरती होकर युद्ध मे भाग लिया। फ़ाक्स, बेल, काडवेल और कार्नफ़ोर्ड इस युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए। यह जनयुद्ध का पहला मोर्चा था और इन साहित्यकारों के लिए प्रजातन्त्र में अमूल्य सिद्धान्तों की सुरक्षा का प्रश्न स्पेन के गृह-युद्ध से अभिन्न था।

इस वर्ग के कवियों में बौद्धिकता का आग्रह विशेष है और बाद के कवियों में, जिनमें विलियम एम्पसन प्रधान हैं, यह आग्रह बढ़ता गया है। एम्पसन ने जहाँ आधुनिक वैज्ञानिक चिन्ताधाराओं से काव्यभाषा को समृद्ध किया और उसे इतना 'कूट' बना दिया कि आधी दर्जन विज्ञान की शाखाओं का विशेषज्ञ हुए बिना उसके काव्य में पूर्ण रूप से रस लेना असम्भव है, वहाँ साथ ही वह भाषा का एक अत्यन्त व्यक्तिगत और विशिष्ट उपयोग करता है। आडेन के काव्य की तरलता के विपरीत एम्पसन के काव्य में विशेष प्रकार की कठोरता है। इस धारा के दूसरे कवि हैं माइकेल रावर्ट्स, रेनाल्ट बाटराल, कैथलीन रैन, जान लेह्मान, जूलियन बेल और चार्ल्स मेज। युद्ध के बीच में कवियों ने यूरोपीय और पूर्वीय काव्यों से परिचय प्राप्त किया है और उनसे प्रभाव ग्रहण किया है। यह हमें होल्डरलिन, रिल्के, फ्रेड मार्ना, रिम्बो, नेसवाल्ड, रिम्बो, लोर्का, अरागों और रूसी, चीनी तथा जापानी कवियों के अनुवादों से ज्ञात होता है। कुछ यूरोपीय कवियों ने भी अंग्रेज़ी में लिखा है जिनमें ग्रीक कवि दिमित्रियास केपेतनकीस प्रधान हैं।

दूसरा वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने काव्य के चेतन और बौद्धिक पक्ष के प्रति विद्रोह किया है और अचेतन, रहस्यमय, रोमांटिक, केल्टिक और शब्द-चेतना-मूलक काव्यप्रक्रियाओं को काव्य में उभारा है। इन कवियों में डाइलन टामस प्रमुख हैं। इन कवियों का काव्य अन्तश्चेतनाप्रधान, उपचेतनमूलक और सौन्दर्यनिष्ठ है एवं इनमें हमें प्रतीकवादी काव्यधारा का ही विकास मिलता है। इलियट ने जिस बौद्धिकता को जन्म दिया था उससे हट कर ये कवि काव्य को एक बार फिर नादात्मक और चित्रात्मक सौन्दर्य की ओर लिए जा रहे हैं। जार्ज बारकर और डेविड गेसकोन इस धारा के अन्य कवि हैं। वास्तव में इन कवियों को हम अंग्रेज़ी

के सुररियलिस्ट कवि कह सकते हैं।

पिछले दिनों के अंग्रेजी काव्य में हम कुछ नयी प्रवृत्तियों का विकास देखते हैं। इनमें से एक प्रवृत्ति बोलियों के काव्य की अथवा बोलियों से प्रभावित काव्य की है। इसे हम आंचलिक काव्य कह सकते हैं। वर्ग के अनेक तरुण कवियों ने स्थानीय शब्दों और मुहावरों के प्रयोग से अंग्रेजी काव्यभाषा में नवीनता लाने का प्रयत्न किया है, जैसे वर्नन वेटकिंस, के० डरे रिह्स और एलन लेविस ने। इसमें सन्देह नहीं कि काव्यभाषा को स्थानिक और प्रादेशिक रंग देने की प्रवृत्ति साहित्य के इतिहास में बराबर मिलती है परन्तु यह कहना कठिन है कि जनपदीय भाषाओं का योग काव्य-विकास के इतिहास में कुछ सहायक हो सकेगा या नहीं। फिर भी प्रयोग का अपना महत्त्व है ही।

दूसरी प्रवृत्ति है राजनैतिक और सामाजिक प्रश्नों से हटकर व्यक्तिगत भावों में सिमटने की। सम्भवत आज का कवि यह जान गया है कि वह अपनी अभिरुचि, आशाकांक्षा, मानवीयता और अपने व्यक्तित्व को किसी भी राजनैतिक-सामाजिक संगठन में विलीयमान नहीं कर सकेगा। फलत उसने राजनीति के सम्बन्ध में सोचना ही छोड दिया है और वह अपने ही भीतर केन्द्रित हो गया है। कहने को अनेक कवि कम्यूनिस्ट हैं, परन्तु उनकी वाममार्गीयता बहुत कुछ कुंठाजन्य और निरीह है। डाइलन टामस की रचना 'देनेथ आव मेरी लिमुड' (१६४१), लारी ली की रचना 'द सन माई मानुमेण्ट' (१६४४), एफ़० टी० प्रिंस का संचयन 'पोयम्स' (१६३८), हेनरी रीड की रचना 'ए मेप आव वेरोना (१६४६), टेरेन्स टिलर का संकलन 'सेलेक्टेड पोयम्स' (१६४१) और जो० एस० फ्रेजर की 'होम' आदि कई रचनाएँ काव्य की नव्यतम प्रवृत्तियों की सूचक हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ कवि है, जैसे निकोलस मूर, जो किन्हीं धाराओं से सम्बन्धित नहीं हैं। इन कवियों में प्रयोगों की ऐसी नयी दिशाएँ पाते हैं जो इलियट और आडेन के प्रभाव से मुक्त होने का प्रयत्न सूचित करती हैं।

: ३१ :

नया उपन्यास

(१)

हिन्दी में नए उपन्यास का आरम्भ जैनेन्द्र के 'परख' उपन्यास से माना जा सकता है जिसका प्रकाशन १९२९ में हुआ। परन्तु इस उपन्यास में जो शैलीगत और रूपगत विशेषताएं थी उनका जन्म यूरोप में बहुत पहले हो चुका था। इंगलैण्ड में नई प्रवृत्तियों का जन्म १९१० के लगभग हुआ परन्तु इन प्रवृत्तियों को स्थायीत्व तीसरे दशक के आरम्भ में प्राप्त हुआ। फ़ार्स्टर की रचना 'द पेसेज टु इण्डिया' (१९२४) में हमें नई कोटि की एक अत्यन्त प्रभावशाली औपन्यासिक रचना के दर्शन होते हैं और बाद के बीस वर्षों में यह रचना अंग्रेजी उपन्यासकला को बराबर प्रभावित करती रही है। इन नई प्रवृत्तियों का उदय फ्रांस और रूस के उपन्यासों में अन्तर्हित प्रवृत्तियों और प्रयोगों से हुआ और कालान्तर में उपन्यास उन्नीसवीं शती की परम्परा से विच्छिन्न हो गया। अमेरिका के उपन्यासकारों के कुछ नवीन प्रयोगों ने भी नई कला के संयोजन में सहायता पहुँचाई। जो हो, यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी उपन्यास ने 'परीक्षा-गुरु' से 'परख' तक ५० वर्षों में ही पश्चिमी उपन्यास के विकास की तीन शताब्दियाँ पार कर लीं और नये उपन्यास का उदय इंगलैण्ड की इस श्रेणी की रचनाओं के बहुत बाद नहीं हुआ। एक प्रकार से इस विकास को समकालीन भी कहा जा सकता है।

परम्परागत उपन्यासों में उपन्यासकार मूलतः एक मनोरंजक कथा को लेकर चलता था और साथ ही वह कुछ व्यक्तित्वों को भी उपस्थित करता था जिन्हें पाठक चरित्र की निश्चित और बँधी रेखाओं के भीतर से देखते थे। ये पात्र हमारे मित्रों और परिचितों से अभिन्न रहते थे और उनकी रूपरेखा प्रशस्त रहती थी। उनकी सज्जा, उनकी मुद्राओं, वार्त्ताओं और प्रवृत्तियों का विस्तारपूर्वक लेखाजोखा रहता था। यह अवश्य है कि प्रारम्भ से ही ऐसे उपन्यासकार भी थे जो कथा के साथ-साथ जीवन-दर्शन भी देते थे, अथवा कथा में सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध जिहाद करते थे। इसमें संदेह नहीं कि प्रारम्भ से ही उपन्यास समाज-सुधार का अस्त्र बन गया था और इस लक्ष्य को अंशतः सामने रखकर डिकेन्स जैसे कलाकारों ने बड़ी शक्तिशाली रचनाएँ उपस्थित की थीं। परन्तु ऐसे भी उपन्यासकार थे जो सामाजिक समस्याओं से आगे बढ़कर अपनी कथा द्वारा धार्मिक, नैतिक और राजनैतिक विचारों का भी स्पर्श करते थे। अंग्रेजी उपन्यासकारों में चार्ल्स किंग्सले का नाम इस क्षेत्र में लिया जा सकता है।

इगलैंड मे जिन लोगो ने नई उपन्यास कला के विकास मे सहायता पहुँचाई उनमे हेनरी जेम्स, हार्डी, आरनाल्ड बेनेट, गेल्सवर्दी, सामरसेट माम और कोनार्ड प्रमुख हैं। चेस्टरटन, किपलिंग और सैमुअल बटलर का भी नाम लिया जा सकता है, परन्तु इनकी सभी रचनाएँ एक प्रकार से युग-परिवर्तन की सूचना नहीं देतीं। इन लेखकों के 'द मेन हू वाज़ यस्टेंडे', 'किम' (१९०७) और 'द वे ऑफ आल फ्लेश' को हम क्रमश ले सकते हैं। इनके अतिरिक्त १९१० तक की रचनाओं मे ई० एम० फास्टर के चार उपन्यास हैं जिनमे अन्तिम 'होवर्डस एण्ड' (१९१०) है।

जिस मनोवैज्ञानिकता की नये उपन्यास मे दुहाई है वह उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे हेनरी जेम्स के उपन्यासो मे ही महत्त्व पाने लगी थी। इन नई रचनाओ मे लेखक अपने पाठको को साथ साथ लेकर चलता है और पाठको की काल्पनिक सहानुभूति ही पात्रो के भीतर प्रवेश पाने की एकमात्र कुजी है। हेनरी जेम्स ने ही पहले-पहल पात्रो के कार्य-कलापो को अप्रधानता दी और उनके अन्तजगत को विशेष महत्त्व दिया। जेम्स के उपन्यासो मे पात्रो की सख्या बहुत थोडी है और इन कुछ पात्रो के कृत्यों के पीछे तक और भावना का एक विस्तृत जगत् है जो कहानी को रोचक और महत्वपूर्ण बनाता है। इस से यह हानि हुई कि उपन्यास मनुष्य के व्यापक कार्यक्षेत्र को छोडकर चरित्र और प्रेरणा के विशेष क्षेत्र मे लग गया। इस आयोजना से उपन्यास बुद्धिमूलक बना और बीसवी शताब्दी के उपन्यासो मे भी यह प्रवृत्ति बराबर मिलती है। कथा-प्रेम पीछे पड गया और बौद्धिक ऊहापोह प्रधान हो गया। कुछ उपन्यासकारो ने, जैसे हार्डी ने, बुद्धि और मन के बीच मे सन्तुलन को बनाए रखा, परन्तु हार्डी के उपन्यासो मे वातावरण की प्रधानता मिलती है जो नये उपन्यास का नया तत्त्व है। एक नये ढग की विशेषता इस प्रकार की रचनाओ मे आ जाती है। हार्डी ने काव्योपमयता और कथा के कलात्मक सगठन के रूप मे दो नये तत्त्व भी नवीन उपन्यास-धारा को दिए। हेनरी जेम्स के बाद मनोवैज्ञानिकता का सबसे सुन्दर रूप हमे कोनार्ड मे मिलता है जिसकी रचनाओ मे हमे सवेदनामयी और आकर्षक कथाओ के साथ साथ पात्रो और प्रेरणाओ का मनोवैज्ञानिक निरूपण भी मिलता है और साथ ही जीवन का व्यापक एव विस्तृत समालोचन भी रहता है। वास्तव मे सूक्ष्म कलाकारिता और मनोवैज्ञानिक पकड के कारण कोनार्ड मे उस युग के अन्य उपन्यासकारो की अपेक्षा आधुनिकता सबसे अधिक है। इन क्षेत्रो मे हेनरी जेम्स से ही उसकी तुलना हो सकती है। जेम्स इस कला मे अप्रतिम हैं और बीसवीं शताब्दी के उपन्यास पर उनका प्रभाव बहुत गहरा है।

नये उपन्यास के सृजन और निर्माण मे बौद्धिक तत्त्वो का अधिक समावेश हुआ है। परम्परागत उपन्यास से इस दिशा मे वह नितान्त भिन्न है। उपन्यास मे कहानी और वस्तु (प्लाट) की आवश्यकता पर सदेह किया जाने लगा और हार्डी एव मेरिडिथ से एक कदम आगे बढकर उपन्यास को जीवन दर्शन का वाहन मान लिया गया। उद्देश्य या बीज प्लाट और पात्रो से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो गया। प्रत्येक नये उपन्यास के मूल मे केन्द्र मे एक विचार अवश्य प्रतिष्ठित मिलेगा। इस विचार को पल्लवित करने मे ही कथा और पात्रों की सार्थकता है। उपन्यास की

पृष्ठभूमि चुनते समय भी इसे ही ध्यान में रखा जाता है। चूंकि विचार पहले है, इसलिए उसके विकास के लिए प्रस्तुत कथा में असत्य का कुछ अंश होना अनिवार्य है। पुराने उपन्यासकार पहले पात्रों की कल्पना करते थे और फिर उनके अनुरूप कहानी गढ़ते थे, या पहले कथा की रूपरेखाएँ बनाते थे और तब उसे चारित्रिकता देते थे, या कथा और पात्रों को एक साथ एक ही सर्जन-प्रक्रिया में निर्मित करते थे। इससे उपन्यास में मांसलता रहती थी और कथा एवं पात्र विश्वसनीय रहते थे। नये उपन्यासों मे सिद्धान्त ही सब कुछ था और कल्पना पंगु थी। मनोविज्ञान की दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए उपस्थित किया गया और औपन्यासिक भूमि पर से मानवीय हलचल को हटा कर उसे सीमित कर दिया गया। यह कहा गया कि पात्रों की अधिक संख्या केन्द्रीय विचार को पल्लवित करने में बाधक होती है। फलतः पात्र गिने-चुने रखे गये। इसमें संदेह नहीं कि कलाकार उपन्यासकार के हाथ में ऐसे उपन्यास बड़े उत्प्रेरक हैं और धीरे-धीरे उनकी लोकप्रियता बढ़ती जाती है। अधिक नये उपन्यासों में जीवन की समस्त और विविध भूमियों के उपयोग और कथा-निर्माण में विभिन्न व्यक्तित्वों के घात-प्रतिघात के स्थान पर केवल जीवन के सम्बन्ध में बौद्धिक ऊहापोह रहता है। इस प्रकार नया उपन्यास विचार-केन्द्रित है और उसकी अभिव्यंजना आत्यंतिक रूप से मनोवैज्ञानिक है, यद्यपि धीरे-धीरे यह नई मनोवैज्ञानिकता भी पुराने ढंग की मनोवैज्ञानिकता से दूर जा पड़ी है। इसमें सन्देह नहीं कि अब भी अनेक ऐसे लेखक हैं जो परम्परागत उपन्यास को ही लेकर चढ़ रहे हैं या उसे अपनी व्यक्तिगत विशेषता और नये उपन्यास के तत्वों के सम्मिश्रण से महत्त्वपूर्ण बना रहे हैं, परन्तु यह निश्चय है कि आज के उपन्यास की मान्यताएँ बीस-पच्चीस वर्ष पहले के श्रेष्ठ उपन्यास की मान्यताओं से भिन्न हैं।

१९२० से पहले ही अंग्रेजी उपन्यास ने नई दिशाएँ टटोलना शुरू कर दी थीं। कुछ उपन्यासकारों ने, जैसे काम्पटन मेकेंजी और एच० जी० वेल्स ने बचपन और युवावस्था का चित्रण किया। कुछ अन्य उपन्यासकारों ने, जैसे डी० एच० लारेंस ने, कल्पना और भावना के अतिरेक को अपनी कला का आधार बनाया और अवैध प्रेम के रूप में नई संवेदनाओं का चित्रण कर मन के गहन पर्तों को छुआ। लारेंस का 'सन्स एण्ड लवर्स' इस दिशा में एक क्रांतिकारी रचना है। कदाचित् इतनी शक्ति और काव्यमयता के साथ किसी भी उपन्यासकार ने जीवन का संस्पर्श नहीं किया है। सच तो यह है कि लारेंस ने उपन्यास को अपने नए धर्म की प्रचार-भूमि बना दिया। नर-नारी के यौन व्यापारों और प्रेम-घृणा के संवेदनात्मक चित्रों ने उपन्यास जगत् में हलचल मचा दी। इन सब उपन्यासों से अलग और विशिष्ट स्थान वेल्स का है जिन्होंने उपन्यास को वैज्ञानिक कल्पना और वैचारिक प्रयोगों की भूमि बना दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यास की बेड़ियाँ बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में ही टूटने लगी थीं और उसका क्षेत्र विस्तृत बन चला था।

परन्तु नए उपन्यास का जन्म १९२० से ही माना जा सकता है क्योंकि इसी समय के लगभग पुराने ढंग के उपन्यासों पर कड़ी चोटें पड़ीं और नए प्रभावों ने उसकी सारी भूमि ही बदल दी। ये नए प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से ही

पढ़ने लगे थे, परन्तु सामूहिक रूप से उपन्यास इनसे फिर भी अछूता था। परन्तु ये नए सिक्के चलने लगे और नई मुद्रा प्रशंसनीय भी बनी। ये प्रभाव तीन दिशाओं से आए

(१) फ्रेंच उपन्यास का प्रभाव। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ही जार्ज मूर और सामरसेट माम के उपन्यासों पर फ्रेंच प्रभाव दिखलाई पड़ने लगा था। यह प्रभाव अंशतः जोला के नग्न यथार्थ (प्रकृतवाद) का प्रभाव था, परन्तु रूपगत भाषागत प्रभाव भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। फ्रेंच उपन्यासों में शिल्प और अभिव्यंजना को अनिवार्यतः महत्वपूर्ण स्थान मिला है। ये सच्चे अर्थों में कलाकृतियाँ हैं। पुराने ढंग के उपन्यासों में उपन्यासकार निर्बंल भाव से चलता है, कभी-कभी तो कई कथाएँ लेकर चलता है। परन्तु फ्रेंच उपन्यासों में सूक्ष्म अभिव्यंजना और प्रासादिक शैली का महत्त्व है और उपन्यास का रूपविधान भी सुगठित होना आवश्यक माना जाता है। १९२० के बाद प्रूस्त के उपन्यासों की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अभिव्यंजना शैली का भी प्रभाव पड़ने लगा।

(२) दूसरा प्रभाव रूसी उपन्यासों का है। यह प्रभाव अधिक गहरा पड़ा। टालस्टाय, दोस्तोवेस्की, तुर्गनेव और चेखव की रचनाएँ अनूदित हुईं और पाठक और लेखक दोनों उनमें डूब गए। ये रूसी कथाकार मानवात्मा में प्रवेश करने की अद्भुत क्षमता रखते थे। अंग्रेजी उपन्यासकारों ने इन गहराइयों को नहीं छुआ था। मानवीय व्यक्तित्व के अतलस्पर्शी मनोवैज्ञानिक परिचय इन रचनाओं में उभर आए। इन उपन्यासों की संवेदना सार्वभौमिक थी। इनमें या तो देश व्यापी आन्दोलन चित्रित थे या मनुष्य की अन्तरात्मा की पीड़ा उभारी गई थी। इनका संसार ही दूसरा था।

(३) रूसी उपन्यासों के प्रभाव के साथ ही अवचेतन मन सम्बन्धी फ्राइड के *नवीन आविष्कार भी सामने आए। १९२० तक मनोविज्ञान* की नई उपलब्धियाँ मान्य हो गईं और मनोविश्लेषण की पद्धति लोकप्रिय हो गई। इन नवीन तत्त्वों ने व्यापक रूप से उपन्यास को प्रभावित किया।

अंग्रेजी उपन्यास को नई औपन्यासिक भूमि देने का श्रेय जेम्स ज्वाइस और वर्जीनिया वुल्फ को है। ज्वाइस का पहला प्रकाशित उपन्यास आत्मकथात्मक था (ए पोर्ट्रेट आफ़ द आरटिस्ट एज़ ए यंग मैन, १९१६), परन्तु वह कुछ पहले से एक विस्तृत प्रयोग में लगा हुआ था। यह प्रयोग 'उलीसस' (१९१४-२२) था। वास्तव में इतना बड़ा प्रयोग उपन्यास के क्षेत्र में हमें अन्य नहीं मिलता। १९२२ में जब पेरिस में उसका प्रकाशन हुआ तो साहित्य-जगत में हलचल मच गई। वह एक ही साथ निन्दा और प्रशंसा का विषय बन गया। इस उपन्यास का नायक डबलिन में चौबीस घण्टे बिताता है। वस्तुत्व इतना ही है। परन्तु ज्वाइस ने वहिर्गत को नायक की चेतना के अन्तर्सूत्रों के द्वारा पकड़ना चाहा है। अंतश्चेतना का एक प्रतीकात्मक प्रवाह उसमें उभर आया है। साथ ही अंग्रेजी भाषा की सारी सम्भावनाएँ लेखक ने समाप्त कर दी हैं। पांडित्य और हास्य को एक ही सूत्र में गुम्फित कर दिया गया है और परम्परागत उपन्यास का उसमें कुछ भी शेष नहीं है। केवल मात्र नायक की

मानवता बच गई है। पात्रों में अन्तरंग संवादों (इण्टरनल मानोलाग्ज) को पढ़कर पाठक अस्तित्व के सूक्ष्म रूप से परिचय पाता है, परन्तु कथा-विकास का पता नही चलता। कथा-संगठन लुप्त है। बीज इतना गहरा दबा है कि पता नहीं चलता। सामान्य पाठक की पकड़ में वह आता ही नहीं। अनेक अंश अनैतिक और अवैध यौन सम्बन्धी हैं जिससे सेंसर ने सम्पूर्ण ग्रन्थ को इंगलैण्ड में प्रकाशित नहीं होने दिया, परन्तु यह निश्चय था कि एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रयोग सामने आया है। 'उलीसस' के पात्रों के विचारों की यौनगर्भिता और उसकी शैली ने नए उपन्यास को इतना प्रभावित किया कि पुरातन ढंग से उपन्यास लिखना ही सम्भव नहीं रहा। रूसी उपन्यासों ने जो नवालोक उपस्थित किया था, वह इस प्रयोग से और भी प्रखर हो गया। वर्जिनिया वुल्फ ज्वाइस से अधिक संयमित रही, परन्तु कदाचित् वही अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई। उसने स्पष्ट रूप से कहा कि उपन्यासकारों के दो वर्ग हैं भौतिकवादी और आध्यात्मिक। पहला वर्ग गौण विषयों पर लेखनी चलाता है और उसकी कला की सारी सार्थकता इसी में है कि उसमें क्षुद्र महान् और वास्तव दिखलाई देने लगे। दूसरे वर्ग के उपन्यासकार जीवन के मूलभूत और स्थायी तत्त्वों को लेकर चलते हैं। वे मनुष्य के चेतन-प्रवाह के सतत परिवर्त्तनशील और धारावाहिक रूप को महत्त्व देते हैं जो बाहर के प्रभावों से बराबर बदल रहा है और भीतर को नया रूप दे रहा है। वुल्फ के विचार में जीवन एक अर्द्ध पारदर्शी ज्योतिचक्र है जो हमारी चेतना के आरम्भ से अन्त तक हमें घेरे रहता है। उपन्यासकार का लक्ष्य यह होना चाहिए कि इस अज्ञात, अपरिसीम और सूक्ष्म आत्मतत्त्व का आभास अपने पाठकों को दे, चाहे इसके लिए उसे कितना ही सूक्ष्म निरीक्षण क्यों नहीं करना पड़े और चाहे उसकी अभिव्यंजना कितनी ही गूढ़ क्यों न हो जाए। इस प्रक्रिया मे उसे विजातीय और बहिर तत्त्वों का कम-से-कम मिश्रण करना होगा। ऐसा एक प्रयत्न ज्वाइस की रचना के रूप में उसके सामने था। ज्वाइस ने अन्तर की ज्योति-शिखा के सूक्ष्मतम स्पन्दन को पकड़ना चाहा था और जीवन-प्रवाह के अन्तरंग स्रोत तक पहुँच गया था। इसी से वर्जिनिया वुल्फ़ ने उसे अध्यात्मवादी कहा। रूसी उपन्यास में भी ऐसे क्षण आते हैं जब आत्मा का गहनतम आलोडन अत्यंत गूढ, ओतप्रोत और अन्यतम रूप में गुंफित हो जाता है जिससे कि मानवीय मस्तिष्क की एक अभिनव चित्रपटी हमारे सामने उद्घटित होती है। अंग्रेजी उपन्यासों में हास्य-विनोद के प्रसंगों और भावात्मक प्रसंगो में इस प्रकार की एक झलक मिल जाती है, परन्तु जीवन की रहस्यमय गहराइयों की उतनी विस्तृत और निगूढ़ झांकी हमें नही मिलती। वर्जिनिया वुल्फ़ की प्रयोगात्मक रचनाएँ 'जेकब्स रूम' और 'मिस्टर डेलोवे' हैं, परन्तु 'टु द लाइट हाउज़' (१९२७) में उनकी उपन्यास-कला का परिपक्व रूप मिलता है। इसमें चेतना के अभ्यांतरिक प्रवाह को आत्मा के ज्वार-भाटे के रूप में चित्रित किया गया है, प्रतीकों का भी उपयोग है, और एक अत्यंत संवेदनाशील कलाकारिता भी है जो काव्य-रस देने में समर्थ है। पुरातन ढंग की कथा समाप्त हो गई परन्तु चारित्रिकता (जो अंग्रेजी उपन्यास की विशेषता थी) फिर भी सुरक्षित रही।

परन्तु नए उपन्यास का वास्तविक विकास बाद में हुआ। इन दोनों लेखकों

ने उपन्यास-सम्बन्धी रूढ़िवादिता को नष्ट किया, और नई सम्भावनाओं की ओर इंगित किया। वास्तव मे नए उपन्यास का नारा एलडस हक्सले की रचना 'आइलेस इन गाजा' (१९३६) से आरम्भ होता है। इस उपन्यास मे काल-प्रवाह को तीन तलो पर बराबर चलाया गया है। सच तो यह है कि १९२० से १९३६ तक उपन्यास के क्षेत्र मे सब से बडे परिवर्तन टेकनीक के क्षेत्र मे नही थे, नैतिक क्षेत्र मे नए विचारो की उद्भावना मे थे। प्रथम महायुद्ध ने रूढ़िगत विचारो की जड़ें हिला दी थी और फलस्वरूप उपन्यासों मे नई नैतिक चेतना की दुहाई दी जाने लगी थी। टेक्नीक के क्षेत्र मे ई० एम्० फ़ार्स्टर, डी० एच० लारेंस और एलडस हक्सले कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

नए संवेदना क्षेत्र भी सामने आए। महायुद्ध को लेकर कई रचनाएं प्रस्तुत की गई जिनमे अरनेस्ट हेमिंग्सवे की रचना 'ए फेयरवेल टु आर्म्स' (१९२९) प्रमुख है। सिक्लेयर लेविस, अप्टन सिक्लेयर और ड्रेसर अन्य अमेरिकी उपन्यासकार थे जिन्होंने यूरोप की नई औपन्यासिक चेतना को प्रभावित किया। कुछ उपन्यासकार धुर ग्रामीण जीवन को सामने लाए। बचपन और किशोरावस्था को लेकर भी कई रचनाएँ उपस्थित हुईं। काल्पनिक युगों और दूर देशो को लेकर भी रचनाएँ सामने आईं। ऐतिहासिक रोमांस का एक प्रकार से पुनर्जन्म हुआ। नागरिक जीवन की विभीषिकाओ से भाग कर उपन्यासकारों ने ग्रामीण जीवन के काव्य चित्र उपस्थित किए और उसे नागरिक जीवन एवं उद्योग-धन्धो के विपक्ष मे पेश किया। अपराधी जीवन सम्बन्धी रचनाओ और जासूसी रचनाओ की भी बाढ़ आ गई।

उपन्यासकारो की इस बाढ़ ने उपन्यास पढने वाली जनता को कई वर्गों मे बांट दिया। एक वर्ग वेल्स, बेनेट, गेल्सवर्दी और कोनाड जैसे परम्परानिष्ठ उपन्यासकारो को पसंद करता था, तो दूसरा ज्वाइस और वुल्फ के प्रयोगो को, तीसरा गांवो के चित्रण को, चौथा आइरिश या चीनी पृष्ठभूमि को। वास्तव मे अनेक प्रकार की विचारधाराओ ने उपन्यास को विशृंखलित कर दिया था। १९३७ के बाद 'प्रोलेतेरियेत नाविल' के रूप मे मार्क्सवादी और साम्यवादी विचारों पर आधारित रचनाएँ सामने आईं और वर्गवाद और आन्दोलनो को महत्त्व मिला।

पिछले डेढ़ दशक मे उपन्यासो का जो विकास हुआ है वह विशेषत टेक्नीक की दिशा मे। उपन्यास का क्षेत्र छोटा होता गया है यद्यपि नए नए क्षेत्रों की खोज भी की गई है। अब उपन्यास सम्पूर्ण जीवन को न ले कर जीवन का एक खण्ड मात्र लेता है, यहाँ तक कि चौबीस घण्टो का जीवन या कुछ घण्टों का जीवन भी उसके लिए काफ़ी हो जाता है। इन कुछ घण्टो मे ही लेखक की चेतना काल-प्रवाह मे आगे पीछे दौडती है और उसके जीवन के अनेक शृंखल विशृंखल चित्र पकड़ने मे सार्थक होती है। इन्हीं चित्रो मे पात्रो के जीवन की कथा बनती बिगड़ती है। वास्तव मे उसमे कर्तृत्व नही होता, भाव-संवेदन ही होता है। फलस्वरूप, उसमे कथा की कड़िया भी नहीं बनतीं, अथवा कथा सूक्ष्म ही रहती है। बीच-बीच मे से कथा की शृंखलाएँ टूट जाने पर पात्र अबूझ भी हो सकते हैं। इस प्रकार पाठक के पल्ले मानसिकता ही पडती है, चारित्रिकता नहीं। उपन्यास मे मानस भूमि

पर जो तिरता दिखलाई पड़ता है वह केवल अस्तित्व-बोध मात्र है। अधिकांश कथा एक प्रधान पात्र अथवा दो-तीन पात्रों से सम्बन्धित होती है। अन्य पात्र रंग मात्र भरते हैं। प्रधान पात्र के सबल या दुर्बल होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में मनोविज्ञान ने बतला दिया है कि सभी मनुष्य मूलतः दुर्बल हैं और चारित्रिक स्वास्थ्य अलभ्य वस्तु है। जहाँ वह है भी, वहाँ नीचे तल में विकृति ही मिलेगी। फलतः नए उपन्यास में न कथा हाथ लगती है, न चारित्रिकता, न मनोविज्ञाननिष्ठा, न तर्क-सम्मत वार्त्ता, क्योंकि चारित्रिकता जहाँ नहीं है, वहाँ मनोविज्ञान और तर्क-संगति भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। अन्त में उपन्यास विचार या सिद्धान्त का विस्तार मात्र रह जाता है और उनमें उपन्यासेतर अनेक अन्य तत्त्व आकर्षण देने के लिए महत्त्वपूर्ण ढंग से सामने आ जाते हैं। प्रूस्त के एक उपन्यास में एक पात्र रेल में सफ़र करते हुए एक आदमी को जान-बूझ कर ढकेल देता है जिससे वह स्वयं कार्य-कारण की शृंखला से स्वतन्त्र रह सके (ले केव्ज़ दु वेतिकन, १९१४)। यह निरुद्देश्य कर्म (ल एक्ते ग्रेचुई) का प्रमुख उदाहरण है। एक प्रकार से जीन पाल सार्त्र की अस्तित्व-वादी विचारधारा का सूत्र हमें इसमें मिल जाता है क्योंकि यहाँ कर्म स्वतन्त्र अस्तित्व का सूचक मात्र है, उसका न कोई पूर्वापर सम्बन्ध है, न कोई उद्देश्य। इस प्रकार नया उपन्यास मनोविज्ञान पर भी उस तरह आधारित नहीं है जिस प्रकार हेनरी जेम्स और कोनार्ड के उपन्यास। वह मनोविज्ञान से भी स्वतन्त्र होना चाहता है। इस प्रकार जहाँ एक ओर मनोवैज्ञानिक उपन्यास हैं जो फ्राइड, ऐडलर और युंग की सैद्धान्तिक मान्यताओं से आगे नहीं बढ़ते और 'केस-हिस्ट्री' बन जाते हैं अथवा साइकोथेरेपी मात्र रह जाते हैं। वहाँ दूसरी ओर ऐसे उपन्यास हैं जो विशृंखलित, अतर्क्य कार्यव्यापार और निरुद्देश्य भावोद्दीप्ति को लेकर चलते हैं। आज उपन्यासकार का विश्वास डिग गया है। वह उन्नीसवीं शताब्दी के महान् उपन्यासकारों की तरह मनुष्य को केन्द्रीयता नहीं दे पाता। मनुष्य उसके लिए दुर्बल और अबूझ है। वह या तो लारेन्स की तरह प्रकृति की ओर लौटना चाहता है, या कार्यकारण-शृंखला और नैतिक नियमों को तोड़कर एकदम प्रकृत पशु बन जाता है। आत्मोपलब्धि का नारा वह बराबर उठाता है, परन्तु सब प्रकार के बन्धनों से स्वतन्त्र होकर ही यह आत्मोपलब्धि उसे मिलेगी, ऐसा उसका विश्वास है। फलस्वरूप औपन्यासिक जगत् में कर्तृत्व और चारित्रिकता का अभाव है और क्षुद्र ही उसके केन्द्र में बैठ गया है। इसी से पश्चिम में उपन्यास के विघटन की बात उठी है और रेल्फ़ फ़ाक्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द नाविल एण्ड द पीपुल' में पश्चिमी उपन्यास के पतन को अनिवार्य बतलाते हुए समाजवादी यथार्थ (सोशलि-स्टिक रियलिज़्म) की आवाज़ उठाई है। इसमें सन्देह नहीं कि रूसी उपन्यास की परिणति के रूप में यह समाजवादी यथार्थ सामने आया है और गोर्की-शोलोखव जैसे कलाकारों की मान्यता उसे प्राप्त हुई है। परन्तु समाजवादी यथार्थ चाहे समाज के चित्रण के लिए जितना उपयोगी हो, चाहे उनमें नए सामाजिक नायकत्व की आदर्शवादी अतिरंजक कल्पना हो—वह मानवीय चरित्र की उन सूक्ष्म भंगिमाओं को उपस्थित नहीं कर सकता, न उन गहराइयों को छू सकता है जो फ्रेंच उपन्यास में सहज रूप

में दिखलाई देती हैं। व्यक्तिगत जगत के सूक्ष्म को रूसी उपन्यासों में सामाजिक स्थूल पर बलि कर दिया गया है। परन्तु क्या यह स्थिति अनिवार्य है। क्या सामाजिक उद्देश्य की बैसाखी लेकर ही उपन्यास सार्थक बन सकेगा। क्या समाज और व्यक्ति अन्तरालम्बन को स्वीकार कर इन दोनों पक्षों के कलात्मक समन्वय की चेष्टा भविष्य में उपन्यासकार का ध्येय नहीं हो सकता। पश्चिमी उपन्यासकार जहाँ अंतरंग में डूबकर खो गया है, वहाँ रूसी उपन्यासकार जीवन की मोटी-मोटी रूपरेखाएँ उभारने और सामाजिक राजनैतिक प्रचारवाद में ग्रस्त है। दोनों अतिवादी हैं। कदाचित् दोनों पक्षों के कलात्मक समन्वय में ही उपन्यास का भविष्य अन्तर्हित है।

उपन्यास क्या नहीं रहा है और क्या नहीं है। अपने विकास में उसने कविता, आख्यान, लोक-कथा, उपदेश, रूपक, नाटक, निबन्ध, वार्त्ता सबके तत्त्व संगृहीत किए हैं। वह सामाजिक, राजनैतिक, धर्मात्मक, साहित्यिक सब प्रकार की स्थितियों को सुलझाता रहा है। उसने मनोविज्ञान की उपलब्धियों को आत्मसात् किया है और ये उपलब्धियाँ ही उसे अब चारित्रिकता के केन्द्रीभूत तत्त्व से अलग लिए जा रही हैं। चरित्र अबूझ है, इसलिए उपन्यास भी अब अबूझ बन गया है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मनोविज्ञान की उतनी अतलस्पर्शी गहराइयाँ उपन्यास का विषय नहीं हैं। उपन्यास सार्थक जीवन देता है। वह जीवनाभास को लेकर चलता है। उसमें सिद्धान्त का आरोप क्यों हो? क्यों लेखक जीवन को अपने नैसर्गिक रूप में हमें नहीं दे? क्यों वह स्रष्टा बनने का दंभ करे? उपन्यास मनुष्य की कृति है और मानव जीवन के अन्तर में पहुँचना ही उसकी सार्थकता है। बुद्धि को एकदम परित्यक्त मान कर अबूझ के सहारे जीवन के अन्तराल में कैसे पहुँचा जा सकेगा।

यूरोप से एक आवाज उठी है कि उपन्यास मर रहा है, या अपने अंतिम दिन जी रहा है। पिछले वर्ष इस विषय पर कई विद्वानों ने चर्चा चलाई। संसार के अन्य सभी विषयों की तरह यहाँ भी मतभेद रहा और दो दल रहे। एक दल उपन्यास को सक्रिय और सशक्त मानता है और नई सम्भावनाओं की कल्पना करता है। दूसरा वर्ग उपन्यास के दिन ही उँगलियों पर गिन रहा है। दोनों के अपने तर्क हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास अब वह नहीं रहा जो डिकेन्स और थैकरे के जमाने में था, या टालस्टाय के समय में। उसकी प्रकृति ही बदल गई है। वह उसी कोटि की चीज होते हुए भी भिन्न वस्तु है। नए उपन्यास का यह नयापन ही क्या उसके भीतर की छिपी जीवनशक्ति की दलील नहीं है? सम्भवतः पश्चिम के व्यक्तिवादी नए उपन्यास और रूस के समाजवादी यथार्थ के घात-प्रतिघात से एक नई उपन्यास-कोटि विकसित होगी जो चीन और भारत की नई जाग्रत औपन्यासिक प्रतिभाओं को भी आत्मसात् कर लेगी। पूर्व में अभी उपन्यास नए जीवन के चित्रण और नयी सम्भावनाओं के उद्घाटन में लग रहा है। कथा साहित्य का जन्म ऋग्वैदिक गाथाओं, औपनिषदिक रूपकों, पौराणिक देवकथाओं और जातक-कथाओं के रूप में भारत में ही हुआ। पश्चिमी संसार की कई शताब्दियों की यात्रा करते

के वाद उपन्यास फिर अपने जन्म-स्थान में लौटा है। सम्भवतः उपन्यास के विकास के नए चरण पूर्व में ही पड़ेंगे और वह पश्चिम के अनुकरण से नहीं, पूर्व की प्रकृति को आत्मसात करके ही आगे वढ़ेगा। इसी संदर्भ में नए उपन्यास का हमें अभिनन्दन करना है।

(२)

नई उपन्यास-कला में जो चीज सव से पहले हमारे सामने आती है वह यह है कि उसकी जीवन-सम्वन्धी संवेदना भिन्न और नई कोटि की है। उपकरण वही है, दर्पण वही पुराना है परन्तु अव उसे नई क़लई मिल गई है। वास्तव में हम फ़ार्स्टर से सहमत हैं कि विषय की नवीनता और महत्ता उपन्यास के उतने महत्त्वपूर्ण तत्त्व नही है जितनी उसकी संवेदना की भूमि। आधुनिक उपन्यास संवेदना की सूक्ष्मता और व्यापकता के कारण ही पुरातन उपन्यास से भिन्न है। वह वही चीज होते हुए भी वही नहीं है। घटनाओं और चरित्रों के प्रति हमारा दृष्टिकोण वदल गया है और एक तरह से मानव-जीवन का अर्थ ही नया उद्‌घटित हुआ है। 'मूल्यों' के परिवर्त्तन ने उस चश्मे को नए रंग दे दिए हैं जिसके भीतर से हम अपने को और अपने चारों ओर के संसार को देखते थे। फलस्वरूप उपन्यास की कला वदली है और वदले हुए दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए उसने नए अवयवों का विकास किया है या पुराने उपकरणों को ही संवेदना की नई धार दी है।

नए उपन्यास के कुछ प्रमुख तत्त्वों की ओर हमने पीछे संकेत किया है। ये तत्त्व हैं—

(१) जीवन-क्षेत्र का संकोच। काल-विस्तार और जीवन-विस्तार दोनों की दृष्टि से आज उपन्यास का क्षेत्र संकुचित है। २४ घंटों या कुछ ही घंटों के जीवन-प्रवाह को कथा में वांधने में आज उपन्यास की सार्थकता है। श्री गिरिधर गोपाल के 'चांदनी के खण्डहर' उपन्यास में एक दिन और एक रात की कथा कही गई है और प्रभातोदय के साथ नए जीवन के अभिनन्दन के साथ वह समाप्ति को प्राप्त होती है। ज्वाइस और वर्जिनिया वूल्फ़ इस क्षेत्र में अग्रणी रहे हैं। वास्तव में देखा जाय तो चौवीस घंटे भी वहुत होते हैं। उपन्यासकार आज खण्ड मनुष्य को न दे कर सम्पूर्ण मनुष्य को देना चाहता है। परन्तु यह मनुष्य की सम्पूर्णता उसके कर्तृत्व में नहीं है, उसके मन के आलोड़न-विलोड़न में है। इसी से नया उपन्यास-कार आज अणुवीक्षणीय हो उठा है। उसके लिए पिण्ड ही ब्रह्माण्ड का प्रतीक है; प्रतीक नहीं, वह स्वयं ब्रह्माण्ड ही है। जैनेन्द्र में हमें यही दृष्टिकोण दिखलाई पड़ता है। उन्होंने समस्त जीवन की कथा न कहकर सर्व जीवन की कथा कही है। काल के साथ जीवन की चित्रपटी भी छोटी होती गई है। आज अनेक उपन्यासकार आंचलिक जीवन के उपन्यास लिख रहे हैं, या वचपन अथवा युवावस्था तक सीमित हैं, कुछ ने केवल गांव को ले लिया है, कुछ सामूहिक चेतना के किसी अंग को लेकर चलना चाहते हैं। आज उपन्यास के जीवन का एक खण्ड ही वहुत है। उसका दृष्टिकोण विशेषज्ञ का दृष्टिकोण है।

(२) काल-प्रवाह की अन्तश्चेतनमूलक कल्पना—आइन्स्टाइन की खोजों ने आज देश और काल के सम्बन्ध में हमारी धारणा ही बदल दी है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह बदली हुई धारणा उपन्यासकार के उपयोग की वस्तु है या नहीं, परन्तु आज घटना बहिर्जगत की वस्तु नहीं, अन्तर्जगत की वस्तु बन गई है और उसके क्रम-विकास की कोई निश्चित रूपरेखा नहीं है। वर्जिनिया वुल्फ ने अपने 'द वेव्ज़' उपन्यास में काल प्रवाह के तीन स्तर एक साथ चलाए हैं और घटनाओं की असंगति और क्रमहीनता से कालस्रोत का आभास दिया है। अज्ञेय ने 'शेखर एक जीवनी' में स्थान-स्थान पर इस नई टेकनीक का प्रयोग किया है और बीती हुई घटनाओं को शेखर की विशृंखल मानसिक संवेदनाओं के माध्यम से देखा है। इस प्रकार के प्रयत्न उपन्यास से कथारस छीन लेते हैं और उसे विवेचनों की वस्तु बना देते हैं। पाठक पात्रों के अन्तर्जीवन में भाग नहीं ले पाता, वह बेचारा द्रष्टा मात्र रह जाता है। उपन्यास-लेखक का मन स्वयं काल की सीमाओं में बँधा हुआ है। वह काल के पार कैसे देख सकेगा। रैम्बो ने एक मनस् या अतिजीवन क्षणों में काल और व्यक्तित्व के पार देखने की कल्पना की थी, परन्तु यह कल्पना उसकी कुछ कविताओं में ही बँधकर रह गई। आधुनिकता के नाम पर उपन्यासकार उसे फिर लेकर चलना चाहता है। जो हो, काल-प्रवाह की अन्तश्चेतनामूलक कल्पना नए उपन्यास का बहुमूल्य संबल है।

(३) मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण—अर्थात् फ्राइड, एडलर और युङ्ग की मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक मान्यताओं पर आधारित घटनाओं का संकलन और नई चारित्रिकता का विकास जो अवचेतन को अधिक महत्त्व देती है। यह स्पष्ट है कि नए उपन्यास ने परम्परागत उपन्यास से चारित्रिकता का अंग मान लिया, परन्तु उसे बहुत दिनों तक सुरक्षित नहीं रख सका। इसका कारण मनोवैज्ञानिकों की मन-सम्बन्धी खोजें थीं। मनोवैज्ञानिकों ने आज मन को अनेक खण्डों में विभक्त कर दिया है। जो वस्तु पहले एक स्वतन्त्र इकाई और अविभक्त थी, वह आज टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गई है। इन बिखरे हुए टुकड़ों में अराजकता है, परन्तु उनका अपना आकर्षण भी है। उनमें हमारी जिज्ञासा की भी शान्ति होती है और हमें क्षण भर क्रीडा-कौतुक का आनन्द भी होता है। स्वयं विधाता की भाँति हम मन को तोड़-फोड़ लेते हैं और टूटे हुए टुकड़ों को कभी एक तरह, कभी दूसरी तरह रखकर चमत्कार-सृष्टि कर सकते हैं। ये मन के टुकड़े मात्र हैं, परन्तु ये मानवीय प्रकृति के अंग होने के कारण उपन्यासकार के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। ये वे ईंटें हैं जिन पर वह भव्य भवन का निर्माण कर सकता है। इसलिए आज का उपन्यासकार इन बिखरे मन के टुकड़ों का उपयोग करता है तो हमें कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए।

परन्तु प्रश्न यह है कि वह इन टूटी-फूटी ईंटों का उपयोग किस प्रकार करे—क्या वह इनसे एक निश्चित रूप और आकार का निर्माण करे। पिछली उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासकार चरित्रांकन करते समय चरित्र के विभिन्न टुकड़ों को एक दूसरे से बिल्कुल सटा कर एक सम्पूर्ण और निश्चित चरित्र का निर्माण करने में अपनी

कला की सार्थकता समझते थे। यह नहीं कि वे मानव-चरित्र की असम्बद्धताओं और असम्पूर्णताओं को नहीं समझते थे और मनुष्य को देवता या राक्षस मान कर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे। हमें ऐसे अनेक चरित्र उन्होंने दिए हैं जो सफेद और काले रंगों के मिश्रण हैं या जिनमें हेमलेट जैसी रहस्यावादिता है, जो निश्चित रूपरेखाओं में बँध नहीं पाते। परन्तु फिर भी इन उपन्यासकारों का लक्ष्य यही था कि वे चरित्र को 'चरित्रता' दें अर्थात् वह निश्चित, सुसम्बद्ध, स्पष्ट, तर्कसिद्ध और अविभाज्य इकाई हो। चरित्र की डोरियों के सिरे परस्पर बँधे हों, वे झूलती न रहें। परन्तु बीसवीं शताब्दी की मनोविज्ञान की खोजों ने 'चरित्र' सम्बन्धी मान्यताओं में महान् क्रांति कर दी। यह अवश्य है कि अब भी पुरानी परम्परा के सैकड़ों कथाकार हैं जो चरित्रों को सुनिश्चित और अखण्डित इकाई बनाए रखने में ही कला की सार्थकता समझते हैं, परन्तु उपन्यासकारों का एक दूसरा वर्ग भी है जो परम्परा की ओर मुड़कर नहीं देखना चाहता। उसकी दृष्टि भविष्य पर है और उसका कहना है कि किसी भी पात्र को अविभाज्य और सुस्पष्ट बना देना वास्तविकता से दूर चले जाना है। जीवन में ऐसा नहीं होता। जिन व्यक्तियों से हम परिचित होते है वे हमें खण्डित रूप में ही, या अनेक खण्डों के रूप में ही मिलते हैं और हमें स्वयं उन चरित्रगत खण्डों को जोड़कर अपने लिए एक सम्पूर्णाभास तैयार करना होता है। इसीलिए आज का उपन्यास सम्पूर्णता पर बल नहीं देता, वह चरित्र के विभिन्न अंगों या खण्डों पर प्रकाश डालता है। मनोवैज्ञानिकों ने मन को जिन विभिन्न टुकड़ों में विभाजित कर दिया है, वे विभिन्न स्तरों की चीजें होते हुए भी चरित्र के पुनर्निर्माण के आवश्यक अंग हैं क्योंकि आज हम यह जानते हैं कि यद्यपि मनुष्य चेतन मन से कार्य-क्षेत्र में उतरता है (या वह यह समझता है कि वह चेतन मन की प्रेरणा से संचालित है) परन्तु उसके पीछे उसकी अन्तश्चेतना के परस्पर विरोधी, कभी-कभी असम्बद्ध और भयावह तत्त्व हैं और उसकी चेतना उसके अव-चेतन के निरन्तर प्रहारों से प्रताड़ित होती रहती है। आज उपन्यासकार ने मानव-मन के अवचेतन के तत्त्व को समझ लिया है और उसका शिल्प भी बदल गया है। वह अपनी ओर से कुछ भी सहायता हमें नहीं देता। न कोई छोटा-सा, निश्चित-सा रेखाचित्र है, न कहीं सारांश। वह असम्बद्ध खण्ड चरित्र मात्र को सामने रखकर तटस्थ भाव से अलग हो जाता है। वह पाठक और चरित्र के बीच में जरा भी खड़ा होना नहीं चाहता। नए उपन्यासकार अपने चरित्रों को कई टुकड़ों में देते हैं। कभी वे स्पष्ट और सम्बद्ध हो जाते हैं, कभी विरोधाभासपूर्ण। उनका कहना है कि मनुष्य का मन सभी असंगतियों और विरोधों का घर है। फिर उसे हम उसी प्रकार क्यों नहीं चित्रित करें। एक दूसरी कठिनाई यह है कि यह सब के सब मनस्-खण्ड एक ही प्रकार के नहीं होते। उनमें कुछ चेतन विचार और कर्म से सम्बन्धित हैं, कुछ अन्तश्चेतना का प्रवाह मात्र अथवा उपचेतन में बहती हुई विचार-प्रक्रिया मात्र और कहीं अवचेतन की अन्ध शक्तियाँ हमारे सामने आती हैं जो पात्रों की चेतन मान्यताओं को झकझोर डालती हैं। इन विभिन्न स्तरों और खण्डों को लेकर हमें एक समन्वित चरित्र तैयार करना होता है।

इस प्रक्रिया का फल यह हुआ कि उपन्यास के क्षेत्र में अब कालानुक्रम लगभग समाप्त ही हो गया है। नायक के जीवन के चित्र हमें मिलते हैं, परन्तु वे किसी निश्चित कालक्रम से नहीं। कभी हम सहसा आगे बढ़ जाते हैं, कभी झटका खाकर एकदम पीछे उसके बचपन या किशोर जीवन के गर्त में गिर पड़ते हैं। चेतना की विषम और असम्बद्ध गति की भाँति कथा और चरित्र-भूमियाँ आज विषम, असबद्ध और अगतिशील बन गई हैं। उपन्यासकार आज हमें अखण्डित सम्पूर्ण नहीं देता। वह हमें जीवन-खण्ड ही देता है। वह सुनिश्चित होना नहीं चाहता और चरित्र के खण्ड देकर तटस्थ भाव से अलग हो जाता है। जो वह देता है उसमें एकसूत्रता स्थापित करना पाठक का काम है।

परन्तु यह एकसूत्रता चरित्रगत या विचारगत एकसूत्रता नहीं होगी। इसे हम भावगत एकसूत्रता कह सकते हैं। सेसिल डे लेविस ने इसे 'इमोशनल सीक्वेन्स' कहा है। वे कहते हैं "तर्क-संगति के नितान्त अभाव का आदी न होने के कारण पाठक पहले तो चिढ़-सा जाता है—संगति सोचने के प्रयत्न में उसे अपनी बुद्धि पर जोर डालकर उसे अतिसंवेदित कर लेना ठीक नहीं होगा। इस व्यवस्था में भाव-संवेदन के द्वारा ही वह रसनिष्ठ हो सकेगा। यदि वह कल्पना-चित्रों को अपने भीतर पड़ा रहने देगा तो उसे लगेगा कि उसने सूत्र को पकड़ लिया है। जैसे एक स्फुलिंग-मात्र से सारी पार्श्वभूमि जगमगा उठी हो।' वास्तव में नया उपन्यासकार चेतन मन का उपयोग नहीं करता। इसलिए तर्कग्रहीत सम्बन्ध-सूत्रों की उसके उपन्यास में स्थापना असम्भव होगी। अब तक के साहित्य में तर्क-सम्बन्ध और विषय-निर्वाह को सर्वोपरि माना गया था, परन्तु जहाँ साहित्यकार ऊपरी मन के धरातल को छोड़कर उपचेतन या अवचेतन के विरोधाभासपूर्ण, असंगत और अर्द्धस्फुट विचार प्रवाह या भाव-प्रवाह को अपना स्रोत बनाता है, वहाँ तर्कशास्त्र-सम्मत निर्वाह की कल्पना ही असम्भव है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि ये असंगत भाव-खण्ड सम्पूर्ण चित्र कैसे दे सकेंगे। आज का उपन्यासकार इसकी कोई आवश्यकता ही नहीं समझता। यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार हम चरित्र को पूर्णतया नहीं जान सकेंगे, तो नया दृष्टिकोण कहता है कि हम अपने निकट-से-निकट सम्बन्धी का अन्तर्बाह्य पूर्णरूप से नहीं जान सके हैं। कभी जान भी सकेंगे, यह भी नहीं कह सकते। जब दैनिक जीवन में ऐसा है तो हम उपन्यासकार से यह क्यों चाहें कि वह हमें सम्पूर्ण व्यक्तित्व का चित्र दे। आज का उपन्यासकार यह विश्वास करता है कि मनुष्य की अन्तरात्मा उसकी अपनी चीज है। उसे छोड़कर कोई उससे सम्पूर्णतया परिचित होने का दावा नहीं करता। फिर भी जो असम्बन्धित चित्र आज हमें उपन्यासकार देता है, वे पात्र के मन की एक झाँकी देने में समर्थ हैं। केवल यह जानना होगा कि इन चित्रों में तर्कसिद्धता और गणित का योगफल हमें नहीं ढूँढ़ना है। जीवन न तर्कों पर आधारित है, न गणित पर। उसमें अकल्पित और असम्भाव्य का भी स्थान है। वहाँ हमें योगफल से बड़ी या सब तरह से नवीन उपलब्धि भी मिल सकती है। आवश्यकता है कि हम अपने को पर्याप्त संवेदनशील बनाएँ। हम उपन्यासकार के कल्पना-चित्रों में डूब जाएँ और उनके प्रवाह में अपने को बहने दें। तभी हम जीवन-प्रवाह की वास्तविक अनुभूति

प्राप्त कर सकेंगे।

(४) नए उपन्यास में अन्तर्जीवन की प्रधानता है और उसके भीतर से बहिर्जीवन को देखने का प्रयत्न है। फलस्वरूप एक ही घटना को या एक ही चरित्र को विविध दृष्टिकोणों या पात्रों के माध्यम से देखा जाता है। नई चरित्र-दृष्टि चरित्रों को असंगत अवचेतनीय प्रतिक्रियाओं का समाहार मानती है। इससे परम्परागत ढंग की चारित्रिकता और वस्तु-संगठन को आज अमान्य समझा गया है। आज का उपन्यासकार मानव-जीवन के क्षण-क्षण के भावोत्थान-पतन का आलेखन मात्र करता है और उसी में जीवनाभास हमें देता है। परन्तु यह निश्चय है कि उसकी अपनी सीमाएँ हैं जिनका व्यतिक्रम वह नही कर सकता। आज उपन्यासकार के लिए काल-क्रमागत जीवन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना मूल्यगत जीवन, परन्तु केवल मूल्यगत जीवन को लेकर चलने से घटनाओं की शृंखलाएँ ही टूट जाती हैं और कथा कथा नही रह जाती। वास्तव में कालक्रम और 'मूल्य' दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं और एक के लिए दूसरे की बलि उचित नहीं है। फारेस्टर ने अपने ग्रन्थ 'आस्पेक्ट्स ऑफ द नाविल' (१९२७) में उपन्यास के वस्तु-संगठन पर विचार करते हुए इस सम्बन्ध में अपनी मान्यता देते हुए कहा है कि उपन्यास के ताने-बाने के भीतर कालक्रम को एकदम अस्वीकार कर देना उपन्यासकार के लिए असम्भव बात है। चाहे कितने ही सूक्ष्म रूप में हो उसे कथासूत्रों से चिपटा रहना होगा, काल के अपरिसीम धाराप्रवाह को उसे अनिवार्य रूप से छूना होगा, नहीं तो वह अबूझ हो जायेगा और उपन्यासकार के लिए यह घातक गलती मानी जायेगी। आधुनिक उपन्यास कालक्रमागत जीवन से ऊपर उठना चाहता है। एकमात्र मूल्यगत जीवन ही वह देना चाहता है। परन्तु कथा में आकांक्षा के, जिज्ञासा और समाधान के जो सूत्र हैं वे उसकी पकड़ से जाते रहते हैं और इसी से उसकी रचना में जीवन-प्रवाह की वास्तविकता होने पर भी उससे हमें संतोष नहीं होता। अन्तर्जीवन का अन्यतम चित्र होने पर भी रचना अवास्तव ही रहती है।

आज उपन्यास कथा के सूत्र अदृश्य उपन्यासकार के हाथ में रखने का कायल नहीं है। वस्तु-संगठन तर्कमूलक बौद्धिक प्रक्रिया है और अन्त तक इस प्रक्रिया को लेकर चलने से रचना निष्प्राण ही हो सकती है। बहुधा घटनाएँ और चरित्र उपन्यासकार के सूत्रों से स्वतन्त्र हो जाते हैं और उपन्यास को परिसमाप्ति देने के लिए उपन्यासकार उनके साथ बलात्कार करता है। नया दृष्टिकोण इसे अनाचार मानता है। उपन्यास रूपरेखा को लेकर चले ही क्यों? क्या वह स्वाभाविक अथवा प्रकृत रूप से विकसित नहीं हो सकता। वह समाप्त हो ही क्यों? क्या वह खुला नहीं रह सकता? जीवन की भाँति वहाँ भी सब कुछ सम्भावनाओं पर ही क्यों नहीं छोड़ दिया जाय? सूत्रधार न होकर उपन्यासकार रचना के भीतर अपने को भी क्यों नही डाल दे और किसी अकल्पित लक्ष्य की ओर बढ़ने का आनन्द ले। इसमें सन्देह नहीं कि वस्तु-संगठन कथा को आकर्षक और रोचक बना देता है, परन्तु वस्तु-संगठन नाटक से उधार ली चीज है और रंगमंच की सीमाओं की उपज है। उपन्यासकार किसी भी रंगमंच से बँधा नहीं है। वह जीवन की व्यापकता का

आभास क्यों नहीं दे ? यह स्पष्ट है कि नए उपन्यास ने अपने को नाटक और काव्य के प्रतिबन्धों से मुक्त करना चाहा है और इसीलिए कालक्रम और वस्तु-संगठन की उसने उपेक्षा की। इसीलिए आज उपन्यास कही जाने वाली चीज एक नयी साहित्य-कोटि बन गई है।

(५) नए उपन्यास की एक अन्य विशेषता उसकी विचारमूलकता है। वैसे हेनरी जेम्स के समय से ही उपन्यास विचारों का वाहन बना हुआ है परन्तु आज यह विचारमूलकता जीवनदृष्टि में बदल गई है। टाल्सटाय, ऐनद्रे जीद, सात्र सब कथा को जीवन-सम्बन्धी ऊहापोह का साधन बनाते हैं। जहाँ जीवन-प्रवाह को पकड़ने की चेष्टा है वहाँ भी जीवनदृष्टि की नवीनता ही अभिधेय है। इस प्रकार नया उपन्यास जीवन का चितेरा नहीं, जीवन का समीक्षक है। वह 'मूल्य' देता है, औपन्यासिक रस, चारित्रिकता, अन्तर्मन की उपलब्धि, ये उसके लिए आज महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। रेल्फ फाक्स ने इसी परिवर्तन में उपन्यास का ह्रास देखा है। परन्तु हो जो, यही नई दिशा आज उपन्यास ने ग्रहण की है और इसी में उसने नई सम्भावनाओं की कल्पना की है।

(६) नए उपन्यास में सामूहिक और व्यक्तिगत जीवन के बीच पटरी बिठाने की चेष्टा भी दिखलाई पड़ती है। रूसी उपन्यासों का तो यह विषय है ही क्योंकि रूस में सामूहिक जीवन के विकास का प्रयत्न हो रहा है और नए समाजवादी यथार्थ में मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना नहीं, उसकी समाजगत चेतना ही अविल है, परन्तु पश्चिमी यूरोप के उपन्यासकार भी एक-दूसरे ढंग से इसी प्रश्न को लेकर चल रहे हैं। उपन्यास ही क्यों, काव्य और नाटक भी मूलरूप से इसी समस्या को लेकर चलते हैं। इब्सन और शा के नाटक और वेल्स की रचनाएँ इस द्वन्द्व को प्रारम्भ में हमारे सामने लाए और उन्होंने मनुष्य की मौलिक समाजमूलकता का उद्घोष किया। बाद में व्यक्तिवाद के समर्थक भी सामने आए और समसामयिक युग में सात्र के नाटकों में यह व्यक्तिवाद अपने सबसे नंगे रूप में दिखलाई देता है। इस समय पश्चिमी यूरोप मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना का प्रतीक है और पूर्वी यूरोप सामूहिक जीवन के प्रयोग कर रहा है। उपन्यास में यह द्वन्द्व स्पष्ट रूप से सामने आता है।

(७) उपन्यास के क्षेत्र में सब से बड़ा परिवर्तन टेक्नीक के क्षेत्र में हुआ है। आज उपन्यासकार निर्वैयक्तिक ढंग से वैयक्तिक होना चाहता है। तटस्थता उसकी कला का प्राण बन गई है। फलतः कथा कहने के विविध ढंगों का उसने आविष्कार किया है। आज उपन्यासकार वस्तु-गत जीवन नहीं देना चाहता। इसी से आज वह कहानी में मनुष्य की सम्पूर्ण आत्मा को ही भर देना चाहता है। उसकी कला आज रूपकात्मक या अभिव्यंजनात्मक है। आन्तरिक संवाद और अन्तश्चेतन-प्रवाहमूलक पद्धतियाँ उपन्यास को आध्यात्मिकता प्रदान करने में समर्थ हैं। वह बहिर्जीवन की खोज न होकर अभ्यान्तरिक जीवन की उपलब्धि हो गया है। नई नई अभिव्यंजना-शैलियों का आविष्कार हो रहा है और भाषा-शैली में नए मार्मिक प्रयोग सामने आ रहे हैं। 'मुक्त आसंग' (फ्री एसोसिएशन) की पद्धति, सांकेतिकता का

३२

पश्चिमी नाटक : इब्सन और शा के बाद

(१)

पश्चिमी नाटक में नव्यतम प्रवृत्तियों का उदय १९२०-२१ के लगभग होने लगता है। इस काल से पहले के नाट्य-साहित्य की विवेचना इब्सन, स्ट्रिण्डबर्ग, शा, चेखव और सिंज को छोड़कर नहीं की जा सकती और यदि हम एक शब्द में पूर्ववर्ती नाट्य साहित्य की प्रमुख विशेषता का अंकन करना चाहें तो 'बौद्धिक नाटक' कहकर हम उसके साथ न्याय ही करेंगे। सबसे बड़ा परिवर्तन यह हुआ है कि जहाँ १९१४-१८ के महायुद्ध से पहले का नाटक अपने युग का चिन्तन मात्र था, वहाँ समसामयिक नाटक युग धर्म की 'अभिव्यक्ति' बन गया है। एक दूसरा परिवर्तन यह है कि नाटक के क्षेत्र में विविधता की वृद्धि हुई है और इसीलिए आज हमें नाटक के पहले सम्यक् विशेषण जोड़कर काम चलाना होता है जैसे प्रकृतिवादी, रहस्यवादी, धार्मिक, जनवादी, साहित्यिक, प्रयोगवादी आदि, आदि। नाटक की विधा में भी परिवर्तन हुआ है और सुबद्ध नाटक अब लालसा का नहीं तो उपेक्षा का विषय तो है ही। यद्यपि नए नाटक के क्षेत्र में अभी न स्थायीत्व आया है, न शा-इब्सन चेखव जैसे महान् और सर्वमान्य कलाकारों के दर्शन होते हैं, परन्तु उसकी सजगता, प्रयोगशीलता और कालानुरूपता में अविश्वास नहीं किया जा सकता। वास्तव में नाटक की प्रकृति ही बदल गई है और शा इब्सन का सुधारवादी और बौद्धिक जादू बहुत कुछ उतर गया है।

पिछले तीन दशकों के नाट्य-साहित्य पर अनिश्चय और स्वप्नभंग की गहरी छाया है। प्रश्न समाधान से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गए हैं और सर्वत्र अशान्ति एवं अव्यवस्था का राज है। ऐसा जान पड़ता है कि समस्त पश्चिमी संसार नई जीवन-दृष्टि के लिए आकुल है और उसे पा नहीं रहा है। प्रकृतिवादी नाटककारों और उनके विरोधी दलों दोनों में चिंता-भीरुता स्पष्ट है, परन्तु यह चकपकाहट हमें न इब्सन के समाजलक्ष्यी नाटकों में मिलती है, न शा की ऊर्ध्वमिन आशावादिता में। अकस्मात् पिरेंदेलो, क्लादेल, सार्त्र, सैलेक्रा, लोर्का, ओनील और टी० एस० इलियट में इस नई चेतना से हमारा साक्षात्कार हो जाता है और हम स्तम्भित रह जाते हैं। आत्मा की यह अशान्ति नाटकीय विधा और शिल्प के क्षेत्र में भी परिलक्षित होती है और निरन्तर प्रयोगों के रूप में सामने आती है। यह स्पष्ट है कि ये प्रयोग प्रयोग के लिए नहीं हैं, उनके पीछे नाटककारों की भीतरी आकुलता है, व्यथा है जो पुराने रूपों में बँध नहीं पा रही है और नए प्रतीक एवं प्रतिमान माँगती है। नए नाटक की यह

द्विधा हमें संकोच और संदेह में डाल देती है और हमारी चेतना को उद्वेलित कर देती है, परन्तु इस परिस्थिति का कोई भी सीधा समाधान नहीं मिलता।

यह स्पष्ट है कि आधुनिक नाटक का स्वर्णयुग समाप्त हो गया है यद्यपि उस स्वर्णयुग की तुलना हम ग्रीक-नाटक-साहित्य अथवा एलिजेबेथ-युगीन नाटक से नहीं कर सकते। इस स्वर्णयुग के पराभव के बाद नाटककारों ने जीवन की नग्नता और विरूपता के चित्रण में कुछ भी उठा नहीं रखा और निराशावाद फैशन बन गया। साहित्य के क्षेत्र में यह निराशावाद एक महती नकारात्मक शक्ति सिद्ध हुआ है और उससे जीवन एवं साहित्य के स्वास्थ्य की हानि ही हुई है। अस्तित्ववादी नाटककारों में भले ही हमें कुछ श्रेष्ठ नाटककार मिल जाएँ, यह निश्चित है कि इन नाटककारों की दृष्टि संकीर्ण है और उन्होंने जीवन को ऐसी विकृति दी है कि स्वाभाविक जीवन और उसके चित्रण के प्रति हमें अनास्था हो गई है। जीवन का संतुलित चित्रण पिछड़ रहा है। जहाँ एक ओर रूस में चेखव, स्तानिस्लेवेस्की, मास्को आर्ट्स थियेटर और गोर्की के बाद एफ़िनागेनेव के 'दूरवर्ती बिन्दु' (डिस्टेण्ट प्वाइंट) के अतिरिक्त अन्य कोई प्रथम श्रेणी की रचना नहीं मिलती एवं समाजवादी यथार्थवाद तथा पार्टी दृष्टिकोण के कारण नाटककार की अभिव्यक्ति-विषयक स्वाधीनता नष्ट हो गई है, वहाँ यूरोप और अमेरिका में व्यक्तिगत प्रयोगों की अराजकता में नाटक और रंगमंच निष्प्राण हो गए हैं।

अंग्रेज़ी नाटक-साहित्य में यह स्तंभन सबसे अधिक दृष्टिगोचर है क्योंकि शा के बाद इलियट का ही नाम इस क्षेत्र में लिया जा सकता है। परन्तु इलियट में उपलब्धि कम है, सम्भाव्य अधिक है। अपने कवि को सुरक्षित रखकर वह कितना आगे बढ़ सकेगा, यही देखना है। अंग्रेज़ी नाटक में चार्ल्स मार्गन, ग्रेहम ग्रीन और क्रिस्टोफ़र फ्राइ जैसे बहुमुखी प्रतिभा वाले मनीषी भी हैं परन्तु अभी तक न तो अंग्रेज़ी का आधुनिक नाटक उस युग की भावुकता अथवा उच्चप्राणता तक पहुँचा है, न चमत्कारवादिता से ऊपर उठकर वह किसी बड़े समन्वय को उभार सका है। सम्भवतः शा के गलत ढंग के प्रभाव के कारण ऐसा है। वास्तव में शा और इब्सन ने सैकड़ों नाटककारों को अनुकरण की ओर प्रेरित किया परन्तु कोई भी उनकी परम्परा को अग्रसर नहीं कर सका। इन सिद्धहस्त महामनीषियों जैसी प्रतिभा किसी में नहीं थी। इब्सन में कवि का हृदय है और 'घोस्ट' ही क्यों, 'डालस हाउज़' में भी वह कवि पहले है, समाजसमीक्षक बाद में। परन्तु इब्सन के नाटकों का प्रभाव सामाजिक विडम्बनाओं को लेकर ही प्रसारित हुआ। 'ब्रांड' और 'पियर गॉट' इब्सन की सर्व-श्रेष्ठ कलाकृतियाँ हैं परन्तु वे चलते सिक्के नहीं हैं। वास्तव में इब्सन और शा ने जहाँ वैचारिक नाटक (प्ले आव आइडियाज़) को सर्वोपरिता दी, वहाँ कल्पना के स्थान पर बौद्धिकता और तर्कवाद को भी प्रश्रय दिया। अल्पप्रतिभासम्पन्न नाटक-कारों के हाथ में पड़कर अंग्रेज़ी रंगमंच जड़ और भावशून्य बन गया। १९२१ में स्थिति यह थी कि प्रचुर मात्रा में नाटकों की रचना होने पर भी यह स्पष्ट था कि अभिनीत नाटक का अभाव ही था। जो भी नाट्य-साहित्य उपलब्ध था, वह कलाशून्य था। रसनिष्ठ रचनाओं के लिये इंग्लैण्ड से बाहर यूरोप, अमेरिका या प्राचीन ग्रीक

नाटक की ओर देखना पड़ता था। पिरेन्देलो अथवा शेक्सपियर के नाटकों में जो भावोन्मुक्ति है, वह शा और इब्सन में कहाँ है ? शा और इब्सन के बाद नाटकीय कला का दीपदण्ड स्पेन में लोर्का, फ्रांस में क्लादेल, जिरादू, सार्त्र, एनाउल, इटली में पिरेन्देलो, अमेरिका में ओनील, विलियम्स और मिलर एवं इंगलैण्ड में इलियट के हाथ में चला गया। उसमें तेज कम था, माधुर्य अधिक। यह युग व्यापारिक मनोरंजन का युग था और व्यक्ति समष्टि में प्रहीत हो गया था परन्तु फिर भी नए नाटककारों ने व्यक्तिगत प्रतिभा के बल पर नई लीकें डालीं। इनमें से कई नाटककार अब हमारे बीच में नहीं रहे हैं, परन्तु आज के नाटककार को नए प्रयोग और स्वातन्त्र्य की जो भूमि वे दे गए हैं, वह उससे कहीं विस्तृत है जो शा और इब्सन दे गए थे।

पिछले तीस वर्षों के प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि नाटक का नवोत्थान तभी सम्भव है जब वह राजनैतिज्ञों और धर्मप्रचारकों के हाथ से निकल कर कलाकारों और कवियों के हाथ में आ जाए। सामाजिकों के प्रति उसकी अपील संवेदना की अपील है, बुद्धिमत्ता की नहीं। कवि-स्वप्न की प्रेरणा और अभिव्यंजना उसे इस तरह प्रेरित करे कि नाटककार का जगत उसका भाव-जगत बन जाए। 'यथार्थ' नहीं, काव्यमय यथार्थ। वस्तुमुखी काव्य ही आज के नाटक की माँग है। इसी भाव सत्य की ओर शा-इब्सन के बाद का नाटक अग्रसर हुआ है। नाटक में रंगमंच के माध्यम से सामाजिक और कलाकार का तादात्म्य होता है और फलस्वरूप, जीवन के महामहिम क्षणों की अनुभूति जैसी नाटक में सम्भव है, वैसी अन्य किसी कला कोटि में नहीं। जीवनानुभूति का चरमोत्कर्ष, आत्मोपलब्धि के अन्यतम क्षण, सुख-दुःख की सघन वास्तविकता और आत्मप्रकाश एवं उल्लास की परिपूर्णता नाटककार के लिए जैसे साहस की पुकारें हैं। उसे उत्कृष्ट कवि बनकर इस पुकार की चुनौती को स्वीकार करना होगा। उसे संकल्प-विकल्प के योगायोग से हटकर बुद्धि से परे के भावनवलित कल्पना-लोक की ओर बढ़ना होगा जहाँ कुछ भी असम्भव और अप्रत्याशित नहीं है।

(२)

शा की सर्वज्ञता के समकक्ष जब हम पिरन्देलो के संदेह और अल्पज्ञता के स्वरों को रखते हैं तो हमें दो जगतों के अंतर का स्पष्ट आभास हो जाता है। पिरेन्देलो ने एक स्थान पर कहा है "हम सचमुच दूसरों का क्या जानते हैं। वे कौन हैं—कैसे हैं—क्या करते हैं—क्यों करते हैं ?" मनोविज्ञान की नई खोजों ने नाटककार की धारणाओं को झकझोर दिया है और आज न तो वह सुबद्ध कथानक को लेकर चल सकता है, न पात्रों की चारित्रिकता के सम्बन्ध में संदेहशून्य रह सकता है। अन्तर्जगत की जिस प्रवहमान चेतना को लेकर वह चलना चाहता है, वह अबूझ, रहस्यमय और विस्फोटगर्भित है। फलतः पात्र की 'पात्रता' आज कहाँ स्थिर की जाए ? पिरेन्देलो जीवन को समवाही मान कर चलना चाहता है, परन्तु जीवन की अनिश्चितताएँ पग-पग पर उसे चुनौती देती हैं। उसका कहना है "जीवन में

समवाहिता और गति दोनों होनी चाहिए। परन्तु यदि जीवन निरन्तर गतिशील होगा तो उसमें स्थिरता कहाँ होगी और स्थिरता हुई तो गतिशीलता का क्या होगा ?" गति और स्थैर्य के इस द्वन्द्व से पिरन्देलो की नाटकीय कला ग्रस्त है, ऊपर उठ नहीं पाती। इसी का फल यह हुआ है कि उसे अपने नाटकों की शिल्पविधि को नए सिरे से गढ़ना पड़ा है। पिरन्देलो के नाटकों में 'अकहा' कहे से बड़ा है। इसीलिए उसके नाटकों को मौनाभिनय के नाटक (थियेटर दे साइलेन्स) कहा गया है। उसके नाटकों में कवि का स्वप्न है, कवि की वाणी नहीं। उसका जीवनदर्शन है कि मनुष्य इकेला है, व्यक्ति समष्टि के जीवनप्रवाह में खो जाता है और अपने सम्बन्ध में उसका भ्रम-मात्र शेष रहता है। इस जीवनदृष्टि के कारण पिरन्देलो के नाटक घोर निराशावादी हैं।

परन्तु पिरन्देलो के निराशावाद के पीछे उसकी वैयक्तिक अनुभूति का बल है और उसके जीवन-चक्र से उसकी अनुभूति की वास्तविकता और अनिवार्यता की पुष्टि होती है। उसके साहित्य में जिन पात्र-पात्रियों से हम परिचित होते हैं, वे उसके अपने अन्तर्जीवन और आभ्यन्तर व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया हैं। अनेक वर्षों तक पिरन्देलो ने घोर मानसिक यातना का अनुभव किया है और सत्य-मिथ्या की विभाजक-रेखाएं उसके लिए जैसे नष्ट हो गई हैं। फलस्वरूप उसके साहित्य में भी सत्य और कल्पना का द्वन्द्व मिट गया है और उसके सभी पात्र नकली चेहरे पहने आते हैं, परन्तु ये नकली चेहरे सच्चे चेहरों से कहीं अधिक सत्य और प्रभावशाली हैं। वास्तव में, पिरन्देलो ने निराशावाद को कला बना दिया है। उसके अनुसार वास्तविकता क्षणिक और अचिर है, सर्वनाश ही जीवन का एकमात्र सत्य है। अस्थिरता और सर्वनाश के तत्त्व को उसने इतनी बार और इतनी सूक्ष्मता से विवेचित किया है कि उसके नाटक अपनी क्रियाशीलता खोकर बौद्धिक ऊहापोह मात्र रह जाते हैं। उनमें मानव-मन की वैज्ञानिक परख है। इन नाटकों से पाठकों और सामाजिकों के अन्तर्बद्ध द्वैधों का ग्रंथिमोचन हो जाता है और स्वयं नाटककार के चक्करदार समाधान उन पर हावी हो जाते हैं। परन्तु जहाँ सामान्य निराशावादी नाटककार कथा और पात्रों में विश्वास नहीं पैदा करा सकते, वहाँ पिरन्देलो का निराशावाद बुद्धिगम्य ही नहीं, भावगम्य भी है। इसका कारण है, पिरन्देलो का अप्रतिम मानव-प्रेम। जीवन के अक्षय सौन्दर्य और उसकी महान् संभावनाओं को जर्जरित देखकर ही नाटककार उद्वेलित हो उठता है और उसकी यह परार्थमूलक आध्यात्मिकता हमें आत्मविभोर कर देती है।

यह सूक्ष्मता पिरन्देलो के नाटक-साहित्य को रहस्यमय बना देती है। कुछ आलोचकों ने यह लांछा लगाई है कि नाटककार जीवन के प्रति पलायनशील है, कि उसने प्रकृतिवाद को छोड़कर बौद्धिक नाटक अथवा मनःनाट्य के पिरामिड खड़े किए हैं, कि उसमें अतिप्राकृतवाद के प्रति आग्रह है कि कविता और कल्पना का पर्याप्त उपयोग उसके साहित्य में नहीं हो सका है। उसकी रचनाओं को ह्रासोन्मुख बतलाया गया है। स्वयं पिरन्देलो अपने एक ग्रन्थ (सिक्स करेक्टर्स) में अपने नाटकों के सम्बन्ध में कहता है कि उन्हें कुछ थोड़े सम्भ्रांत जन ही समझ सकते हैं और न अभिनेता उनसे आश्वस्त हैं, न समीक्षक, न जनता। इससे यह स्पष्ट है कि वह

अपनी दुर्बलताओं से परिचित है, परन्तु क्या यही तत्त्व पिरेन्देलो की नाट्यकला को भी व्यक्तित्व नहीं देते।

निराशावादी होते हुए भी पिरेन्देलो ने जीवन की विकृतियों का बड़ा सुन्दर खाका खींचा है। जीवन के मुख पर चेहरे चढ़ा दिए गए हैं और ये कभी कभी बड़े हास्यास्पद सिद्ध होते हैं। इन्हें देखकर हम हँसते हँसते लोटपोट हो जाते हैं, परन्तु हमारी हँसी के तल में पीड़ा छिपी होती है। पिरेन्देलो ने हास्य, विनोद, व्यंग और परिहास के द्वारा इस विरोधाभास का पर्दा उतारा है। उसका कलाशिल्प अपूर्व है और उसके संवाद इतने सुगठित, त्वरित और सक्षम हैं कि उनके द्वारा असली-नकली चेहरों के द्वन्द्व को वह बड़ी सफलता से अंकित कर सका है। यह अवश्य है कि पिरेन्देलो के पात्रों में प्रियता नहीं है, क्योंकि स्वयं लेखक के मन में मनुष्य के प्रति आस्था नहीं है और वह महान् चरित्रों की अवतारणा करना नहीं चाहता। सभी चरित्र सामान्य भले-बुरे प्राणी हैं। जब वे अपने नकली चेहरे उतार कर सामान्यता की भूमि पर उतर आते हैं, तब उनमें एक प्रकार का व्यक्तित्व भी स्थापित हो जाता है। पिरेन्देलो व्यक्तिवाद का पुजारी है परन्तु उसका व्यक्तिवाद अतिमानवता के स्थान पर सामान्य मानवता का उद्बोधक है।

पिरेन्देलो की व्यक्तित्व-सम्बन्धी विचारधारा स्ट्रिंडबर्ग की विचारधारा से मिलती-जुलती है। उसका विचार है कि हम में से प्रत्येक का सत्य दूसरे के सत्य से भिन्न है। हम समझते हैं कि हमारा व्यक्तित्व एक इकाई है परन्तु वस्तुतः उसमें कई व्यक्तित्वों की संहृति है। किसी के लिए हम कुछ हैं, दूसरे के लिए कुछ अन्य। इस निरंतर विभिन्नता और विविधता पर भी हम इस भ्रम में पड़े हैं कि हमारा व्यक्तित्व सभी के लिए समान है। हमारे व्यावहारिक जीवन में यह भ्रम न जाने कितनी विडम्बनाओं की सृष्टि करता है। स्ट्रिंडबर्ग मनुष्य के प्रत्येक कर्म के पीछे अनेक प्रेरणा सूत्र कल्पित करता है। अपनी प्रवृत्ति के अनुसार प्रेक्षक अथवा सामाजिक उनमें से किसी एक को ग्रहण कर सकता है और इसी से उसके नाटकों की संवेदना भिन्न-भिन्न पाठकों के लिए भिन्न-भिन्न है। परन्तु पिरेन्देलो अन्तर्विरोध का समाधान द्वंद्वात्मक तर्कवाद से करना चाहता है। फलस्वरूप उसके नाटकों में सिद्धान्त की प्रधानता हो जाती है और क्रियाशीलता का अभाव रहता है। उसके नाटक व्यक्ति के आभ्यन्तर जगत की विशृंखलता और नाटकीयता पर आधारित हैं। दर्पण बाहर नहीं है, स्वयं पात्र के भीतर है। इसी से पिरेन्देलो के पात्र उसकी मन-प्रक्रिया की सृष्टि होने के कारण कठपुतली मात्र हैं। रंगमंच पर उन्हें मानविकाय देना सचमुच बड़े कलाकार का काम है।

जो हो, यह स्पष्ट है कि पिरेन्देलो ने अपने समय के नाटक और रंगमंच को नवजीवन दिया। प्रकृतिवाद उस समय तक अपनी समस्त सम्भावनाएँ समाप्त कर चुका था और किसी ऐसे कलाकार की माँग थी जो जीवन को नए परिपार्श्व दे सके। चाहे पिरेन्देलो के नाटकों में कुंठा, अतिशायी सूक्ष्मता और विषमसम्बन्धी पुनरुक्ति हो, यह निश्चित है कि आधुनिक नाटक को उसने एकदम नए चौराहे पर खड़ा कर दिया और परवर्ती नाटककला को आत्यंतिक रूप से प्रभावित किया।

जीन जिराउदो, जीन एनाउल, उगो वेट्टी, प्रीस्टले, थार्न वाइल्डर, टेनेसी विलियम्स और लगभग सभी अस्तित्ववादी कलाकारों ने उससे प्रभाव ग्रहण किया है। सच तो यह है कि ये सभी (और अन्य अनेक) नाटककार विरोध और संगति के अनेक सूत्रों द्वारा पिरेन्देलो की नाट्यकला से आबद्ध हैं। आधुनिक नाटक में इतनी व्यापक प्रभावशीलता कदाचित् किसी भी अन्य नाटककार को प्राप्त नहीं हुई है। १९३४ में नोबुल पुरस्कार से सम्मानित होने पर पिरेन्देलो की कीर्त्ति को दिगन्त-व्यापी विस्तार मिला है। उसकी सर्वविश्रुत रचना 'सिक्स करेक्टर्स इन सर्च ग्राव एन ग्रावर' है जिसमें उसने संवेदनाशील नाटककार के अन्तर्द्वन्द्वों को अत्यन्त कलात्मक रूप से अभिव्यंजित किया है।

पिरेन्देलो के विपरीत जीन जिराउदो में हमें एक अदम्य आशावादी के दर्शन होते हैं। जीवन की असंगतियों के प्रति वह भी विश्वासी है, परन्तु वह ऐसे स्वप्न-देश की कल्पना कर लेता है जिसमें इन असंगतियों का समाधान हो जाता है। पिरेन्देलो के लिए जीवन का अनिश्चय विषाद की वस्तु है, परन्तु वही जिराउदो के लिए आशाप्रद है। उसके नाटकों में पिरेन्देलो के मनःनाट्य का स्थान फ्रांसीसी तर्कशास्त्र ने लिया है। जिस अन्तर्दर्पण की सृष्टि पिरेन्देलो ने की थी, उसे उसने अपने तर्कवाद के प्रहार से चकनाचूर कर दिया है। दुःख, पीड़ा और असंगतियों के बावजूद भी जीवन जीने योग्य है और अन्ततः जो होता है वह ठीक ही होता है। यह है जिराउदो का नाट्य-जगत। जीवन दुःखान्त है, परन्तु मनुष्य उसे साहस-गाथा क्यों नहीं बना ले। मृत्यु क्या जीवन का अन्तिम साहसी प्रकरण नहीं है? मनुष्य की मंज़िल मरण नहीं है, जीवन है। जिराउदो भी प्रकृतिवाद का विरोधी है। उसने कल्पना और अवास्तविकता को वास्तव से अधिक प्रामाणिक बना दिया है। १७वीं शताब्दी के उत्कर्ष के बाद नाटकों के क्षेत्र में फ्रांस का नवोत्थान जिराउदो से ही आरम्भ होता है। १९१४ से पहले यूरोपीय नाटक और रंगमंच के मानचित्र में फ्रांसीसी नाटक और रंगमंच का कोई स्थान नहीं था। इब्सन, शा और चेखव की धूम थी। दूसरे देशों में प्रकृतिवाद का बोलबाला था, परन्तु वह फ्रांसीसी चरित्र के विपरीत पड़ता था। एन्त्वोन के थियेटर लिबरे की स्थापना के बाद जेक कपो के द्वारा फ्रांसीसी थियेटर में अभिचार और कल्पना का प्रत्यावर्त्तन हुआ यद्यपि कोई अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का नाटककार जन्म नहीं ले सका। फ्रांस के नाटककार तर्क-संगति और बुद्धिव्यापार के सामान्य क्षितिज से ऊपर उठकर असम्भाव्य और अप्रत्याशित के स्वप्न-लोक में विचरने के आदी रहे हैं। महायुद्ध से पहले के फ्रांसीसी नाट्य-जगत में जेक कपो (१८७८-१९४९) के रंगमंचीय प्रयत्न महत्त्वपूर्ण हैं। उनके लिए रंगमंच न तो जीवन की अनुकृति था, न जीवन-खण्ड मात्र। वह जीवन के सर्वाधिक संवेदित क्षणों में पलायन का साधन और इस पलायन की व्याख्या था। फलतः नाटक में कोई भी ऐसी बात उचित नहीं थी जो उनकी भाषा और काव्य-मयता के विपरीत पड़े। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर पेरिस विश्व की सांस्कृतिक राजधानी बना और १९२१ के लगभग नए कला-प्रयत्न सामने आए। नव्य नाटक के उत्थान में जार्जे, लुदमिल पितो और गेस्तां देती के नाम उल्लेखनीय हैं।

जीन जिराउदो के नाट्य प्रयास इस भूमिका पर और भी महत्वपूर्ण हो जाते हैं। इन नाटकों में हम उसे उत्कृष्ट गद्य शैलीकार के रूप देखते हैं। उसकी भाषा काव्यात्मक है और दार्शनिक विचारावलि एवं व्यंग-परिहास से गर्भित है। दैनंदिन जीवन की बोलचाल से वह बहुत परे है। जिराउदो का विश्वास है कि नाटक के क्षेत्र में शैली का पुनर्स्थापन आज के नाटककार की विशेषता होनी चाहिए। इसीलिए उसके नाटक कला की वस्तु बन गये हैं। उसके नाटक कर्ममूलक नहीं, वार्त्तामूलक हैं। उनमें अभिनीत मुद्राएं नहीं हैं, विचारों का द्वन्द्व है। अपनी इन साहित्यिक विशेषताओं के कारण जिराउदो के नाटक अनुवाद-योग्य नहीं हैं। उनके रूपांतर अवश्य हुए हैं परन्तु उनमें मूल का काव्य-सौन्दर्य नहीं आ पाया है। नाटककार के शब्द-प्रयोग इतने व्यक्तिगत एवं सूक्ष्म हैं कि वे सामान्यतः पकड़ में नहीं आते। जिराउदो की जीवन-दृष्टि आदर्शवादी है। वह चमत्कारों में विश्वास नहीं करता। मनुष्य के प्रति उसकी अदम्य आस्था है और तर्क-वितर्क तथा बौद्धिक संवेदन के द्वारा मानवीय समस्याओं के समाधान को वह सम्भव मानता है। जिराउदो के मत में जीवन न सुखान्त है, न दुखान्त। यहाँ अश्रु-हास की रेखाएं मिली-जुली हैं। आधुनिक नाट्य-कला सुखांत-दुखांत के अलग-अलग प्रकार स्वीकार नहीं करती क्योंकि अश्रु से हास का जन्म सम्भव है और हास में अश्रु सन्निहित रह सकते हैं। फलतः जिराउदो के साहित्य में अश्रु-हास, स्वप्न सत्य, सम्भाव्य-असम्भाव्य के सीमांत घुल-मिल गए हैं। उसमें मन के आदर्श जगत को वस्तुमुक्त यथार्थ की परिभाषा दी गई है।

क्लाउदेल और जिराउदो में हम फ्रांसीसी नाट्य साहित्य के अन्तर्गत प्रकृतिवाद के विरुद्ध उस प्रतिक्रिया का आरम्भ पाते हैं जो प्रभाववाद (इम्प्रेशनिज्म) को जन्म देती है जो अपने साथ नये आदर्श और नई सौन्दर्यदृष्टि लाता है। इस नये आन्दोलन के मूल में व्यक्ति के प्रति सम्मान का भाव है और उसकी संवेदनशीलता के प्रति अधीन है। परन्तु प्रकृतिवाद के विरुद्ध सबसे प्रखर प्रतिक्रिया जर्मनी में दिखलाई पड़ती है जहाँ १६२७ तक अभिव्यंजनावाद का आन्दोलन चलता रहा। इस आन्दोलन ने पुराने समस्त मूल्यों को झकझोर डाला परन्तु वह पिरेन्देलो, जिराउदो अथवा क्लाउदेल जैसे किसी उत्कृष्ट कलाकार को जन्म नहीं दे सका। फिर भी इस आन्दोलन का जर्मनी की सर्जनात्मक प्रतिभा पर गहरा प्रभाव पड़ा है और हिटलर युग में तथा उसके बाद भी इस प्रभाव की परम्परा बनी रही है। एक तरह से नाटक के क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद को हम अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन कह सकते हैं और फ्रांस को छोड़कर समस्त यूरोप और अमेरिका में उसका प्रभाव रहा है। परन्तु कदाचित् जर्मनी की प्रकृति से उसका मेल अधिक था और यहीं उसने सबसे गहरी जड़ पकड़ी। यह कहा जाता है कि इस आन्दोलन की मूल प्रेरणा स्ट्रिण्डबर्ग के स्वप्न नाटक थे। इस नाटक के फलस्वरूप जो नाटक हमें प्राप्त हुए उनमें भावोल्लास और रहस्यमयता का विचित्र मिश्रण था और तर्क एवं बौद्धिक प्रक्रिया के स्थान पर आदिम संवेदनाओं और कुंठाओं को महत्त्व प्राप्त था। ये निर्वैयक्तिक नाटक थे क्योंकि नाजीवाद में व्यक्तिगत कल्पना का बाध था। इस

आन्दोलन को हम संगठित आन्दोलन नहीं कह सकते क्योंकि विभिन्न नाटककारों के मनोनिवेश और नाट्य-प्रक्रियाएँ भिन्न हैं। फ्रैंक वेडेकाइन्द (१८६४-१९४५), कार्ल स्टर्नहेम (१८७८-१९४३), जार्ज कैसर (१८७८-१९४५), अर्नस्ट टालर, फ्रिट्ज़ वान उनरो, वर्थोल्ट ब्रेश और वाल्टर हेसेनक्लेवर इस वर्ग के नाटककार हैं। इसमें कदाचित ब्रेश (१८९५-) सर्वोत्कृष्ट है जिसने अभिव्यंजनावादी नाटक को 'महाकाव्यात्मकता' दी और 'ऐपिक थियेटर' का निर्माण किया। ब्रेश के महाकाव्यात्मक प्रयोगों में जीवन की विस्तृति की योजना है "और कहीं-कहीं, जैसे उसके प्रथम नाटक 'द काकेशियन सर्किल आव चाक' में, वह दो कथानक लेकर चलता है जो परस्पर पूर्वपर चलते रहते हैं। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के प्रयोगों में स्थापक ही सर्वोपरि है और कण्ट्रोल रूम का स्विचबोर्ड ही सब कुछ बन जाता है। इसमें सदेह नहीं कि इस योजना से जीवन की विशदता का आभास मिल जाता है और कभी-कभी स्मरणीय क्षण भी आ जाते हैं, परन्तु इस पद्धति की भी सीमाएँ हैं। फिर भी यह स्पष्ट है कि कम-से-कम 'मथर करेज' में ब्रेश एक अत्यन्त उत्कृष्ट रचना उपस्थित कर सका है। इस रचना में जनता की अपराजिता शक्ति की महागाथा है। दूसरे महायुद्ध के बाद से जर्मनी अपने पुनर्निर्माण में व्यस्त है, परन्तु कला और संस्कृति के क्षेत्र में वह अधिक कुछ नहीं कर सका है। इस बीच में जर्मन भाषा में जो उत्कृष्ट कृतियाँ आई हैं वे स्विट्ज़रलैण्ड और आस्ट्रिया से आई हैं, जर्मनी से नहीं। उनकी पृष्ठ-भूमि ही दूसरी है। वास्तव में जर्मन नाटक में समस्याएँ और मूल्य महत्त्वपूर्ण होते जा रहे हैं और नाटकीय उपकरणों तथा कलात्मक सौन्दर्य की ओर लौटने के कोई चिह्न दिखाई नहीं देते।

इन आन्दोलनों से हटकर नए प्रयोगों और नई परम्पराओं के निर्माण का प्रयत्न भी पिछले वर्षों में हुआ। बदलते हुए जीवन के मूल्यों को नई अभिव्यंजना चाहिए। फलस्वरूप, नये क्षितिजों का निर्माण हुआ है। आज के नाटककार की खोज व्यक्तिगत है। नये जीवन की सम्यक् अभिव्यक्ति की चुनौती नई दिशाओं और नूतन नाट्य-प्रक्रियाओं को जन्म दे रही है। इस क्षेत्र में ग्रेशिया लोर्का, जीन काकतो और इयोगीन ओनील प्रमुख हैं। इनके कला प्रयोग विभिन्न और व्यक्तिगत हैं और इनमें से कदाचित् लोर्का को ही कला के क्षेत्र में स्थायीत्व प्राप्त हुआ है। स्पेन के गृहयुद्ध में लोर्का की मृत्यु से नाट्य-जगत को जो क्षति हुई है वह एकदेशीय नहीं, सार्वभौमिक है। यह कहना कठिन है कि लोर्का का अगला कदम क्या होता क्योंकि वह बराबर करवटें बदलता रहा है, परन्तु जनभाषा, लोकवार्ता और जननाट्य के क्षेत्र में उसके प्रयोग अभूतपूर्व हैं। उसने जनजीवन के दुःखांत को वाणी दी है और उसके श्रेष्ठ नाटकों में कथागीति की सहिति और प्रभावान्विति है।

वास्तव में लोर्का के नाटक लोक-नाटक हैं और उनकी कोटि ही अलग है। कलाकार की जादुई शक्ति और प्रतिभा का वास्तविक प्रकाश उसके साहित्य में है। लोर्का के नाटकों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उनमें स्पेन की आशाएँ और पीड़ाएँ, उसके आचार-व्यवहार, उसके निवासियों की प्रकृति, उसका जीवन-मरण मूर्त्तिमान हो उठे हैं। राष्ट्रीयता के भीतर से ही उसने सार्वभौम मानव-संदेश

प्रस्तुत किया है। लोर्का मनसा-वाचा-कर्मणा स्पेननिवासी है। स्पेन के जीवन की प्रतिवादिता उसके साहित्य में है। कठोरता और कोमलता का ऐसा मिश्रण समस्त यूरोप में नहीं मिलेगा। इस अतिवाद के कारण स्पेन के जीवन का आकर्षण भी बढा-चढा है। वहाँ जीवन की उत्कट अभिलाषा के साथ मृत्यु की शीतल छाया का प्रसार है। स्पेन के जीवन ने मरण को प्यार ही नहीं किया है, उसे पग-पग पर चुनौती दी है। सच तो यह है कि स्पेन यूरोपीय इतिहास चक्र से बहुत कुछ अलग रहा है और उसकी संस्कृति एकाकी रही है। फलत कवि और कलाकार सीधे जनता तक पहुँचे हैं। उन पर क्लासिकल साहित्य (ग्रीक-लेटिन) की प्रतिच्छाया बहुत कम पडी है। कला और संगीत के क्षेत्र में भी राष्ट्रगत प्रवृत्तियों का ही संचय हुआ है। लोर्का ने इसी परम्परा से बल ग्रहण किया है। जनजीवन के छन्दों और लोकवार्ता के आधार पर उसने कथागीत लिखे हैं जो संसार भर में प्रसिद्ध हैं और उसे उत्कृष्टतम अधुना गीतिकवि के रूप में प्रस्तुत करते हैं। नाटक लिखते समय भी वह नाटककार की अपेक्षा कवि ही अधिक ही अधिक है। रंगमंच की दृष्टि से भी वे महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि उनमें अभिनेताओं और प्रेक्षकों के अंतराल को कम करने का प्रयत्न किया है।

काक्तो ही यूरोपीय कलाकारों में ऐसा कलाकार है जिसने इस शताब्दी के दूसरे दशक से अब तक कलात्मक अभिव्यंजना के साधनों की खोज जारी रखी है और जो क्षण भर को हताश नहीं हुआ है। अनेक कलारूपों और प्रयोगों को उसने अपनाया है और प्रत्येक शिखर उसके लिए सोपान बन गया है। उसे किसी भी साहित्यिक सम्प्रदाय अथवा आन्दोलन में बाँधा नहीं जा सकता। उसने प्राचीन ग्रीक पुराण-कथाओं, मध्ययुगीन दन्तकथाओं, एलिजबेथ युग के नाटकों, क्लासिकल त्रासदी और रोमांटिक कथाओं की नाटकीय अनुकृति हमें दी है। वास्तव में उसके साहित्य में समस्त यूरोपीय नाट्य साहित्य की उद्धरिणी हो गई है, परन्तु उसमें उसका निजत्व बराबर बना रहा है। जीवन के प्रति वह कभी विश्रान्त नहीं हुआ है और सौन्दर्य के प्रति युवोचित जिज्ञासा उसमें बराबर बनी रही है। अपने अतिवादी सुररियलिस्ट प्रयोगों में भी काक्तो ने हमारे परिचित संसार को ही कविता की वाणी दी है। 'आरफी' नाटक में उसने मृत्यु को सुंदर तरुणी के रूप में उपस्थित किया है। अनभाव्य और अप्रत्याशित भी उसके काव्य में मनहर बन गया है। उसके साहित्य की स्फूर्ति और विविधता सचमुच ही सराहनीय है।

अमेरिका के प्रमुख नाटककारों में इयूजीन ओनील का नाम आता है। उसे हम उत्पीडनप्रिय कलाकार कह सकते हैं क्योंकि उसके ३७ नाटकों में से पाँच ही ऐसे हैं जिनमें हत्या, मृत्यु, आत्मघात अथवा पागलपन नहीं है। उसके लिए यह जीवन पीडा की अबूझ पहेली है। अपने अन्तिम नाटक 'द आइसमेन कमेथ' में उसने मनुष्य की असफलताओं का कारण यही माना है कि उसने जीवन के सत्य को छोड कर उसे कल्पनामण्डित कर लिया है। ओनील के नाटक सुबद्ध नाटक हैं और उनमें रंगमंचीय ज्ञान का अच्छा उपयोग है। उसने ग्रीक नाटकों के कथानकों को फ्राइडियन मनोविज्ञान के आधार पर नया संस्कार दिया है। वातावरणनिर्माण में तो वह

अनुपम है। परन्तु उसे हम विश्व के महान् कलाकारों के समकक्ष नहीं रख सकते। स्ट्रिंडबर्ग और अन्य यूरोपीय नाटककारों से उसने काफ़ी सीखा है परन्तु वह स्वयं प्रथम श्रेणी का कलाकार नहीं कहा जा सकता। फिर भी उसे यह श्रेय प्राप्त है कि उसने अमेरिकन नाटक को प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा किया और उज्ज्वल भविष्य के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

१९४६ में ओनील का 'द आइसमेन कमेथ' सामने आया और रंगमंच पर अभिनीत हुआ। इसके बाद यूरोपीय नाटक-साहित्य में घोर निराशा और अवसाद का युग आता है जो अभी चल रहा है। सार्त्र, सेलेक्रा, लुसी क्लान्देल, एनाउल, आर्थर मिलर और टेनेसे विलियम्स पिछले दशक के सर्वप्रमुख नाटककार हैं। दुःख और अवसाद के प्रति इनका दृष्टिकोण समान नहीं है और नाटककार के रूप में भी उसमें कई सरणियाँ हैं, परन्तु यह निश्चय है कि उनका दृष्टिकोण एकांगी और असम्पूर्ण है और उसमें महान् कलाकारों के दृष्टिकोण जैसी विस्तृति नहीं है। सम्भव है, उनके नैकट्य के कारण हम उनके प्रति न्याय नहीं कर सकें, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि उनका दुःखवाद संकल्पात्मक है और सम्भावना यह दिखलाई देती है कि शीघ्र ही अधिक उदार और अन्तर्योजित क्षिजित के दर्शन होंगे। ऐसा हुआ तो नए नाटक के स्वास्थ्य के लिए अच्छा ही होगा।

साहित्यिक और कलात्मक दृष्टि से दुःखवाद को किसी भी प्रकार लांछित नहीं किया जा सकता क्योंकि महान् क्लासकीय नाटककार और दुःखवादी कलाकार जीवन के महान् उद्घाटक रहे हैं। उनके जीवन-स्वप्न व्यक्तिगत, सर्जनात्मक और सार्वकालिक थे। आधुनिक युग के दुःखवाद से इन महास्रष्टाओं के दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर है। आधुनिक दुःखवाद निर्वैयक्तिक और तटस्थ है, उसकी व्याख्या सूक्ष्म और विशिष्ट है, उसमें भावोत्तेजना अधिक है। उसमें मानव-सभ्यता के प्रति आक्रोश की प्रधानता है। प्राचीन कलाकारों का दुःखवाद जहाँ जीवन को प्रतिभासित करता है, वहाँ आधुनिक कलाकारों की दुःखवादी रचनाएँ जीवन को अन्धकारमय बना देती हैं। टामस हार्डी और पिरेन्देलो जैसे आधुनिक दुःखवादियों में हमें अंशतः उस महानता की झलक मिल जाती है जो ग्रीक क्लासकीय नाटककारों की विशेषता है। उनकी जीवन-धारणा और उनके मानसिक क्षितिज में अन्तर है और वे नए निराशा-वादियों की तरह स्वच्छन्दतावादी पीड़ावाद के आधार पर अपनी जीवनदृष्टि और अभिव्यंजना-शैली का निर्माण नहीं करते। आधुनिक दुःखवादी रचनाओं में युग की विशृंखलता अवश्य प्रतिबिम्बित है परन्तु अधिकतः उनमें पीड़ा को प्रसाद मान लिया गया है। हमारे युग के दुःखवादी कलाकार जीवन की समीक्षा में आस्था रखते हैं, उसके पुनर्निर्माण अथवा सर्जन में नहीं। कहीं-कहीं यह समीक्षा भ्रामक आधारों पर आश्रित हो जाती है और फलस्वरूप उनकी समस्त प्रेरणा नकारात्मक और संक्रमा-त्मक सिद्ध होती है। दुःखवाद का सबसे व्यापक उपयोग अस्तित्ववादी कलाकारों ने किया है और उनकी रचनाएँ बड़ी उत्पीड़क रही हैं, परन्तु उनके सीमित क्षेत्र के बाहर भी दुःखवाद का फैशन रहा है। वास्तव में, इंगलैण्ड को छोड़कर समस्त यूरोप और अमेरिका का आधुनिक साहित्य दुःख, उत्पीड़न और निराशा से आक्रान्त

है और अंग्रेजी लेखकों, जैसे जे० बी० प्रीस्टले 'दे केम टु द सिटी' में का आशा-वादी दृष्टिकोण निराशावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया ही अधिक लगता है। उनमें स्वाभाविकता और स्वास्थ्य के दर्शन नहीं होते।

जैसा स्वाभाविक ही था, दो महायुद्धों की विभीषिका में यूरोप को ईसाई धर्म-सिद्धान्त और जीवन-व्यवहार के पराभव का अनुभव हुआ और नए जीवनादर्श के अभाव मे परवर्ती शांति उसके लिए खोखली और अर्थशून्य बन गई। निराशा-वाद का दर्शन पराजित जर्मनों के अस्थिर जीवन और द्वन्द्वात्मक मन की उपज था परन्तु इसकी किसी को भी कल्पना नही थी कि अस्तित्ववादी जीवनदर्शन और कला के रूप में उसको इतनी विकृत यद्यपि सशक्त अभिव्यक्ति प्राप्त होगी। फिर भी यह निश्चित है कि यह दु:खवाद उतना व्यापक नहीं है जितना अनुमान किया जाता है। वह विशिष्ट वर्गों की भावना सृष्टि है, साधारणीकृत मनोवृत्ति नहीं। उसके मूल में युद्धोत्तर अस्थिरता, अनास्था और अविचारता है। स्पेन, रूस और जर्मनी के शरणार्थी जहाँ पहुँचे, वहाँ जीवन आन्दोलित और विचलित हो उठा और धीरे-धीरे अनास्था ने घोर निराशा का रूप ग्रहण कर लिया। मूलत: उसके पीछे नए धर्म एवं नूतन जीवनदर्शन की माँग थी।

युद्धोत्तर-काल के असंतोष और अनिश्चय ने निराशावाद को और भी प्रश्रय दिया। उसके भीतर अनेक धारणाओं और अभिव्यक्तियों का विकास हुआ। किसी विशिष्ट साहित्य-सम्प्रदाय के रूप में उसका संगठन नहीं हुआ परन्तु विभिन्न दृष्टि-कोणों एवं व्यक्तियों में आदान-प्रदान के चिह्न स्पष्ट हैं। १९२० के लगभग मार्टिन हेडेगर के जीवन-दर्शन और बाद में अस्तित्ववाद के समर्थक लेखकों ने निराशावाद की ओर साहित्य को मोड़ा। कतिपय कैथोलिक उपन्यासकारों ने कुछ समय बाद उस युग के आध्यात्मिक द्वन्द्वों का चित्रण किया और अन्त में राजनैतिक भूमि पर शरणार्थी साहित्यकारों ने इस प्रवृत्ति को स्थायीत्व दिया। धीरे-धीरे यह भाव इतना सघन हो जाता है कि इसका एकाकीपन साफ झलकता है और मन प्रतिक्रिया से पीड़ित होने लगता है। सार्त्र, केमस, साइमन द बोवाई, फ्रांसिस मारी, ग्रेहम ग्रीन, आर्मन्द सेलेक्रा, आर्थर मिलर और टेनेसे विलियम्स युद्धोत्तर काल की दु:खवाद की अग्रपंक्ति में दिखलाई पड़ते हैं। सेमुअल बेकेट के प्रतीक-नाटक 'एन अटेन्डेन्ट गोदो' (गोदा का प्रवेश) में एक ऐसे अन्धकारमय जगत का चित्रण किया गया है जहाँ अनिश्चय, आत्मप्रताडन और अवसाद का राज्य है। सार्त्र की रचनाओं से भी अधिक इस नाटक ने युद्धोत्तर साहित्य-जगत के दृष्टिकोण को प्रभा-वित किया। इस ग्रन्थ को हम दु:खवाद की गीता कह सकते हैं। फिर भी यह निश्चित है कि पिछले दस वर्षों के नाटककारों में सार्त्र की रचनाएँ ही परिमाण, अभिव्यंजनाशक्ति और विचारोत्तेजन में सर्वश्रेष्ठ हैं और उनकी नाटकीय भूमि भी अन्य लेखकों की रचनाओं से अधिक सुदृढ़ है। सार्त्र की रचनाओं की जीवनदृष्टि का अपना महत्त्व है क्योंकि उसके द्वारा उसने अपने अस्तित्ववादी दर्शन का प्रचार किया है। क्यों यह मलीमून पीड़ा युग मानस पर छाई है, कहना कठिन नहीं है। पिछले दो महायुद्धों में समाज इतना जर्जरित नहीं हुआ है जितना मनुष्य का मन

और उन्नीसवीं शती के पूंजीवादी-महाजनी व्यवस्था के भौतिकवादी वैभव और डार्विन के विकासवाद से ध्वस्त ईसाई धारणाओं के लोप के कारण भावक्षेत्र में एक ऐसा अन्तराल उपस्थित हो गया है कि मानवीय चेतना पीड़ित हो उठी है। अधिकांश लेखकों और कलाकारों के लिए वर्त्तमान का अतिक्रमण करना कठिन है और, फलस्वरूप वे जीवन की विडम्बनाओं से परास्त हो गए हैं। महान् लेखक ही वर्त्तमान की क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर उदात्त क्षणों का सर्जन कर सकते हैं। यह स्मरण रखना होगा कि महायुद्ध अथवा कोई भी अन्य विभीषिका जीवन के नैरंतर्य में व्याघात नही पहुँचा सकती और जीवन जिजीविषा का ही दूसरा नाम है। इस जिजीविषा को कुंठित करके आधुनिक नाटक किसी भी महान् कृति की सृष्टि नहीं कर सकता। वर्त्तमानकालिक अनिश्चय और गतिरोध को जीवन की तरतमता और निरन्तरता के ऊपर स्थापित करना अतिशयोक्ति को प्रश्रय देता है जो आज के साहित्य में प्रचुर मात्र में है। आँधी के छन्द कला की वस्तु नही बन सकते। प्रश्न यह होता है कि मनुष्य गम्भीरतम गर्त्तों में गिरता जाएगा अथवा मनुष्य के प्रति आस्था का किंचित् मात्र उसमें शेष रहेगा। हम जीवन के शव से चिपट कर बैठ गए हैं। क्या मानव की महदीयता के प्रति हमारी आस्था जागेगी और कुंठा एवं अवसाद के दिग्भ्रम से ऊपर उठकर हम नए क्षितिजों का दर्शन करेंगे और ऐसे भाव-जगत का निर्माण करेंगे जिसमें जीवन के प्रति सन्तुलित दृष्टि की प्रतिष्ठा होगी ?

जिन पीड़ावादी कलाकारों का हमने ऊपर उल्लेख किया है उनमें सार्त्र ही प्रमुख है। पिरेन्देलो के बाद कदाचित् वे ही इस युग के श्रेष्ठतम विचारक कलाकार हैं। उनके नाटकों में सिद्धान्तवादिता का आग्रह होने पर भी वास्तविक कला-नियोजना है। उनकी नाट्य-रचनाओं में महान् ग्रीक नाटकों जैसी प्रभावान्विति है। वैसे अस्तित्ववाद की भूमिका पर ही वे विश्वसनीय बन सकेंगे परन्तु उनकी साहित्यिकता किसी वाद के बिना भी अक्षुण्ण रहेगी।

सार्त्र का दावा है कि उनके साहित्य में पूर्वाग्रह नहीं, परन्तु उनके नाट्य साहित्य के अध्ययन से यह वक्तव्य भ्रामक सिद्ध होता है। उन्होंने अपने चरित्रों के मनस्तत्त्व और कार्य-कलाप में अस्तित्ववाद के मूल तत्त्वों को अभिन्न रूप से गुंफित कर दिया है। मनुष्य का अस्तित्व ही उनके लिए बन्धन है क्योंकि उसके प्रत्येक कर्म से उसका अन्य जनों के प्रति दायित्व बढ जाता है। कला के मानों के साथ-साथ ही नहीं, उनके ऊपर भी अस्तित्ववादी विचारधारा को मान्यता दी गई है। आज केवल-मात्र कला-मानों पर नाटक की परख पुरानी चाल समझी जाती है, परन्तु फिर भी यह स्पष्ट है कि विचारक सार्त्र का नाटक के क्षेत्र में उतना महत्त्व नहीं है जितना नाटककार सार्त्र का। यद्यपि हम सार्त्र के जीवन-दर्शन की उपेक्षा नहीं कर सकते क्योंकि वही नाटकों का मेरुदण्ड है। फलस्वरूप, समीक्षकों को नाटकों की समीक्षा करते हुए सार्त्र के अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन और इस दर्शन की नाटकीय सम्भावनाओं पर भी विचार करना होता है। फिर भी महान् प्राचीन कलाकृतियों के समकक्ष सार्त्र की रचनाओं को रख कर हम उनके साथ बड़ी दूर तक न्याय कर सकते हैं।

सार्त्र का साहित्यिक जीवन १९३६ मे फ्रेंच विश्वकोश के लिए लिखे गए निबंध 'इमेजिनेशन' (कल्पना) से आरम्भ होता है। दो वर्ष बाद (१९३८) उसने 'ल नासी' नाम से एक ग्रन्थ निबन्ध की रचना की, परन्तु प्रकाशकों ने 'उपन्यास' नाम देकर उसे प्रकाशित किया और इस प्रकार एक दार्शनिक निबन्ध लोकप्रिय उपन्यास बन गया। इसके बाद दूसरे महायुद्ध का आरम्भ हुआ और १९४०-४१ में सार्त्र बन्दी रहा यद्यपि कुछ दिनों पश्चात् अस्वास्थ्य के कारण वह मुक्त कर दिया गया। बन्दीगृह में ही उसने साथी बन्दियों के मनोविनोद के लिए एक नाटक की रचना की थी और उसमें सरलतम प्रतीकों के द्वारा जर्मन आक्रमणकारियों के प्रति विद्रोह उभारा था। मुक्त होने पर १९४३ में उसने 'ल मोचे' (मक्खियाँ) नाम से एक अत्यन्त प्राणवान नाटक की रचना की। इस नाटक में सार्त्र ने ओरेस्टे एलक्ट्रा की ग्रीक-कहानी को लिया है। पहला दृश्य ही जर्मन युद्ध की विभीषिका का भयंकर प्रतीक है। परदा उठते ही हम आर्गास के चौक में पहुँच जाते हैं जिसकी दीवारें रक्तरंजित हैं और सड़ी हुई लाशों की गन्ध नगर में भर रही है। सड़क भिनभिनाती हुई मक्खियों के झुण्ड से भरी हुई है। सब कहीं शोक-वसन पहने स्त्रियाँ क्रन्दन करती दिखलाई देती हैं। हमें पता लगता है कि नगर अभिशापित है और उस पर पश्चाताप की गम्भीर छाया है। इस पृष्ठभूमि में ग्रीक-कथानक नए अर्थ ग्रहण कर लेता है। जर्मन सेंसर इन दुहरे अर्थ को नहीं समझ सका और इसीलिए जर्मनाधिकार के दिनों में लाखों की संख्या में फ्रांसीसियों ने इससे बल ग्रहण किया और गुप्त फ्रेंच दलों एवं आतंकवादियों को इससे बड़ी प्रेरणा प्राप्त हुई। दो वर्ष पश्चात् सार्त्र ने 'हुई क्लास' (नरक) की रचना की। इस नाटक में पीड़ा को स्वयं मनुष्य के संचित कर्मों का फल बतलाया गया है। नरक मन का है—वह कोई 'परलोक' नहीं है। 'पराए ही नरक की सृष्टि करते हैं',—यह इस रचना का बीज विचार बिन्दु है। तीन व्यक्ति, जिनमें से प्रत्येक ने जघन्य अपराध किया है एक भयानक और असुविधाजनक कमरे में अनन्त काल तक साथ रहने के लिए दण्डित हैं,—इस दण्ड से भागना असम्भव है। इस 'नरक' को सार्त्र ने इतनी वस्तुमुखता और भयंकरता से उपस्थित किया है कि रचना ग्रीक त्रासकों की तरह ही मर्मभेदी बन जाती है। निःसन्देह यह सार्त्र की सर्वोत्कृष्ट रचना है। नंगी दीवारें, खिड़कियाँ ईंटों से चुनी हुई जिससे दिनरात का अन्तर ही मिट गया है, दर्पण की खाली जगह,—खाली इसलिए कि अनन्त काल में विजड़ित मनुष्य अपनी ओर नहीं देख सकेगा, दूसरे को ही देख सकेगा,—यह सब भयंकर मानसिक उत्पीड़न को जन्म देता है। इस भयंकरता में न आशा है, न उल्लास है, न आत्मसम्मान। प्रेम और घृणा दोनों इसी स्थिति में समान हैं। यहाँ न पलायन सम्भव है, न अन्तराल, न निद्रा, न मौन, न एकांत, न मरण। नाट्य में चार पात्र हैं,—एक तो भृत्य ही है जो क्षण भर के लिए सामने आता है कि सद्यःमृत तीनों पात्रों को कमरे में पहुँचा कर चला जाता है। इन तीनों में दो स्त्रियाँ हैं, एक पुरुष, एक उत्पीड़क है, एक व्यभिचारिणी है, एक शिशुहंता। इस त्रिकोण में न प्रेम संभव है, न संघर्ष का अन्त है क्योंकि मरना संभव ही नहीं है। एक ऊबा डालनेवाली मर्मान्तिक पीड़ा को अनेक पुनरावर्तनों के साथ अत्यन्त उत्पीड़क और नाटकीय ढंग से

प्रस्तुत किया गया है। अन्य नाटकों में भी इसी प्रकार के उत्पीड़न, अनाचार और द्वंघमूलक आत्महंतता को चित्रित किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि सार्त्र के नाटकों मे पीड़ा को नारकीय गहनता मिली है और जीवन मरण से भी अधिक त्रासक वन गया है।

सार्त्र के वाद निराशावादी प्रवृत्तियां और भी घनीभूत होती गई है और फ्रांस में आर्मन्द सेलेक्रा तथा जीन एनाउल और अमेरिका में टेनेसे विलियम्स और आर्थर मिलर में हम निराशावाद के भीतर ही नए दृष्टिकोणों को विकसित होते पाते हैं। इनमें से कुछ में, जैसे सेलेक्रा मे, अस्तित्ववादी दर्शन की झलक भी मिल जाती है परन्तु इनका पीड़ा का संसार भिन्न है। इनमे से पहले दो नीतिवादी हैं और सभी की जीवनदृष्टि रोमांटिक कही जा सकती है। उदाहरण के लिए, सेलेक्रा विपमता-भरे संसार में 'ईश्वर' की खोज के लिए निकल पड़ता है। वह अनास्था के युग में आस्था की ज्योति मांगता है। एनाउल विशुद्धता और निर्मलता का उपासक है और शैशव तथा वयःसंधि मे उन्हें खोजने की चेप्टा करता है। दोनों में स्वप्न-भंग की वेदना है। सार्त्र की दार्शनिक दृढ़ता के विपरीत ये दोनों लेखक पग-पग पर त्रस्त, शंकित और भीरु दिखलाई पडते हैं। यही अनिश्चितता उन्हें अधिक आकर्पक बना देती है। जीवन की सर्व-अस्वीकृति एनाउल के विशुद्धतावादी-आदर्शवादी-नीतिवादी दृष्टिकोण का फल है और उसके मूल में ईसाई पाप-भावना है। जीवन की असंगतियों में विशुद्ध आत्मा की पीड़ा इन कलाकारों की नाट्य-रचनाओं की मर्म-पीड़ा बन गई है। उसमें नाटकीय कला की कितनी रक्षा हो सकी है, यह कहना कठिन है, परन्तु जीवन की वास्तविक और द्वन्द्वात्मक चेतना का स्थान पराभवी कविता ने ले लिया है।

प्रश्न है आस्था का। पश्चिम की आस्था संकट में पड़ गई है और इस संकट से उवरने के तीन ही मार्ग हैं—वस्तुस्थिति की निष्फलता एवं गर्त्तहीन शून्यता का वोध (सेलेक्रा), मनुष्य की स्वतंत्रता की घोपणा (सार्त्र) अथवा वस्तुस्थिति से पलायन (एनाउल)। आस्था का यह संकट कविता और उपन्यास में भी व्यापक रूप से आया है। शा और वेल्स के निश्चयात्मक जीवन-बोध और मनुष्य के उन्नीसवी शती के आत्मगर्व ने वस्तुस्थिति के आघात से पीड़ित होकर वुद्धि की भूमिका पर समाधान की चेप्टा की है और समझौते का कोई मार्ग न देखकर वह आत्म-पीड़ित हो उठा है। इस मर्मपीड़ा का वड़ा सुन्दर प्रकाशन सेलेक्रा द्वारा 'नोत्स सर ल थियेटर' (१९४३) में हुआ है : "मैं चाहता हूँ कि लेखक, समीक्षक और जनता नई कृति के जन्म पर उसे ईमानदारी से परखें, न संसार को छलने के लिए, न समय काटने के लिए; कृति की आत्मा को सुस्पप्ट करने की पीड़ा उनके प्रयत्नों के मूल में हो। जहाँ तक मेरी वात है, आत्मनिर्लेप के महान् क्षणों में मैं रंगमंच के द्वारा ही असंभाव्य तक पहुँचा हूँ। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि उत्कृप्ट रंगमंचीय कृतियों में ही मैंने मुक्ति प्राप्त की है।" उसके दर्शन में अनस्तित्व का वड़ा सुन्दर चित्रण है जो वौद्ध शून्यवाद और एल्डस हक्सले के उपन्यासों की याद दिलाता है। अस्तित्व की पीड़ा और निष्फलता ही सेलेक्रा के पात्रों की मर्मव्यथा है। सार्त्र की तरह एनाउल

ने भी ग्रीक और मध्ययुगीन कथानकों का पुनर्मूल्यांकन उपस्थित किया है और कम-से-कम 'ल अलौती' में जॉन ग्राव आर्क के रूप में उसने मध्ययुगीन कृषक-जीवन की भूमिका पर से इस प्रमुख चरित्र को फ्रेंच लेखकों के सामने चुनौती के रूप में खड़ा किया है। इस रचना के सम्मुख शा की रचना फीकी पड़ जाती है क्योंकि शा फ्रेंच चरित्र की कोमलता से अनभिज्ञ थे और उनके लिए बुद्धि की विशिष्टता को छोड़ कर सामान्य चरित्र की अवतारणा करना असम्भव बात थी। जो हो, यह स्पष्ट है कि इन फ्रांसीसी कलाकारों ने सामान्य और दैनंदिन को ही नाटकीयता देने का प्रयत्न किया है और इनके दुःखवादी नाटक अपनी कोमलता के कारण प्रेक्षणीय और मार्मिक बन सके हैं।

जीवित कलाकारों में अमेरिका के दो नाटककारों टेनेसे विलियम्स और आर्थर मिलर की जोड़ी इब्सन और शा की जोड़ी जैसी है। इन कलाकारों ने यूरोपीय कलाकारों से दीक्षा ग्रहण की है,—टेनेसे गिरे देलो से प्रेरणा प्राप्त करता है और आर्थर मिलर इब्सन से। परन्तु दोनों ने इस प्रभाव को इस प्रकार अन्तर्योजित कर लिया है कि उनकी रचनाओं को लेकर विश्व-साहित्य में 'अमेरिकन स्कूल' की स्थापना की सम्भावना विकसित हो चली है। निराशावाद इनमें भी है, परन्तु उसकी पृष्ठभूमि पीड़ा की नहीं, आत्यन्तिक सुख और समृद्धि की है। जब-जब अमेरिकी वैभव और व्यापार संकट में पड़ा है, भावी के अनिश्चय को लेकर ऐसे प्रश्न अमेरिकी मन में उठे हैं। इन्हीं प्रश्नों का उत्तर हमें इन नाटककारों में मिलता है। यह स्पष्ट है कि इन नाटककारों ने अमेरिकी जनता को नई चिन्ता-भूमि दी है और नैतिकता के सूक्ष्म मूल्यों की ओर उसे उन्मुख किया है। इन नाटककारों ने सामान्य जन की त्रासकीय पीड़ा को वाणी दी है और कदाचित् इसीलिए इनकी रचनाओं में ऐसा आदिम ओज है जो यूरोपीय रचनाओं में भी कम मिलता है। सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक उपकरणों का उपयोग इनकी नाट्य-कला की अन्य विशेषता है। इनमें से आर्थर मिलर की रचनाएँ इस अर्थ में विशिष्ट हैं कि उनमें सामाजिक संघात के विभिन्न पहलुओं को उपस्थित किया गया है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में अमेरिकी व्यापारियों की अर्थलिप्सा का चित्रण कर अमेरिकी नीति-चेतना को झकझोरा गया है। ऐसा जान पड़ता है कि इन अमेरिकी नाटककारों के द्वारा आधुनिक नाटक और रंगमंच फिर एक बार स्वास्थ्य और संतुलन की ओर लौट रहा है और यूरोपीय नाटक की अतिदार्शनिकता और विकृतिवादिता से हट कर नए सामाजिक मूल्यों के सृजन की ओर अग्रसर हुआ है। नाटक और रंगमंच के भविष्य के लिए यह शुभ लक्षण कहा जा सकता है। *ऐसा लगता है कि निकट भविष्य में नाटक के क्षेत्र में प्रत्यावर्तन होगा* और हम व्यक्तिवादी समस्याओं एवं अन्तश्चेतनामूलक विकृतियों को पीछे छोड़ कर शा इब्सन-वैभव की स्वस्थ समष्टि-चेतना की ओर अग्रसर होंगे।

(२)

पिछले विवेचन में हमने रूसी नाटक को छोड़ दिया है परन्तु रूसी नाटक और रंगमंच कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से उनकी अपनी

स्वतन्त्र परम्परा है और रंगमंच की विस्तृति और लोकप्रियता की दृष्टि से तो यूरोप का कोई भी देश उसकी तुलना में ठहर नहीं सकता। 'मास्को आर्ट्स थियेटर' एक प्रकार से नव्य रंगमंचीय चेतना का प्रतीक ही बन गया है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम रूसी नाटक की अद्यतन प्रवृत्तियों से भी परिचित हो लें।

शा-इब्सन युग में रूसी नाटक की प्रमुख शक्ति टाल्सटाय और चेखव के नाटक थे। इन नाटकों मे रूस के तात्कालीन जीवन की पूर्ण विवृति थी। उनमें निरर्थक रोमांस और भावुकता को स्थान नहीं मिला था। उनका स्रोत मानवतावाद था। परन्तु यह मानवतावाद जिस यथार्थवाद पर आधारित था वह फ़्लावेर और मोपांसा के यथार्थवाद से भिन्न था। फ़्लावेर और मोपांसा का यथार्थवाद बौद्धिक था, टाल्सटाय और चेखव का हार्दिक। उसमें मानवीय संपर्क और सहृदयता की विजय थी। सच तो यह है कि गोगल, टाल्सटाय, चेखव और गोर्की सभी नाटककारों की रचनाओं में रूसी जनता और रूसी हृदय के वास्तविक पात्र थे।

रूसी साहित्य का प्रतिनिधि रूसी उपन्यास है, नाटक नही क्योंकि नाटक में रूसी जीवन का स्वल्पांश ही आ पाया है। रूसी उपन्यास रूसी नाटक से कही बड़ा है, परन्तु अधिकांश रूसी नाटककार प्रथमतः उपन्यासकार रहे हैं और इससे उपन्यास का शिल्प शैथिल्य और उसकी विकेन्द्रीयता नाटक में भी आ गए हैं। रूसी नाटक में टाल्सटाय ओज और नैतिकता से एसचिलस का स्थान ग्रहण करते हैं तो चेखव निश्चय ही सरलता और सरसता में सोफ़ोकिल्स हैं। अन्तर्बहिर वस्तून्मुखी द्वन्द्वों के बीच में सन्तुलन और माधुर्य बनाए रखना साधारण कार्य नही है। चेखव की विनोदी मनोवृत्ति बराबर बनी रही है और उसकी कला की पकड़ अपूर्व है। उसने वस्तुवाद को प्रकृतिवाद से ऊपर उठा कर आध्यात्मिक और ऊर्ध्वगामी बना दिया है। मानव के प्रति उसकी आस्था कभी विचलित नहीं हुई। निम्नतर पात्रों मे भी वह अदम्य जीवनशक्ति और अपूर्व देवत्व के दर्शन करने में समर्थ है। उसका प्रत्येक पात्र अपने सीमित क्षेत्र में स्वप्नद्रष्टा है और परिवेश उसे बन्दी नही कर सका है। रूसी चरित्र को मानवता की विराट् भूमिका देकर चेखव ने सचमुच बड़े साहस का कार्य किया है।

चेखव के बाद (मृ० १६०४) नाट्य-कला के क्षेत्र में एक रिक्तता का आभास होता है और केवल दो नाम आते हैं: एन्द्रव और एवरेनाव। इन दोनों में भी मानवता का वह व्यापक रूप नही मिलता जो चेखव की विशेषता थी। कुछ नाटक-कारों ने (जैसे फ़िशोदोर सोलोगोव ने) कलावाद ('कला कला के लिए') का आश्रय लिया और प्रतीकवादी एवं वैचित्र्यवादी नाटक लिखे। एन्द्रेव ने प्रतीकवादी नाटकों के अतिरिक्त अपने युग की अराजकता और कटुता को चित्रित करते हुए १६०५ में 'द स्टार' और 'सरवन' जैसे नाटक भी लिखे परन्तु सब कहीं प्रतीक खड़े करके उसने अपनी रचनाओं की रस-संवेदना को भी कुंठित कर दिया है। इस परम्परा में अलक्जेण्डर ब्लाक की रचनाएँ 'द पपट शो' (१६०६) और 'द स्ट्रेंजर' (१६०७) प्रमुख हैं। एवरेनाव ने पिरन्देलो की भाँति विचित्रतम प्रयोग किए। 'द चीफ़ थिंग' (१६१६) में उसने मिथ्या की स्वस्थ शक्ति का चित्रण किया है।

परन्तु समकालीन नाटक के इतिहास में सबसे प्रमुख गोर्की (मृ० १९३६) है जिसकी नाटक-रचनाओं के एक छोर पर 'द लोअर डेप्थ' (१९०२) और दूसरी छोर पर 'यूगोर बुलीचाव' (१९३२) है। गोर्की की रचनाएँ ही आधुनिक रूसी नाटक को जारयुगीन नाटक से जोड़ती हैं। समाजवादी यथार्थवाद का प्रमुख प्रवक्ता गोर्की ही रहा है। गोर्की के अन्य नाटक हैं 'समर फ़ोक' (१९०३) 'चिल्ड्रेन आव द सन' (१९०४), 'द बारबेरियन्स' (१९०५), 'एनीमीज़' (१९०६), 'द जज' (१९१८) और 'दोस्तीगाव एण्ड अदर्स' (१९३८)। गोर्की में वह मृदुता और कला-संयम नहीं है जो चेखव की विशेषता है परन्तु उसका आक्रोश और विद्रोह अत्यन्त सप्राण है और रूस के निम्नवर्गीय जीवन की अनेक कटु-मधुर स्मृतियों को उसने वाणी दी है। चेखव मध्यवित्तीय जीवन से नीचे नहीं उतरता। गोर्की मध्यवित्तीय जीवन को सहृदयता से नहीं, व्यंग की दृष्टि से देखता है। वह रूसी जन क्रान्ति का कला-पुरुष है और उसके नाटकों में ही समाजवादी यथार्थ की सम्भावनाएँ सबसे पहले प्रगट होती हैं। बाद में स्वयं गोर्की के प्रयत्नों से समाजवादी यथार्थ को प्रशासकीय समर्थन प्राप्त हुआ और मौलिकता के स्थान पर अनुकरण की प्रतिष्ठा हुई।

गोर्की के बाद रूस ने किसी विश्वविश्रुत नाटककार को जन्म नहीं दिया और सोवियत रूस के पहले दो दशक नाटकीय प्रतिभा के विकास के लिए उपयुक्त नहीं रहे। कला के स्थान पर उपयोगिता की प्रधानता रही और व्यावहारिक अथवा सामयिक विषयों पर ही लेखनी अधिक चलाई गई। फल यह हुआ कि इस युग के कोड़ियों नाटक नाटकीय कला से शून्य हैं और उन्हें सामाजिक इतिहास के रूप में ही मान्यता दी जा सकती है। केवल कुछ थोड़े से नाटक ऐसे हैं जो युगसत्य से ऊपर उठकर कलाकृति बन सके हैं, जैसे निकोलाइ पोगोदिन का नाटक 'टेम्पो' या व्लादिमिर किरशान की नाट्यकृति 'ब्रेड'। प्रोस्पेरस्की की रचना 'रस्ट' (१९२६) साम्यवादी युग के स्वच्छन्द प्रेम के आदर्श और यौन-सम्बन्धी नैतिक मूल्यों का नाटकीय अध्ययन है। इसे हम प्रतिवादी नाटक या मेलोड्रामा भी कह सकते हैं। परिहास की श्रेणी की एक चीज़ वेलेण्टाइन काताएव का 'स्क्वाइरिंग द सरकिल' नाटक है। कुछ नाटकों में क्रान्तिपूर्व के बुद्धिजीवी वर्ग और नए युग की सामाजिक मान्यताओं के द्वन्द्व का चित्रण है। यूरी ओलेशा की कृति 'लिस्ट आव एडवान्टेजेज़' इसी श्रेणी की रचना है जिसमें एक विद्रोहिणी एक्ट्रेस के अनुभवों का नाटकीय-करण है। एलेक्सेस फैको का नाटक 'मैन विथ पोर्टफोलियो', अलेक्जेण्डर एफ्रिनोगेनेव का नाटक 'फियर' और इसी प्रकार की कुछ अन्य रचनाओं का भी नाम लिया जा सकता है, परन्तु यह स्पष्ट है कि चेखव-गोर्की पीछे छूट गए हैं। उतने बड़े नाटककार रूस में अब नहीं हैं और रूसी नाटक समाज-कल्याण और योजनाओं की सफलता के लिए प्रचारकारी यन्त्र बन गया है। उसमें न कोई मार्मिक जीवन-दृष्टि रह गई है, न भावुकता और कल्पना का वह विलक्षण योग ही है जो अन्य रूसी कलाकृतियों का प्राण है। सच तो यह है कि आज यदि रूसी नाटक जी रहा है तो अपने नाटकों और नाटककारों के बल पर नहीं। उसका बल रूस के लोकनृत्य, लोककथा-वार्ता

और लोककला है। रंगमंचीय ज्ञान और प्रयोगों के क्षेत्र में तो वह बेजोड़ है। वास्तव में रूसी नाटक अभी रंगमंच के अनुरूप नई कृतियों को जन्म नहीं दे सका है। १६३८ में रूस में ३३ भाषाओं के रंगमंच थे जिनमें १,००० व्यापारी और ५,००० सामूहिक कृषि-क्षेत्रों, मिल मजदूरों और कर्मकरों से सम्बन्धित थे। इस वर्ष की तालिका में २२,५०० अभिनेताओं का उल्लेख है। संसार के किसी भी देश में नाट्य की ऐसी विशद योजना और ऐसा जन-सम्पर्क नहीं है और कहीं भी रंगमंच पर ऐसी विविधता, इतनी जीवन-शक्ति, इतने उत्साह और साहस का प्रकाशन नहीं हो सका है। गम्भीर साहित्यिक अभिनयों से कहीं अधिक लोक-नाट्यों का प्रचलन रहा है और नए प्रयोगों की धूम है। मध्ययुग में चर्च के द्वारा पश्चिमी यूरोप को जैसी अंतर्योजना प्राप्त हुई थी, बीसवीं शताब्दी के रूसी रंगमंच में सामूहिक रंगमंच की वैसी ही योजना है। यह अवश्य है कि प्रचारवाद और सामाजिक उपयोगिता के दबाव से रूसी रंगमंच अभी तक मुक्त नहीं हो सका है, परन्तु युग के संघर्ष से ऊपर उठने पर निश्चय ही वह अभिनव उत्कर्षों को प्राप्त कर सकेगा। पश्चिमी कला को जीवननिष्ठ करने में वह सबसे अधिक सहायक हुआ है क्योंकि कलावाद के स्थान पर जीवनवाद रूसी नाटक और रूसी रंगमंच का मंत्र रहा है। कम-से-कम चेखव के नाटकों के विश्वव्यापी प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और आलोच्य युग में ही इस प्रभाव का विशेष विस्तार हो सका है।

(४)

आधुनिक नाटक का भविष्य क्या होगा? शा-इब्सन के बाद पिरेन्देलो, परन्तु पिरेन्देलो के बाद कौन? क्या क्लाउदेल, जिराउदो, लोर्का? क्या इन नाटककारों ने हमारी जीवन-संवेदना का विस्तार किया है? महान् नाटककार जीवन-सम्बन्धी हमारी अनुभूति का विस्तार करते हैं, परन्तु आधुनिक नाटककार उसे संकीर्ण और एकांगी बनाते हैं। इन नाटककारों ने दुःख और अनिश्चय को अपना कला-प्रयत्न बनाया है, परन्तु हमें इस सम्बन्ध में उनसे कोई शिकायत नहीं हो सकती क्योंकि ग्रीक त्रासकीय और शेक्सपियर के दुखांतों में दुःख और अवसाद कम नहीं है। शिकायत यह है कि जहाँ ग्रीक नाटककार और शेक्सपियर मनुष्य के प्रति हमारी आस्था में वृद्धि करते हैं, वहाँ ये नए नाटककार हमारी आस्था को झकझोरते हैं और प्रयोगों एवं प्रतीकों के झाड़-झंखाड़ में हमारा मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। उनमें चमत्कृति भले हो, रसात्मकता का तो अभाव ही है। भय यह है कि कहीं नाटक जन-साधारण की वस्तु न रह कर बुद्धिजीवियों और कलामर्मज्ञों (कला-समीक्षकों) की धरोहर न बन जाए। प्रतीकों के बाहुल्य और उनकी एकांगिता ने आधुनिक नाटक की भाषा को रहस्यमय और शास्त्रीय बना दिया है। वह मूंदती अधिक है, खोलती कम है। केवल नाटक ही नहीं, नाटक-समीक्षा भी आज दुरूह होती जा रही है। जहाँ एक ओर यह गुह्यता है और संकोच है, वहाँ दूसरी ओर व्यावसायिक रंगमंच ने सिनेमा से होड़ ले रखी है और उसके द्वारा लोक-रुचि विकृत हो रही है।

ऊपर के विकासात्मक विवेचन से यह स्पष्ट है कि पिछले तीन या चार दशकों

मे ऐसे नाटककार थोडे ही मिलेंगे जो युगधर्म से ऊपर उठ कर नाटक की महदीय परम्परा के जीवित प्रतीक बन गये हो। कारण यह है कि आधुनिक नाटक बुद्धिवादी है, चितनाग्रस्त है, जीवन-सवेदना का सस्कारक और प्रकाशक वह नही हैं। कहा जाता है कि नाटक और रगमच युगधर्म की प्रतिच्छाया है और हमारा युग गद्यात्मक और नीरस है। यह भी कहा जाता है कि नाटक का स्थान सिनेमा और टेलीविज़न ले रहे हैं और नए यात्रिक मनोरजनों से होड करना नाटक के लिए सम्भव नहीं है। परन्तु नाटक केवल मनोरजन नहीं है। वह 'कला' है। वह जीवन का उद्गाता है। जीवन उसमे जाग उठता है। वह युगधर्म में बँध कर भी युगातीत सवेदनाओ और मानवीय स्पन्दनो का योगायोग है। ऐसा है तो भय का कोई कारण नही है। रग मच के माध्यम से 'नाटक' और प्रेक्षक का जैसा अनन्य एव नैकट्यपूर्ण प्राण-सम्बन्ध स्थापित होता है, वैसा किसी भी कला-प्रयत्न से सम्भव नहीं है। नाटक की सफलता का आधा श्रेय प्रेक्षक अथवा सामाजिक का भावनात्मक योग है। इस योग की अनिवार्यता ही नाटककार की कठिनाई और उसकी शक्ति है। इसमे सदेह नही कि आधुनिक नाटक का नया चरण दैनन्दिन जीवन की दुखात्मक विकृति को पीछे छोड कर सार्वभौमिक सत्य और मानवीय सवेदनाओ का पल्ला पकडेगा और भावुकता, कल्पना और उदात्त वाणी के सम्यक् योग से फिर एक बार नाटक के उन स्वर्णयुगो की पुनरावृत्ति करेगा जो विश्व-मानव की अक्षय सांस्कृतिक निधि है। युग की हीनता को युग धर्म मान कर हम कलाकार की दैवी चेतना को लाछित नहीं करेंगे जो कालातीत, चिर चैतन्यमयी और स्वर्णस्वप्नमण्डित है एव जिसमे द्रष्टा के मन कल्प और कवि की उदात्त वाणी का अकल्पित प्रसार है। निश्चय ही आधुनिक नाटक का नया परिच्छेद नई मानवता के अनुरूप होगा। अमेरिका और रूस के नाटककारो के नव्य प्रयत्नों मे जिस आस्था के नवाकुर हैं, वे क्या किसी नवोत्थान के अग्रदूत नही हैं और क्या भारत, चीन और हिदचीन की नवजाग्रत कला प्रवृत्तियाँ और लोकाकाक्षाएँ किसी नए रगमच की सृष्टि नहीं कर सकेंगी ? मानव चेतना में नया अध्याय जुडने पर क्या नाटक उससे रससिक्त नहीं होगा ?

आधुनिक नाटक का आरम्भ १८७५ ई० से माना जा सकता है और पिछले ७५ वर्षों के नाटक साहित्य के अध्ययन से हम उस विकास-शृखला से परिचित हो सकते हैं जो पिछले तीन दशको के नाटक और रगमच मे अपने सर्वोच्च उत्कर्ष को प्राप्त हुई है। आधुनिक नाटक की सबसे बडी समस्या 'रीति' (रिचुअल) और 'निवेदन' (कम्यूनिकेशन) की समस्या है। यह समस्या इसलिए विषम बन जाती है कि आधुनिक नाटककार पुराचीन और अकाट्य मूल्यों को लेकर नही चलता। यह कहा जाता है कि नाटकीय कला को चरमोत्कर्ष उसी समय प्राप्त होता है जब कलाकार पूर्वस्थापित मूल्यो को अपनी कला का आधार बनाता है, उस समय नहीं जब उसे नए मूल्यो का सर्जक, व्याख्याता और तर्क द्वारा प्रतिष्ठाता बनना होता है, जैसा शा और इब्सन के सम्बन्ध में सत्य है। यह स्पष्ट है कि विचारों और भावनाओ का 'निवेदन' रगमच की अनिवार्य शर्त है और नाटककार तथा प्रेक्षकवर्ग में हार्दिक सहयोग आवश्यक वस्तु है, परन्तु नाटक का चरम विकास एसचिलस-सोफोक्लिस,

शेक्सपिअर तथा मौलियर के युगों में हुआ है और ये युग बदलते हुए मानों के युग थे जब नाटककार और जनता एकसाथ हृदय-मंथन के बीच में से गुजर रहे थे। हमारे अपने युग में रूस के सर्वोत्कृष्ट लेखक अनास्था की उपज है, जब चर्च और एकतंत्र के दुर्वह भार से सामाजिक और नैतिक मूल्य चकनाचूर हो रहे थे। इससे स्पष्ट है कि नाटक के मूल में नाटकीय तत्त्वों का ही प्राधान्य है, आस्था-अनास्था का प्रश्न उतना नहीं है। आत्मसम्मान, न्याय, सत्य, प्रेम और क्षमा वे महत्त्वपूर्ण मानवीय उपकरण है जिन्हें हम प्राचीन और आधुनिक नाटक में समान रूप में पाते हैं।

नए नाटक में मनुष्य और उसका परिवेश दोनों महत्त्वपूर्ण रहे हैं और व्यक्ति तथा समाज दोनों को बौद्धिक जिज्ञासा का विषय बनाया गया है। दोनों के सम्बन्ध में हमारी विचारधारा प्रगति और विकास के उस सिद्धान्त से प्रेरित है जो औद्योगिक क्रांति एवं १९वीं शती की वैज्ञानिक चेतना की उपज है। आपेक्षिक नैतिकता, समाज-सुधार, नर-नारी का समानाधिकार और मनोवैज्ञानिक समस्याएँ नए नाटक के बौद्धिक क्षेत्र के अन्तर्गत कुछ प्रमुख विषय हैं और इब्सन, स्ट्रिंडबर्ग, चेखव, गोर्की, शा, गेल्सवर्दी और ओकेसी में इन प्रश्नों को महत्त्वपूर्ण ढंग से उठाया गया है। क्लाउदेल और टी० एस० इलियट जैसे कुछ विचारक कलाकार मनुष्य की मूलभूत पाप-चेतना, वर्गीयता, शाश्वत नैतिकता और अतिमानवीय विकास-योजना की बात लेकर सामने आते हैं और आस्था के पुनर्निर्माण के प्रति विश्वासी हैं। विचलित आस्था का कलात्मक स्वरूप सिंज, पिरेन्देलो और ओनील में दिखलाई देता है। इस प्रकार आधुनिक नाटककार को आस्था, अनास्था और विचलित आस्था तीनों में से किसी एक को चुनना पड़ा है, परन्तु चुनाव चाहे जो रहा हो उसने कला और चिंतना के क्षितिजों को विस्तृति ही दी है।

परन्तु यह सोचना कदाचित् ठीक नहीं होगा कि इन मानसिक क्षितिजों के विस्तार से अन्तर्दृष्टि की गहनता में वृद्धि हुई है। आधुनिक नाटक का विशाल ज्ञानक्षेत्र और चमत्कारी साहस भी ग्रीक दुःखान्त-लेखकों और शेक्सपिअर के सहज गाम्भीर्य की तुलना में क्षुद्र सिद्ध होता है। आधुनिकों का बौद्धिक उत्कर्ष कलाविषयक ऐश्वर्य का दावेदार नहीं हो सकता और 'हेमलेट' अथवा 'आडिपस द किंग' जैसी उत्कर्षमयी रचनाएं नवोत्थान में कदाचित् प्राप्त ही नहीं हुई हैं। नया नाटक कला के इस कैलाश-शिखर पर कभी भी नहीं पहुँच सकता, ऐसा बल के साथ नहीं कहा सकता परन्तु निकट भविष्य में तो ऐसी कोई सम्भावना दिखलाई नहीं पड़ती।

कल के नाटक की रूपरेखा क्या होगी? यह निश्चय है कि कल के नाटककार को सामान्य जीवन के वस्तुवाद और साहित्यिक उत्कर्ष के बीच में से अपनी राह बनानी होगी। जहाँ एक ओर इब्सन से जीवन और भाषा के सामान्य स्तरों पर स्थापित गद्य-नाटकों का आरम्भ होता है जिनमें काव्योत्कर्ष और कल्पना का बाध है, वहाँ मेटरलिंक के नाटक सौन्दर्यवादिता और साहित्यिकता के अतिवाद के कारण अबूझ हैं। जीवन के गद्य से भाग कर आधुनिक रंगमंच पर स्वप्नमयी व्यंजनाओं और दूरागूढ़ संकेतों की सृष्टि हुई जो स्वयं एक अतिवाद का सर्जन करती है। स्वस्थ और संतुलित नाट्यदृष्टि इन अतिवादों के बीच में मिलेगी। यह कहने से काम नहीं

चलेगा कि कविता का युग चला गया और नाटक युग-गद्य तक सीमित रहे। महान् नाट्य-कृतियों में नाटक और कविता की विभाजन-रेखाएँ घुली-मिली रहती हैं और सर्वोत्कृष्ट नाटककार महाकवि नहीं तो श्रेष्ठ कवि तो रहे ही हैं। जीवन के महत् और भावुक क्षणों को उत्कर्षमयी वाणी द्वारा ही बद्ध किया जा सकता है। आधुनिक नाटक ने अपने को 'गद्य' तक सीमित कर अपनी संवेदना को भी सीमित कर लिया है और उसमें महाकाव्यों की परम्परा शा, सिंज और कैसी के द्वारा ही स्थापित हुई है। यीट्स, इलियट और लोर्का जैसे कवि नाटक के क्षेत्र में अग्रगण्य रहे हैं परन्तु ऐसे कवियों की संख्या कम रही है और नाटक के लिए लिखे हुए पद्य में वे सर्वोच्च काव्योत्कर्ष प्राप्त नहीं कर सके हैं।

आधुनिक नाटक कला अर्थव्यंजक नाटकीयता की सृष्टि करने में विचारों और सिद्धान्तों के तर्कवादी आलेखन का मोह नहीं छोड़ सकी है। इससे नाटककार की शक्तियों का ह्रास और उसके समय का अपव्यय ही हुआ है। सामाजिक समस्याओं और युगद्वन्द्व के नाटकों में ऐसा होना अनिवार्य ही था। विशेषत ऐसे समय जब समाजनीति और राजनीति जीवन पर छाई हुई थी और उनकी विस्तृत चर्चा थी। परन्तु सामाजिक समस्याओं से मुक्त रह कर जिन नाटककारों ने व्यक्तित्व अथवा चरित्र पर अपना ध्यान केन्द्रीभूत किया, वे भी इस विश्लेषणात्मक बौद्धिक प्रक्रिया से बच नहीं सके। फलस्वरूप, जीवित मनुष्य का स्थान मनोविज्ञाननिष्ठ मनुष्य ने ले लिया। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण युगधर्म बन गए और चरित्र फ्रायड-एडलर-युंग की खोजों के अनुसार गढ़े जाने लगे। चरित्रलेखन कला है, मनोविज्ञान नहीं, इस सत्य को भुला दिया गया जिससे नाटक में उच्छृंखलता और अस्पष्टता की बाढ़ आ गई। एक अन्य त्रुटि यह रही कि नाटककार खण्डित और एकांगी जीवन की अभिव्यक्ति में लिपटे रहे और ग्रीक-एलिजबेथियन नाटक की महाकाव्यात्मक विस्तृति एवं महाकाव्यात्मक संवेदना आधुनिक नाटक में नहीं मिलती। १७वीं-१८वीं शती के रोमांटिक नाटकों में भी इसके थोड़े अवशेष मिलते हैं परन्तु नया नाटक इससे अछूता है? यह स्पष्ट है कि हमारे युग के नाटककार नाटकीय कला के उत्तुंग शृंगों को नहीं छूते और जीवन की सामान्य वस्तुमुखता एवं गद्यात्मकता तक सीमित रहने के कारण दुःखान्त के चरमोत्कर्ष तक वे नहीं उठ सके। मध्यवित्त और निम्नवित्त के दुःखान्त त्रासकीय गरिमा को नहीं पहुँच सके हैं और स्वयं नाटककार चिंताशील अधिक रहे हैं, उन्होंने भीतर के भूचाल का अनुभव कम किया है। नया नाटक आस्थाशून्य और नायकत्वहीन रहा है और मनुष्य की अपरिमेयता, महत्ता और दैवीयता आधुनिक समाजवादी और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों के प्रभाव के कारण कमतर होती गई है। यह मानना पड़ेगा कि पूर्ववर्ती नायकप्रधान, अतिशयोक्तिपूर्ण रोमांटिक नाटक की प्रतिक्रिया-स्वरूप आधुनिक नाटक का जन्म हुआ और नए प्रयत्नों के इस प्रतिक्रियात्मक स्वरूप को समझ लेने पर ही वे वांछनीय जान पड़ेंगे। जीवन के प्रति जिस नई जागरूक दृष्टि की अवतारणा नए नाटक में हुई है, वह अभिनंदनीय ही है क्योंकि उसके बिना 'मेजर बार्बरा' और 'आर्म्स एण्ड मेन' जैसी नव दृष्टिसम्पन्न नाट्यकृतियाँ सम्भव नहीं थीं। यह भी सत्य है कि वस्तुमुख

दृष्टिकोण और बौद्धिक संवाद की योजना होने पर भी अनेक रचनाएँ ऐसी है जिनमें प्रखर आस्था है, जैसे टालसटाय की रचना 'पावर आव डार्कनेस' अथवा गोर्की की नाट्य-कृति 'द लोअर डेप्थ्स' अथवा शा की रचना 'सेंट जॉन'। सार्त्र की रचना 'द फ्लाइज' को भी हम इस कोटि में रख सकते हैं। पद्यात्मक नाटकों के अतिरिक्त गद्य-नाटकों में भी कुछ ऐसे नाटक मिल जाते हैं (जैसे पिअर ग्रांट, द सी गल, हार्टब्रेक हाउस, ब्लड वेडिंग आदि) जिनमें काव्योत्कर्ष का उच्चतम स्वरूप प्रतिष्ठित है। वास्तव में अभिव्यंजनात्मक विविधता और वस्तु-जीवन के अन्वेषण में नया नाटक नई सम्भावनाओं की ओर बढ़ता रहा है और नाटक के विश्वव्यापी विकेन्द्रीकृत प्रसार को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि नाटक के उत्कर्षमय युगों में आधुनिक नाटक का महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा। आधुनिक जीवन के अन्तर्योजन एवं सर्वमुखी विकास में ही समसामयिक नाटक के विकास की समस्या अन्तर्निहित है। सम्भवतः बुद्धिवाद की पुनर्स्थापना होगी और नए आणविक युग की सार्वदेशिक चेतना के प्रसार के साथ नई आस्था का भी निर्माण होगा जो नाटक को नए क्षितिजों की ओर गति देगी।

: ३३ :

भारतीय समीक्षा को आचार्य शुक्ल की देन

(१)

आधुनिक समीक्षा के पीछे पश्चिम की प्रेरणा स्पष्ट है। पिछले १०० वर्षों में हम जिस नवजागरण को राष्ट्रीयता, नवीन धर्मनिष्ठा, साहित्य और कला में अभिव्यंजना देने में समर्थ हुए हैं उसे पूर्वीय मन पर पश्चिमी विचारधारा की ही क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। मध्ययुग में भारतीय मस्तिष्क की क्रियाशीलता, शक्ति तथा उर्वरता नष्ट हो गई थी और उसके लिए जीवन तथा साहित्य को नये मूल्य देना सम्भव नहीं था। फलस्वरूप साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में जड़ एवं स्तब्ध मनोवृत्ति का विकास हुआ और 'चर्वित चर्वण' ही हमारा उपजीव्य बन गया। पण्डितराज जगन्नाथ के बाद समीक्षा और साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में किसी महती शक्ति के दर्शन नहीं होते। लक्षण-ग्रन्थों के अंबार लग जाते हैं परन्तु उनमें मौलिकता के नाम पर वैचित्र्य की ही प्रतिष्ठा है। भारतवर्ष में जब पश्चिम का प्रवेश हुआ तो उसकी अदम्य शक्ति, ऊर्जस्विता तथा प्रचण्डता से हम अभिभूत हो गये। पश्चिम के तरुण एवं प्रबुद्ध मन ने भारतीय जीवन तथा कला को जड़ता के बन्धन से मुक्ति दी और साहित्य चिन्तन को नई दिशाएँ प्राप्त हुईं। भरत से भोज तक भारतीय साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में जो सशक्त परम्परा स्थापित थी उससे हमने अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहा और पश्चिम में उस परम्परा की नई, क्रियमाण तथा महार्घीय अभिव्यक्ति देखी।

भारतीय साहित्य-चिन्ता की परम्परा उपेक्षणीय नहीं है। पश्चिम में अरस्तू और लांजाइनस हैं तो हमारे यहाँ भरत और आनन्दवर्द्धन हैं जो सौन्दर्य चिन्तन तथा साहित्य शास्त्रीय स्थापनाओं के क्षेत्र में उतने ही महत्वपूर्ण हैं। भामह, रुद्रट, दण्डिन्, वामन आदि का नाम भी उल्लेखनीय रहेगा। वास्तव में पहली शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक हमारी चिन्तन-धाराएँ स्पष्ट एवं ऊर्जस्वित थीं, परन्तु इसके पश्चात् गतिरोध का समय आया। बाद के ह्रासकालीन युगों में समीक्षकों तथा आलंकारिकों में समग्र दृष्टि का अभाव रहा। न तो वे अतीत को वर्तमान का अंग बना सके, न वर्तमान को लेकर भविष्य की तैयारी कर सके। केवल मात्र जड़ परम्परा की पुनरुक्ति प्रगति नहीं कही जा सकती। अलंकारों के भेद-प्रभेद किये गये और उनकी शाखाएँ प्रशाखाएँ स्थापित हुईं अथवा नायिकाभेद के लिए काम शास्त्र के पन्ने टटोले गये। प्राचीन परिभाषाओं में उलट-फेर भी हुआ। परन्तु इस समस्त साहित्य-चर्चा को विकासमान सौंदर्य बोध का किंचित् मात्र संबल प्राप्त नहीं हुआ।

साहित्य और कला मूलतः सौन्दर्यान्वेषी है परन्तु सौन्दर्य को समझने के लिए मनोविज्ञान, समाज-नीति, भाषा-विज्ञान तथा जीवन-शास्त्र जैसे अनेक शास्त्रों का परिचय आवश्यक है। व्यक्ति और समाज में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है और एक की प्रगति पर दूसरे की प्रगति आधारित है। समाज में गतिरोध होने पर व्यक्ति में भी गतिरोध आ जाता है और फलस्वरूप साहित्य तथा कला विकृत हो जाती हैं। इस अकाट्य तथ्य को मध्ययुगीन साहित्य-समीक्षक समझ नहीं सका। उसने यह विस्मृत कर दिया कि साहित्य और कला में राष्ट्र की समस्त चेतना प्रतिबिंबित होती है। उन्हें व्यक्तिमूलक वैचित्र्य की क्रीड़ास्थली नही बनाया जा सकता। इसमें संदेह नही कि मध्ययुग में ही सूरदास-तुलसीदास तथा मीरा जैसे सशक्त कलाकार हुए जिनके साहित्य में उत्कृष्टतम सिद्धान्तों के सृजन की शक्ति थी परन्तु साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में गौण समस्याओं और विश्लेषणात्मक ऊहापोह की ही प्रधानता रही और सामासिक अन्तर्दृष्टि का स्थान क्षुद्रताओं ने ले लिया।

अंग्रेजी साहित्य और उसके माध्यम से यूरोपीय साहित्य-चिन्ता का संघात चमत्कार से कम नही था। उसने बँधे-सधे सूत्रों की अनुपयोगिता सिद्ध कर दी और साहित्य को सामाजिक जीवन-प्रक्रिया, इतिहास एवं राष्ट्रीय चेतना से संबद्ध किया। जॉनसन, कॉलेरिज, आरनॉल्ड और पेटर जैसे समीक्षक नये मानदण्ड बन गये। ऐतिहासिक चेतना पश्चिम की ही देन है। साहित्य समग्र और सर्वकालिक होता है, हम यह मान कर चल रहे थे, परन्तु पश्चिम ने उसमें कालों और युगों की स्थापना की। उनके स्वतंत्र और सीमित व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा का भी प्रयत्न हुआ। विभिन्न भाषाओं और राष्ट्रों के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से साहित्य के राष्ट्रीय स्वरूप की मान्यता भी विकसित हुई और लेसिंग तथा हीगल के सिद्धान्तों के अनुसार माध्यम के अनुरूप कलाओं का वर्गीकरण भी स्वीकृत सिद्धान्त बना। माना गया कि माध्यम की आवश्यकताओं तथा सीमाओं के अनुसार कलागत अभिव्यंजना भी बदल जाती है और स्वयं विभिन्न साहित्यिक विधाएँ विषयगत अथवा वस्तुगत भेद के कारण फलीभूत होती हैं। ये विचार भारतीय शास्त्र-परम्परा से भिन्न स्तर के विचार थे। नये साहित्य ने पश्चिम से उपन्यास, निबन्ध, आत्मकथा, जीवनी आदि नूतन विधाएँ ग्रहण की जिनके लिए उसके पास कोई मानदण्ड नही थे। काव्य और नाटक के क्षेत्र में भारतीय परम्परा अवश्य सम्पन्न थी परन्तु उन्नीसवी शताब्दी तक आते-आते अलंकार-विवेचन मात्र ही शेष रह गया था। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक, तुलनात्मक, भाषाशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक समीक्षण पश्चिम के ही चलते सिक्के थे और उनके लिए हम उनके ऋणी रहेंगे। यह सच है कि भारतीय समीक्षा-शास्त्र के अन्तर्गत रसदृष्टि के रूप मे अनुभूति के मनोवैज्ञानिक स्वरूप का उद्घाटन बड़े विस्तार से तथा बड़ी सूक्ष्मता से हुआ है परन्तु कॉलेरिज, वर्डसवर्थ और कीट्स की आत्मानुभूतियाँ भी रसानुभूति के आभ्यन्तरिक स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए कम आकर्षक नही थी। इन नई आवश्यकताओं के संघात से हमारी अन्तर्दृष्टि पुनः जाग्रत हुई और आलंकारिक ऊहापोह तथा औपचारिक क्षुद्रता को पीछे छोड़ कर हम साहित्य के सुन्दर तथा उदात्त संदर्भों के पारखी बने।

फलस्वरूप, भारतीय साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में नए युग का प्रवर्तन हुआ। आरम्भ मे अरस्तू, डा० जॉनसन, कालेरिज, मारनॉल्ड और ब्रैडले ही सब कुछ मान लिए गए और जिस प्रकार काव्य के क्षेत्र मे शेक्सपियर और मिल्टन की धूम थी, उसी प्रकार समीक्षा क्षेत्र मे इन्हीं नामो की दुहाई दी जाती थी। कला को 'अनुकृति' माना गया और काव्य को 'जीवन की आलोचना' कहा गया। अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा के प्रभाव तथा अंग्रेजी साहित्य की चकाचौंध ने हम पर जादू कर दिया और अपनी विरासत को भूल कर हम यूरोपीय परम्परा से गौरवान्वित होने लगे। पश्चिमी ढांचे का रसावेश चाहे वास्तविक और गम्भीर ही क्यों न हो, वह निश्चय ही कृत्रिम था और उसकी सारी तैयारी मानसिक गुलामी के आधार पर हुई थी। इसकी प्रतिक्रिया हुई और शीघ्र ही शिक्षित भारतीय अपनी परम्परा को पश्चिम की दृष्टि से न देख कर स्वतन्त्र और निजी दृष्टि से देखने लगे। नए साहित्य-सस्कार तथा नई पश्चिमी समीक्षादृष्टि भारतीय साहित्य-परम्परा तथा विभिन्न सम्प्रदायों के ग्रन्थो पर लगी। फलत भरत और आनन्दवर्द्धन हमें महत्त्वपूर्ण लगने लगे। ज्ञात हुआ कि पश्चिमी साहित्य और समीक्षा के अनेक अश सस्कृत आचार्यों द्वारा विवेचित एव समाधृत हो चुके थे और प्राचीन ग्रन्थो के अनेक उल्लेख सामकालीन समस्याओं पर भी प्रकाश डालने मे समर्थ थे। उदाहरण-स्वरूप, अरस्तू ने जिसे 'मिमेसिस' (इमीटेशन) कहा है वह भारत के 'लोकधर्मानुकृति' से बहुत भिन्न नहीं है और काव्य के स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति भेद ही पश्चिम में 'डाइरेक्ट' और 'आबलीक पोइट्री' कहे जा रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम पच्चीस वर्षों मे भारतेन्दु के 'नाटक' ग्रन्थ, बकिमचन्द्र के निबन्धों तथा मासिक-पत्रों के निबन्धो, पुस्तक-परिचयों एव अग्रलेखो मे नए युग की निबन्धनीय प्रतिभा के साथ-साथ नई समीक्षात्मक दृष्टि का भी आभास मिलने लगता है और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ मे रवीन्द्रनाथ के 'साहित्य' और 'प्राचीन साहित्य' तथा डी० एल० राय के 'कालिदास और भवभूति' ग्रन्थो के द्वारा नव्य साहित्य-चिन्तन को स्थायित्व प्राप्त होता है। रवीन्द्रनाथ साहित्य को आत्मधर्मी और मानवीय मानते हैं परन्तु रूपो के उपासक के नाते वे बहिर्जगत को भी समान रूप से महत्त्व देते हैं। उन्होंने साहित्य में 'सुन्दर' का पक्ष ग्रहण किया है, 'सत्य' का नहीं। फलत वे प्रेषणीयता की अपेक्षा प्रेरणा पर अधिक बल देते हैं परन्तु इस प्रेरणा के स्वरूप तथा मनोविज्ञान पर वे गम्भीरता-पूर्वक विचार नहीं करते। फलत उनका कवि दर्शन कला-चिन्तन का सर्वग्रहीत सिद्धान्त नहीं बन पाता। उसमें अन्तर्दृष्टि की मौलिकता तो है परन्तु पूर्वी-पश्चिमी विचार-परम्पराओं के बीच मे सेतु बधन का कार्य वह नहीं कर सका है। इस क्षेत्र मे गांधी जी का भी नाम लिया जा सकता है क्योंकि उन्होंने काव्य-वस्तु की निर्मलता, कवि के अन्त करण की शुद्धता तथा अभिव्यजना की सरलता पर अधिक बल दिया। गांधी जी के कला-सिद्धान्त रस्किन और टालस्टाय के सिद्धान्तों के समकक्ष रखे जा सकते हैं। उनका दृष्टिकोण नैतिक है और उसमें सौन्दर्य-बोध एव कल्पना के प्रसार की भूमियाँ सकुचित ही कही जा सकती हैं। इसके विपरीत हमें योगी अरविन्द की व्यापक और सूक्ष्म कला-चेतना के दर्शन होते हैं जिसे हम कॉलेरिज

श्रौर वर्ड्सवर्थ के दार्शनिक दृष्टिकोण के माध्यम से उन्नीसवीं शताब्दी के जर्मन स्वच्छन्दतावाद से जोड़ सकते हैं जिसमें स्पष्टतः भारतीय प्रभाव परिलक्षित था। योगी अरविन्द के काव्य-सिद्धान्त 'भविष्यत् काव्य' के रूप में पुस्तकबद्ध हैं परन्तु छिटपुट लेखों, भूमिकाश्रों श्रौर पत्रों के रूप में भी उनका क्षेत्र बड़ा व्यापक है। उन्हें हम अर्वाचीन भारतीय साहित्य-चिन्ता का सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वांगीण विकास कह सकते हैं। उनकी सार्वजनीनता में सदेह नहीं किया जा सकता। उन्होंने कवि-प्रेरणा तथा वस्तु-जगत के आत्म-पर समीकरण के द्वारा रस-बोध के स्पष्टीकरण की चेष्टा की है श्रौर भारतीय रसदृष्टि को योग-समाधि का पर्यायवाची माना है। उनके अनुसार काव्य प्रत्यक्षानुभूति है परन्तु इस प्रत्यक्षानुभूति के क्षण में कवि-प्रतिभा के माध्यम से सामूहिक अवचेतन ही मूर्त्तिमान होता है। अतः व्यक्तिगत होते हुए भी कवि की वाणी निर्वैयक्तिक रहती है। रसानुभूति के विभिन्न उपकरणों, चेतना-स्तरों तथा स्वरूपों की भी उन्होंने विस्तारपूर्वक चर्चा की है। कृति के सौन्दर्य की अभिव्यंजना रस, भोग श्रौर आनन्द की तीन उत्तरोत्तर अधिक समर्थ भूमियों पर होती है ऐसा उन्होंने माना है श्रौर इन्हीं सरणियों में इस सौन्दर्य का ग्रहण सम्भव बतलाया है।

इस पृष्ठभूमि में आचार्य शुक्ल का साहित्यिक एवं सैद्धान्तिक चिन्तन एक विशेष महत्त्व रखता है। उन्हें हम हिन्दी का पहला स्वतन्त्र तथा समर्थ साहित्य-चिन्तक कह सकते हैं। भारतेन्दु से 'मिश्रबन्धु' तक हिन्दी-समीक्षा अपने व्यक्तित्व को ढूंढने का असफल प्रयास करती रही परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्य में वह पहली बार इस कार्य में सफल हो सकी। योगी अरविन्द के विपरीत आचार्य शुक्ल रहस्यवाद को काव्योपयोगी नहीं मानते श्रौर उनकी अन्तर्दृष्टि उपयोगिता-वाद (लोकमंगल) तथा रसवाद पर रुक जाती है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उनकी 'मूल्यों' की खोज बड़ी व्यापक है श्रौर उसमें उन्नीसवीं शताब्दी तक के समस्त साहित्य-चिन्तन का सारांश आ गया है। उसमें स्वीकार कम है, अस्वीकार बहुत है, परन्तु इस प्रक्रिया के द्वारा उन्होंने भारतीय रस-बोध की नवीन व्याख्या की है श्रौर उसे शास्त्रीय जड़ता तथा श्रौपचारिकता से बाहर निकाल कर जीवनोपयोगी तथा प्राणवान बनाया है। उन्हें हम कवि रवीन्द्र श्रौर योगी अरविन्द के बीच की कड़ी कह सकते हैं। उन्होंने व्यावहारिकता में ही अपनी सुरक्षा समझी है परन्तु उनका चिन्तन स्पष्ट, समर्थ श्रौर उदात्त है। उन्होंने कवि की रस-साधना को लोक-मंगल-साधना का ही अंग माना है श्रौर क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से अपना विरोध प्रकट करते हुए अभिव्यक्ति की प्राणवानता में ही साहित्य श्रौर कला की सार्थकता सिद्ध की है। स्वच्छन्दतावादियों के भावातिरेक श्रौर आधुनिकों की अतिबौद्धिकता के बीच स्वस्थ, सौन्दर्यप्राण तथा रस-निष्ठ कल्पना-सृष्टि को महार्घता देकर उन्होंने स्वतन्त्र चिन्तन की एक लीक ही स्थापित कर दी। शुक्ल जी विशुद्ध साहित्य के आग्रही हैं परन्तु इस विशुद्धता में दृष्टिकोणगत नैतिकता तथा अभिव्यंजनात्मक सौष्ठव का सर्वश्रेष्ठ भी आत्मसात् हुआ है। भारतीय समीक्षा-शास्त्र को नवमूल्यांकित करने का श्रेय उन्हें अवश्य प्राप्त है यद्यपि योगी अरविन्द की तरह वे पश्चिमी

विचारणा का योगायोग प्रस्थापित नहीं कर सके हैं।

(२)

शुक्ल जी के साहित्य-सिद्धान्त उनके निबन्धों, 'इतिहास', रस-मीमांसा और तुलसी, सूर तथा जायसी सम्बन्धी उनकी वृहद् समीक्षाओं मे बिखरे हुए हैं। 'रस-मीमांसा' में उनका एक निश्चित रूप मिल जाता है। स्वय शुक्ल जी ने इस पुस्तक की एक रूपरेखा अपने मन मे बनाई थी परन्तु वे केवल स्फुट और विशृंखलित सामग्री ही उपस्थित कर सके। उनकी मृत्यु के पश्चात् प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस सामग्री को सकलित कर और उसमे निबन्धो की सामग्री को भी समन्वित कर ग्रन्थ को उपयोगी रूप दिया है। सक्षेप मे, ये आधार हैं जिन्हे लेकर हम शुक्ल जी के साहित्य-सिद्धान्तो की विवेचना कर सकते हैं।

शुक्ल जी के सामने आदि-कवि वाल्मीकि से लेकर उनके अपने समय तक के काव्य विकास (छायावाद) की वृहद् सामग्री थी। इस सामग्री को किसी एक निश्चित तुला पर तोलना कठिन था,— वह इतनी व्यापक और विभिन्न थी, – परन्तु निष्ठावान् अधिकारी समीक्षक के नाते उन्हें एक मानदण्ड बना लेना था जिस पर सारी सामग्री परखी जा सके। साथ ही पश्चिम के सारे साहित्य-विकास को भी लेना था। फिर पूर्व और पश्चिम मे साहित्य-क्षेत्र मे अनेक 'वाद' थे, अनेक सिद्धान्त थे और उनमे मे कुछ को स्वीकार करना और शेष को अस्वीकार करना था। स्वय भारतीय समीक्षा कई मतवादो को लेकर चलती थी जिन्हे रसवाद, रीतिवाद (गुणवाद), अलकारवाद, ध्वनिवाद, वृत्तिवाद और वक्रोक्तिवाद के नाम से अभिव्यजित किया जा सकता है। इनमे से प्रत्येक का लम्बा इतिहास है और समय-समय पर इनके एक विशिष्ट मतवाद में समन्वय का भी प्रयत्न किया गया है। अलकारवादियो मे मम्मट (काव्यप्रकाश), और ध्वनिवादियो मे अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोक) के प्रयत्न इसी प्रकार के प्रयत्न हैं। जहाँ पूर्व की यह दशा है वहाँ पश्चिम मे भी काव्य के क्षेत्र मे से अनेक मतवाद विकसित हो गए थे। इनमे कलावाद, अभिव्यजनावाद, सौन्दर्यवाद, मूर्तिविधानवाद (इमेजिज़म), मवेदनावाद (इम्प्रेशनिज़म), प्रतीकवाद (सिम्बोलिज़म), स्वच्छदतावाद (रोमांटिसिज़म), आदर्शवाद, यथार्थवाद, अतश्चेतनावाद, व्यक्तिवाद, रहस्यवाद आदि नामो से अभिहित किया गया है। वादो के क्षेत्र में शुक्ल जी जहाँ १८-१९वीं शताब्दियो के रहस्यवाद, प्रतीकवाद, मुक्त छद वाद, कल्पनावाद इत्यादि से परिचित थे, वहाँ बीसवीं शती के अभिव्यजनावाद, जार्जकालीन प्रवृत्तियो (जार्जिनियज़म), मूर्तिमत्तावाद, संवेदनावाद, और नवीन परम्परावाद (न्यू क्लासिज़म) की भी उन्होने विवेचना की है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उन्हें लगभग दो दर्जन साहित्यदृष्टियों के बीच मे से अपना रास्ता बनाना पड़ा है।

इसमे सन्देह नहीं कि यह बड़ा कठिन काम था परन्तु शुक्ल जी की अभिरुचि और उनका साहित्यिक अध्ययन इस क्षेत्र मे उनके मार्ग प्रदर्शक बने। उन्होने रसवाद को अपनी काव्य-समीक्षा की नींव के लिए स्वीकार किया। "कविता क्या है ?" शीर्षक निबन्ध मे उन्होंने अलकार को चमत्कारवाद के अन्तर्गत माना है और उसे वहीं

उपादेय बतलाया है, जहाँ वह रस-निष्पत्ति में सहायक हो। उनका कहना है—"जिस प्रकार एक कुरूप स्त्री अलंकार लाद कर सुन्दर नहीं हो सकती उसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलंकारों का ढेर काव्य का सजीव रूप खड़ा नहीं कर सकता। (कविता क्या है, पृ० १८४)। रीति (गुण), वृत्ति, वक्रोक्ति, अलंकार (शब्दालंकार) और ध्वनि (लक्षणा, व्यंजना) कविता की भाषा के अंग हैं, परन्तु अलंकार और वक्रोक्ति कविता के भावपक्ष के लिए भी प्रमुख हो सकते हैं। वास्तव मे काव्य के भावगत पक्ष दो हैं रस और चमत्कार। अलंकार और वक्रोक्ति-विधान चमत्कार-पक्ष का ही संयोजन करते हैं। शुक्ल जी का कहना है कि उच्च कोटि का काव्य रसमूलक होता है और उसका चमत्कारक पक्ष रसवृद्धि में ही सहायक होता है। इस प्रकार रस अगी है, अलंकार, वक्रोक्ति आदि अंग। रस काव्य के आभ्यन्तर से सम्बन्धित है, भाषा का पक्ष बहिरंगी है और उसमे रीति (गुण), वक्रोक्ति, शब्दालंकार और ध्वनि की योजना है। इस प्रकार शुक्ल जी रसवाद में अन्य वादों का समाहार कर देते हैं।

रसास्वादन के सम्बन्ध में निष्पत्तिवाद (भरत मुनि), उत्पत्तिवाद (भट्ट लोल्लट), अनुमतिवाद (शंकुक), भोगवाद (भट्ट नायक) और अभिव्यक्तिवाद (अभिनवगुप्त) के रूप में अनेक विचार-सरणियाँ प्राचीन आचार्यों में मिलती है। शुक्ल जी रस-बोध को समझाने के लिए ही 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया की विस्तृत व्याख्या उपस्थित करते है और रसात्मक बोध के विभिन्न रूपों को सामने लाते है। उनका कहना है कि रसात्मक बोध मूलतः रूपों (इमेजेज) पर आश्रित है। रसात्मक बोध के मूल में तीन प्रकार के रूप-विधान रहते है: १—प्रत्यक्ष रूप-विधान, २—स्मृत रूप-विधान, ३—कल्पित रूप-विधान। परन्तु रसात्मक अनुभूति इन पर आश्रित होते हुए भी इनसे भिन्न है। "रस-दशा में श्रोता की अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काव्य के प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योग-क्षेम वासना की उपाधि से ग्रस्त भावना द्वारा ग्रहण नहीं करते, बल्कि निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते है। इसी को पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में अहं का विसर्जन और निःसंगता (इम्पर्सनेलिटी एण्ड डिटेचमेण्ट) कहते है। इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व कहिए, चाहे विभावन-व्यापार का अलौकिकत्व।" (रसात्मक बोध के विविध रूप, पृ० २४७)

वे काव्य में साधारणीकरण को ही महत्त्व देते है और उसमें रस की प्रधानता मानते है। यह भारतीय दृष्टि है। व्यक्ति-वैचित्र्यवाद (शील-वैचित्र्य या अंतःप्रकृति-वैचित्र्य) दृश्यकाव्य (नाटक) और उपन्यास-कहानी का विषय है। रस-सृष्टि से उसका विरोध है। प्रबन्ध काव्य में शील-निरूपण का स्थान है परन्तु वह वैचित्र्य-प्रधान न होकर रसमूलक हो। रस-प्रकृति के सम्बन्ध में शुक्ल जी भरत के निष्पत्तिवाद (स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस-सिद्धि) को ही मानते दिखलाई पड़ते हैं।

परन्तु निष्पत्तिवाद को स्वीकार करने में कुछ कठिनाइयाँ थीं। भरत का

सिद्धान्त दृश्यकाव्य की भूमि पर ही ठीक उतरता है। उसमे 'आश्रय' (नायक-नायिकादि) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। फिर रस की निष्पत्ति के लिए चारो अगो का उपस्थित रहना आवश्यक है। प्रबन्ध काव्य के लिए तो यह आयोजन ठीक है परन्तु प्रगीति और मुक्तक के लिए कोई समाधान चाहिए। शुक्ल जी ने रसवाद की नई व्याख्या उपस्थित की जो प्रगीतों और मुक्तको पर भी पूरी उतरती है। वे आलम्बन मात्र के विशुद्ध वर्णन को श्रोता मे रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने मे समर्थ मानते हैं। "जो वस्तु मनुष्य के भावो का विषय या आलम्बन होती है, उसका शब्द-चित्र यदि किसी कवि ने खीच दिया तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। उसके लिए यह अनिवार्य नही कि वह 'आश्रय' की भी कल्पना करके उसे उस भाव का अनुभव करता हुआ, हर्ष से नाचता हुआ, या विषाद से रोता हुआ दिखावे।" ('काव्य मे प्रकृति चित्रण' निबन्ध)। इस प्रकार वे काव्य मे विभाव मात्र को प्रधानता देते हैं। जहाँ विभाव, अनुभाव और सचारी भाव से पुष्ट स्थायी भाव निश्चित रूप से सम्भव है, वहाँ भाव की अनुभूति भी बहुत कुछ रसानुभूति का स्थान ले सकती है। शुक्ल जी का कहना है कि 'नायिकाभेद', 'नखशिख', 'प्रकृति-वर्णन' के मुक्तकादि इसी प्रकार हमे रस-सिक्त करते हैं। शास्त्राग्रही कदाचित् इसे सम्पूर्ण रसानुभूति नहीं मानेंगे, वे उसे 'भावानुभूति' ही कहेगे। शुक्ल जी इस भावानुभूति को रस कोटि की ही वस्तु समझते है और यह आग्रह नही करते कि उसे 'रस' का नाम दिया ही जाये।

रस के मूलाधार स्थायीभाव हैं। रसवाद को वैज्ञानिक भित्ति देने के लिए शुक्ल जी ने अपने मनोवैज्ञानिक निबन्धो म उनकी विशद छानबीन उपस्थित की है। उत्साह (वीर), श्रद्धा-भक्ति (भक्ति), लोभ, प्रीति, घृणा और ईर्ष्या (शृगार), लज्जा और ग्लानि (शृगार और करुणा), भय (भयानक), क्रोध (रौद्र) भावो को उन्होने अपने मनोवैज्ञानिक निबन्धो मे विस्तारपूर्वक विश्लेषित किया है। स्थान-स्थान पर रसो, भावों और अलकारो की प्रचलित योजना के सम्बन्ध मे उन्होने सूक्ष्म स्थापनाएँ उपस्थित की हैं। इस प्रकार उनकी रस-सम्बन्धी विवेचनाएँ सूत्रबद्ध और काव्योपयोगी हैं। प्राचीन आचार्यों की रस-विवेचना नाटको पर आधारित है, काव्यगत रसदृष्टि उनमे विकसित नही हो सकी है। शुक्ल जी ने उसे प्रबन्ध और मुक्तक दोनो प्रकार के काव्यभेदो के लिए उपयोगी बनाने की चेष्टा की है।

शुक्ल जी पश्चिमी वादो मे से कलावाद (कला कला के लिए), अभिव्यजनावाद, व्यक्तिवाद, रहस्यवाद, प्रतीकवाद, मुक्तछदवाद, जार्जकालीन प्रवृत्ति और नवीन परम्परावाद की विशद विवेचना उपस्थित करते हैं (रस-मीमांसा, पृ० १२५-१३५)। कलावाद और व्यक्तिवाद के तो वे निश्चित ही विरोधी हैं। क्रोचे के अभिव्यजनावाद को वे प्राचीन वक्रोक्तिवाद के समकक्ष ही रखते हैं और उसकी एकागिता की विवेचना करते हैं। अन्य 'वाद' उन्हें एकागी लगते हैं और वे हिन्दी के कवियों को वादो की भूमि से ऊपर उठने के लिए आग्रह करते हैं। पश्चिमी समीक्षकों मे वे रिचर्ड्स की मान्यताओं से ही सबसे अधिक सहमत जान पडते हैं। रिचर्ड्स काव्य और जीवन की अनुभूति में भेद नहीं करते। उनका कहना है

'There is no gulf between poerty and life as our literary persons sometimes suppose. There is no gap between our everyday emotional life and the material of poetry. The verbal expression of life at its finest is forced to use the technique of poetry. If we do not live in consonance with good poetry, we must live in consonance with bad poetry. I do not see how we can avoid the conclusion that a general insensitivity to poetry does witness a low level of general imaginative life.

—(*Practical Criticism*)

इस कथन के अनुसार सामान्य जीवनानुभूति ही कवि द्वारा शब्दों में बँध कर काव्यानुभूति बन जाती है। उसके मूलाधार सामान्य मानव-भाव ही हैं। अतः भावों की भूमि पर ही उसकी परीक्षा सम्भव है। शुक्ल जी भी काव्य को रहस्यात्मक अथवा अलौकिक प्रक्रिया नही मानते। मानव की साधारण भाव-भूमि ही उनके लिए काव्यभूमि है। रिचर्ड्स की भाँति ही वे प्रभाववादी आलोचना को अधिक महत्ता देने के लिए तैयार नही। ('काव्य मे अभिव्यंजनावाद,' पृ० २१०-२११)। उन्होंने रिचर्ड्स के भावगत और भाषागत वैशिष्ट्य से बहुत बार अपनी सहमति प्रगट की है। उन्होंने लिखा है कि रिचर्ड्स यूरोपीय साहित्य मे समीक्षा के नाम पर फैलाए हुए बहुत से अर्थजन्य वाग्जाल को हटा कर शुद्ध विवेचनात्मक समीक्षा का रास्ता निकाल रहे हैं। उनके शब्द-शक्ति-निरूपण को उन्होंने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना की तुला पर तोला है। वास्तव में दोनों समीक्षकों की रुचि और विश्लेषणात्मक प्रतिभा एवं नैतिक तथा जीवनपरक मूल्यों में साम्य है।

यह तो हुई सामान्य विवेचना। अब हमें यह देखना है कि शुक्ल जी काव्य समीक्षा में क्या नई स्थापनाएं लाते हैं। वास्तव में जहाँ तक सामान्य रसदृष्टि का सम्बन्ध है, वहाँ तक शुक्ल जी से मतभेद नहीं हो सकता। परन्तु ये नई स्थापनाएँ रुचि पर आधारित होने के कारण निर्भ्रांत नही हैं। शुक्ल जी की ये नई मान्यताएँ इस प्रकार हैं—

(१) काव्य के दो भेद किये जा सकते हैं: (क) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाला काव्य जिसमें वे रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपाल-वध, किरातार्जुनीय और हिन्दी में हम्मीर रासो, पृथ्वीराज रासो, छत्रप्रकाश (प्रबन्ध काव्य), भूषण आदि के वीररसात्मक मुक्तक और वीरगाथात्मक काव्य रखते हैं। (ख) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोगपक्ष को लेकर चलने वाला काव्य जिसमें उन्हें आर्या सप्तशती, गाथा-सप्तशती, अमरुक शतक, गीतगोविन्द, शृंगाररस के मुक्तकों, सूरसागर, कृष्णकाव्य, बिहारी-सतसई, रास-पंचाध्यायी और रीतिकाल के कवियों के फुटकर शृंगारपद्यों को रखा है। पहले में वे सत्-असत् के द्वन्द्व को देखते हैं, दूसरे में भावुक काव्यानन्द मात्र को जो माधुर्य, दीप्ति, उल्लास, प्रेम-क्रीड़ा आदि को लेकर चलता है। थियोडोर वाट्सडंटन को उद्धृत कर उन्होंने इसे शक्ति-काव्य (द पोइट्री आव पावर) माना है और दूसरे प्रकार के काव्य को

कना काव्य (द पोइट्री ग्राव ग्राट)। वे पहली श्रेणी के काव्य को श्रेष्ठतर मानते हैं। उनका कहना है—"ये ही पूर्ण कवि हैं, क्योंकि जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर ये सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं।" ('काव्य मे लोकमगल की साधना', पृ० २१५)।

इस विचार भूमि पर चलते हुए शुक्ल जी काव्य मे मगल-विधान को श्रेय देते हैं और केवल कलावाद का विरोध करते हैं। मगल-विधान के लिए काव्य मे करुणा और प्रेम की योजना आवश्यक है परन्तु यह प्रेम एकान्तिक नही हो, वह लोकपक्ष की भूमि पर विकसित हो। 'मानस' मे उन्होने करुणा और प्रेम का यही लोकमगल-विधायक रूप देखा है। इसी विचार-भूमि के कारण प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा मुक्तक और प्रगीति-काव्य उन्हे हीन जान पडता है। मुक्तक और प्रगीति मे कवि की वैयक्तिक अनुभूति ही प्रधान रहती है। उनमे लोकमगल की प्रेरणा बहुत दूर तक सम्भव नही है।

(२) विशुद्ध काव्यदृष्टि से भी वे प्रबन्ध को मुक्तक से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनमे मानव की चित्तवृत्तियों के प्रसार का अधिक अवकाश है। उसमे कथा-सौष्ठव, शील-निरूपण, मर्मपूर्ण प्रसग, रस और अलकार की योजना, धर्म और दर्शन के चिन्तन को स्थान मिलता है। कवि की भाषा की परीक्षा भी वहाँ हो जाती है। फलत वह मुक्तक और प्रगीति काव्य से सामान्य काव्यदृष्टि से भी श्रेष्ठतर है।

(३) वे काव्य मे प्रकृति-चित्रण को स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। परन्तु उसे प्रसगनिष्ठ, सश्लिष्ट और अभिधामूलक रूप मे ही वे देखना चाहते हैं। प्रकृति के लाक्षणिक, भावाक्षिप्त प्रतीकात्मक प्रयोग को वे अधिक महत्त्व नही देते। यहाँ भी अभिधा पर अत्यन्त आग्रह उनके प्रकृति-काव्य के क्षेत्र को सकीर्ण बना देता है।

(४) वे काव्य मे कवि के व्यक्तित्व और उसके भाषा-शैली-सम्बन्धी प्रयोगो को कोई महत्त्व नहीं देते। वे व्यक्तिवाद और अभिव्यजनावाद के विरोधी हैं। उनके लिए काव्य लोक-सामान्य और अभिधामूलक तथा रसनिष्ठ होना चाहिए। वे लोकमगल और वाच्यार्थ की भूमियो को क्षण भर के लिए भी छोडना नही चाहते।

(५) वे काव्य मे भाव प्रकाशन को तो महत्त्व देते हैं परन्तु काव्य के बौद्धिक पक्ष को उतना महत्त्व नही देते। फलत जिस काव्य मे जितना बौद्धिक पक्ष अधिक है, उतना ही वह उन्हे अग्राह्य है। सिद्धो, योगियो (नाथो) और सन्तों के काव्य मे साहित्य-पक्ष की गौणता है। फलत वे उसे काव्य की श्रेणी मे रखने को तैयार नही हैं। कदाचित् पत की 'युगवाणी' और आधुनिक बुद्धिमूलक कविताओ के प्रति भी उनकी प्रतिक्रिया यही होती है। वे धर्म और दर्शन को साधनात्मक और आध्यात्मिक अनुभूति को काव्य की कोटि मे रखना नही चाहते। फलत वे रहस्यवादी काव्य के प्रति भी असहिष्णु हैं। उनकी कविता की परिभाषा प्रकृति के गो-गोचर रूपो और मान के जीवन-व्यापरो तथा सदासद के सघर्ष तक ही सीमित रहती है। वह आभ्यन्तरिक एव आध्यात्मिक क्षेत्रो को ग्रहण नहीं करती।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से शुक्ल जी ने अपने लिए रसवाद का एक नया मनोवैज्ञानिक संस्करण तैयार कर लिया है, वहाँ वह अपनी प्रयोग की भूमि को अपनी अभिरुचि पर आश्रित कर बहुत संकोची भी बना लेते हैं। काव्य में लोक-मंगल, प्रबन्ध, प्रकृति-चित्रण, अभिधात्मक अभिव्यंजना और लोक-सामान्य जीवन की टेकें लेकर वे चले हैं। कवि के व्यक्तिगत, आभ्यन्तरिक, वैचारिक, प्रयोगात्मक पक्षों की उन्होंने अवहेलना की है। फलतः वे सभी प्रकार के काव्य के प्रति सहृदय नहीं बन सके हैं। प्रसाद का काव्य और उनके काव्य-सिद्धान्त उनके एकदम विरोध में पड़ते हैं। इस रुचिभेद के कारण उनकी समीक्षा प्राचीनों में तुलसी, जायसी और आधुनिकों में प्रेमचन्द और पंत के प्रति तो न्याय कर सकी है परन्तु सूरदास, कबीर, रीति-कवियों और निराला, प्रसाद तथा महादेवी के प्रति वे स्पष्ट ही न्यायशील नहीं बन पाये हैं। उन्होंने गीति-काव्य की उपेक्षा की है और हिन्दी काव्य की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभा गीतों में ही विकसित हुई है। इसीलिए उनकी समीक्षात्मक और ऐतिहासिक दृष्टि वैज्ञानिक और तटस्थ नहीं रह पाती। यह दूसरी बात है कि उन्होंने अपनी स्थापनाओं को भाषा और भाव की इतनी गम्भीरता देकर प्रस्तुत किया है कि आज भी हम उनकी मान्यताओं से आतंकित हैं, परन्तु उनकी वैयक्तिक रुचि-अरुचि, उनके युग की सीमाओं और उनकी साहित्यिक तथा लोकाश्रयी दृष्टि को सम्यक् रूप में परख कर ही हम उन्हें साहित्य-विकास की स्वस्थ भूमिका पर से देख सकेंगे।

३४

हिन्दी के स्वतन्त्र आलोचना-शास्त्र की समस्या

हिन्दी का अपना आलोचना-शास्त्र हो,—ऐसी आवाज उठी है। यह सब मान्य है कि हमारे पास संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत विपुल शास्त्रीय साहित्य है और भरत मुनि से लेकर राजशेखर, भोज और पण्डितराज जगन्नाथ तक शास्त्रीय चिन्तन की एक लम्बी परम्परा भी है। काव्य और साहित्य की मूल संवेदना, भाषा शिल्प अभिव्यंजना तथा प्रेषणीयता को लेकर कतिपय वाद-विवाद उठाए गए हैं और बड़े ऊहापोह के साथ समाधान प्रस्तुत किए गए हैं। स्वतन्त्र चिन्तन की यह परम्परा १७वीं शताब्दी के बाद एकदम समाप्त हो जाती है और उन्नीसवीं शताब्दी में पश्चिमी विचारों की आगमनी आरम्भ होती है। पिछले १५० वर्षों से पश्चिमी साहित्य-शास्त्र ही हमारा मापदण्ड रहा है और प्राचीन चिन्तन-पद्धति पीछे पड़ गई है। भारतीय समीक्षा-शास्त्र के परम्परित शब्द भी पश्चिमी सन्दर्भों से अर्थवान् हो गये हैं और इस चिन्त्य परिस्थिति की ओर विद्वानों का ध्यान अनिवार्यतः गया है। भारतेन्दु ने 'नाटक' ग्रन्थ लिखकर पश्चिम की ओर देखने की जिस प्रवृत्ति का श्रीगणेश किया था, वह काल-प्रवाह के साथ त्वरा प्राप्त करती गई है और आज हमारी मौलिकता एकदम संकट में पड़ गई है। विचार स्वातन्त्र्य और राष्ट्रीय जागरूकता के इस युग में स्वतन्त्र तथा जातीय साहित्यिक 'मानों' की बात संकीर्णता नहीं कही जा सकती।

परन्तु हिन्दी के स्वतन्त्र समीक्षा शास्त्र के साथ कई प्रश्न अनिवार्यतः जुड़ जाते हैं। हमारा स्वतन्त्र साहित्य शास्त्र क्या हो? क्या काव्य, कला और साहित्य सार्वभौमिक प्रेरणाएँ नहीं हैं? इन क्षेत्रों में राष्ट्रीय अथवा जातीय उपकरणों का मूल्य तथा स्वरूप क्या होगा? वांछनीय होने पर हमारे स्वतन्त्र समीक्षा-शास्त्र की रूपरेखा क्या होगी और किस प्रक्रिया के द्वारा हम उसका निर्माण कर सकेंगे? वह पूर्व पश्चिम की शास्त्रीय परम्परा में से कितना स्वीकार करेगा और कितना अस्वीकार, अथवा शताब्दियों के वैचारिक दाय को क्या वह नितान्त उपेक्षणीय मान कर चलेगा? काव्य और साहित्य कोई नई उपलब्धियाँ नहीं हैं,—उन्हें परम्परा से जोड़ कर ही हम स्थायी मापदण्डों की सृष्टि कर सकेंगे। जो हो, ये कुछ प्रारम्भिक प्रश्न हैं जो समाधान माँगते हैं।

समस्या को स्पष्ट करने के लिए हमें कहना पड़ेगा कि व्यापक रूप से काव्य और नाटक के क्षेत्र में हमारे सामने परिपुष्ट भारतीय चिन्तन उपलब्ध है। उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि नई विधाओं के लिए, विशेष कर गद्य के क्षेत्र में, हम पश्चिम के ऋणी हैं और इनका शास्त्र भी हमने पश्चिम से ही लिया है। प्रश्न यह है कि

क्या हम पश्चिम से भिन्न स्वतन्त्र रूप से इन क्षेत्रों में पर्याप्त मौलिक उपलब्धि कर सके हैं जो हमारे शास्त्रीय चिन्तन का आधार बन सके। अथवा, पश्चिम में भी क्या इन क्षेत्रों में अभी तक स्थायी मापदण्ड तैयार हो सके है ! इलियट ने अपने एक निबन्ध में यह शंका प्रकट की है कि उपन्यास के क्षेत्र में पश्चिमी समीक्षक उस कोटि की चिन्ता उपस्थित नही कर सके हैं जिस कोटि की चिन्ता हमें काव्य और नाटक के क्षेत्र में प्राप्त है। उनका यह भी कहना है कि सम्भवत: कथा-साहित्य के समीक्षक में काव्यालोचक से भिन्न विशेषताएँ रहेंगी और उसकी समीक्षा-प्रक्रिया भी भिन्न होगी। गद्य-शैली के क्षेत्र में पश्चिम के पास भी स्वतन्त्र, अकाट्य और सुविस्तृत मापदण्ड कहां हैं ? यही बात निबन्ध के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वास्तव में, पूर्व-पश्चिम सब कही साहित्य की दिशाएँ बड़ी तीव्रता से बदल रही हैं और किसी भी एक कोटि के भीतर विषय और अभिव्यंजना को लेकर अनेक कोटियाँ स्थापित की जा सकती हैं। तीव्र गति से बदलते हुए साहित्य के स्वरूप को स्थायी ढांचों में कैसे ढाला जा सकेगा ? प्रत्येक नई सशक्त रचना विशेष कोटि को इस प्रकार अनिवार्यत: बदल देती है कि उसका वही स्वरूप नही रह जाता जो उस रचना से पहले था। उपन्यास के क्षेत्र को ही लें तो थेकरे, टाल्सटाय, दोस्तोवेस्की, प्राउस्त और वर्जीनिया वूल्फ़ की कृतियों के लिए हम एक ही मापदण्ड कैसे बना सकेंगे क्योंकि ये रचनाएँ विभिन्न जीवन-मूल्यों, अभिव्यजनाओं तथा गतिमान प्रतीकों पर आधारित हैं। जहाँ नई साहित्य-कोटि नया नाम लेकर सामने आती है वहां हमें थोड़ी सुविधा अवश्य हो जाती है परन्तु जहाँ एक ही नाम के भीतर उसकी विभिन्न, स्वतन्त्र और विरोधी परम्पराएँ चलने लगती हैं, वहाँ सामान्य और सार्वभौमिक मापदण्डों की समस्या कठिन हो जाती है। रचना की प्रकृति बदल जाती है—उसका 'लेबिल' नहीं बदलता। फलस्वरूप विभिन्न युगों और परम्पराओं को ठीक-ठीक पहचानने और समझने में भ्रांति की सम्भावना रहती है।

उपन्यास के साथ जो हुआ है वही नाटक और काव्य के साथ भी हुआ है और कहीं अधिक व्यापक रूप मे, क्योंकि उपन्यास अपेक्षत: अधिक आधुनिक साहित्य-कोटि है। काव्य को प्रमुख मान कर यदि हम साहित्य के मूल संवेदन को समझना चाहें तो यह कठिनाई सामने आती है कि हम किस काव्य को मूलाधार मानें। ऋग्वेद की ऋचाओं से लेकर इलियट, काफ़्का और रिल्के के काव्य तक कविता की गति है, या अपने देश में कहें तो अज्ञेय, नरेश मेहता, शमशेर और भारती तक। इस विशाल काव्य-परम्परा में एकान्विति की खोज दुस्साहस का काम है। भारतीय काव्य-चिन्तन-परम्परा रस को काव्य का मूल संवेदन मानती है, परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि काव्य-चिन्तन के क्षेत्र में रस अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य के अलग-अलग सम्प्रदाय रहे हैं और प्रत्येक सम्प्रदाय स्वतन्त्र और सर्वोपरि रहा है। रस-व्यंजना के सिद्धान्त को मान कर दसवीं शताब्दी के लगभग उसे सार्वभौमिक सिद्धान्त बना दिया गया परन्तु एक-मात्र रस पर ही काव्य की समस्त संभावनाएँ समाप्त नहीं हो जातीं। सच तो यह है कि काव्य के स्वरूप में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है और इस परिवर्तन को समझे बिना हम

मूल्यांकन के प्रश्न को आगे नहीं बढ़ा सकेंगे। ऋग्वेद में काव्य मंत्र है और कवि मंत्रद्रष्टा। वैदिक कवि अन्तर्जगत और बहिर्जगत में भेद नहीं करता। उसके अत्यंत मौलिक तथा मूर्तिमान रूपकों और प्रतीकों में अन्तर्बाहिर एकाकार हो जाता है और कवि अन्तर्दृष्टि के द्वारा अपनी विषय-वस्तु से परिपूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है। परवर्ती युग में काव्य ने दर्शन और धर्म से गठबन्धन जोड़ा। यह नहीं कहा जा सकता कि इससे उसे लाभ ही हुआ परन्तु निःसंदेह उसकी व्याप्ति ही बढ़ी और उसने अनुभूति तथा चिन्ता के बड़े विस्तृत क्षेत्र घेरे। रामायण और गीता, राम-कृष्ण के प्रतीक, 'महायुद्ध' के आकर्षक विवरण और भक्ति-युग के साधना-गीत-काव्य से कुछ बड़ी चीजें हैं क्योंकि उनमें काव्य का रस अपेक्षित नहीं है, अध्यात्म का रस अपेक्षित है जिसे 'उज्ज्वल रस' अथवा 'चिन्मय रस' कहा गया है। काव्य रस इंद्रिय-बाधित है तो अध्यात्मरस लोकोत्तर होने के साथ-साथ इंद्रियातीत, रहस्योन्मुख और अनिर्वचनीय भी है। अतः इन रचनाओं में काव्य की भूमिका बड़ी व्यापक बन जाती है। काव्य मूलतः अप्सरा को पकड़ता है और वीर तथा शृंगार रसों पर आधृत रचनाएँ सामंती युगों की शोभा बनती हैं। वाल्मीकि-कालिदास से भूषण-पद्माकर तक इन कोटियों की रचनाओं का प्रसार है। उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय चेतना ने काव्य के मूलगत संवेदन का स्थान ग्रहण किया और अन्तर्जगत से बाहर आकर कवि ने अपने भावलोक को बहिर्जगत पर आरोपित करना चाहा। फलतः भाव-प्रवण 'छायावाद' का जन्म हुआ। कालांतर में कवि के भाव-कोश रिक्त हो गए और वह अन्तर्जगत से ही चिपट कर रह गया। नई कविता इसका प्रमाण है।

इस विस्तृत विवरण की आवश्यकता यों पड़ी कि हमें काव्य-स्वरूप के आमूल परिवर्तनों की ओर संकेत करना था। कविता विवरण, वर्णन, चित्रण, जीवन की समीक्षा तथा पुनर्निर्मिति रही है और इन सभी काव्यधर्मों को हम रस-सूत्र में नहीं बाँध सकते। अतः काव्य के मूल संवेदन के सम्बन्ध में हम अपनी दृष्टि व्यापक बनानी होगी और यह मानना होगा कि उसमें अनेक प्रकार एवं स्तर के संवेदन समाहित हैं। किसी एकमात्र मूलभूत संवेदन का आग्रह काव्यास्वादन की समस्या का हास्यास्पद सरलीकरण होगा। इससे हमें सुविधा हो सकती है, परन्तु सत्य तक हम नहीं पहुँच सकते।

काव्य, कला और साहित्य मानव-मन की 'सुन्दरम्' की अभिव्यक्ति हैं परन्तु इस सुन्दरम् में सत्यान्वेषण तथा शिवसंकल्प भी, अंग रूप में, गृहीत होते हैं। आधुनिक युग के यूरोपीय कवियों में 'विशुद्ध काव्य' (प्योर पोएट्री) की खोज केवल सुन्दरम् की अपेक्षा करती हुई चली है परन्तु मानवात्मा में खण्ड नहीं हैं और यह खोज असफल रही है, जैसा पाल वलेरी के काव्य से स्पष्ट है। मानव का सौन्दर्य-बोध बौद्धिक सत्य की अवहेलना नहीं कर सकता और उसे व्यापक रूप से नैतिक अथवा शिवसंकल्पी मूल्यों का उद्घाटन करना अनिवार्य हो जाता है। निरर्थक एवं अहेतुक सौन्दर्य-बोध लक्ष्यभ्रष्ट होकर आत्मघाती सिद्ध हो सकता है। मानव-संस्कृति की ऐतिहासिक प्रगति के साथ मनुष्य के सौन्दर्य-बोध के पहलू ही नहीं बदले हैं, उसके

सत्यम् और शिवम् के मानदण्ड तथा लक्ष्य भी बदले हैं। फलतः काव्य, कला और साहित्य-सम्बन्धी उसकी दृष्टि में मूल्यात्मक परिवर्त्तन होना भी अनिवार्य है। यही कारण है कि वैदिक ऋचाओं का सौन्दर्य-बोध तथा वैदिक रूपकों की भाव-संहृति आज हमें अलभ्य है। यह नहीं कहा जा सकता कि हम काव्यास्वादन की उच्चतर भूमि पर स्थित है, परन्तु रसास्वादन में प्रकारांतर अवश्य लक्षित है। किसी भी स्तर का भाव-संवेदन दूसरे स्तर के भाव-संवेदन से अधिक अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता और नए भाव-बोध में पुरातन भाव-बोध भी अंशतः संश्लिष्ट हो जाते है, परन्तु यह भी सम्भव है कि सांस्कृतिक मूल्यों में इतना अन्तर पड़ जाये कि हम पुरातन युगों की रसात्मक संवेदनाओं से एकदम विच्छिन्न हो जाएँ।

ऐसी स्थिति में किसी मूल संवेदन की खोज न कर हमें अनेक मूल संवेदनों की खोज करनी होगी और उन्हें मानव-मन के ऐतिहासिक विकास-क्रम से जोड़ना होगा। भावना, कल्पना, चिन्तना और कर्म के अनेकानेक सुन्दर और सूक्ष्म योगायोग कालांतर में किस प्रकार काव्य, साहित्य और कला के नए-नए आयाम स्थापित करते है, यह जान कर ही हम आलोचना के शास्त्र का निर्माण कर सकते है। यह शास्त्र मनुष्य के सौन्दर्य-बोध तथा तत्सम्बन्धी विचार-विमर्श का ऐतिहासिक अनुशीलन एवं भावात्मक पुनर्सर्जन मात्र होगा। यह शास्त्र हमें नए सौन्दर्य-बोध को पहचानने के लिए दृष्टि दे सकेगा परन्तु इसके आधार पर न हम किसी सार्वभौमिक कलादृष्टि का निर्माण कर सकेंगे, न नई कृतियों के लिए शास्त्र बना सकेंगे। वास्तव में हिन्दी का अपना आलोचना-शास्त्र उसी प्रकार भ्रम होगा जिस प्रकार हिन्दीप्रदेशीय जन के लिए सत्य, शिव तथा सुन्दर के सम्बन्ध में किसी स्वतंत्र और निजी दृष्टि की अपेक्षा भ्रांति मात्र रहेगी, परन्तु राष्ट्रीय अथवा जातीय सांस्कृतिक चेतनाओं तथा अन्तरंगी मूल्यों को परख कर हम सार्वभौमिक दृष्टियों में से विशिष्ट दृष्टियों को अधिक महत्त्व दे सकेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय काव्य, कला और साहित्य भारतीय संस्कृति के अव्याकृत अंग रहेंगे परन्तु इससे उनकी सार्वभौमिकता पर कोई आघात नही होगा। मानवीय संस्कृति अविच्छिन्न होते हुए भी जिस सीमा तक देश-काल अर्थात् परम्परा में आवद्ध हुई है उसी सीमा तक हम काव्य, साहित्य और कला को भी देशकालज मान सकते हैं। उससे आगे हम नहीं जा सकते।

यह आग्रह अनुचित नहीं है कि हम हिन्दी की श्रेष्ठ कृतियों का विश्लेषण करें और उन मूलगत उपकरणों की खोज करें जो उन्हें विशिष्ट तथा महार्घ बनाते हैं। उनके अन्तरंगी मूल्य और अभिव्यंजना-कौशल हमारे अध्ययन के विषय बन सकते हैं और इस अध्ययन के आधार पर हम हिन्दी साहित्य की प्रमुख तथा मौलिक प्रवृत्तियों की स्थापना कर सकते हैं, परन्तु इन कृतियों के आधार पर हमारे लिए साहित्य तथा काल के अजस्र प्रवाह को शास्त्र में बांधना असम्भव होगा,—अनावश्यक तो वह है ही। प्रत्येक युग की महत्त्वपूर्ण कृतियों को यदि हम परम्परा और परिवेश की भूमि दे सकें और बदलते हुए मानवीय तथा राष्ट्रीय मूल्यों का विकासमान अध्ययन करते रहें तो हिन्दी की शास्त्रीय परम्परा के प्रति हम जागरूक रह सकेंगे। हमारे लिए इतना ही अलम् होगा। शाश्वत और सार्वभौम साहित्यिक मूल्यों के प्रकाश में

यदि हम भारतीय साहित्य-सर्जन का महत्त्व स्थापित कर सकें तथा उसकी स्वतन्त्र एवं निजी चेतना को उद्घाटित कर सकें तो हम अपने साहित्य का ही नवमूल्यांकन नहीं कर सकेंगे, अपनी शास्त्रीय चिन्ता में भी नए अध्याय जोड़ सकेंगे। यह भी सम्भव है कि हम भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के अनुरूप किसी नए सार्वभौमिक साहित्यिक सत्य की उपलब्धि कर लें और उसे समकालीन मनुष्य की समग्रगत साहित्यिक चेतना में अविभक्त रूप से जोड़ने में सफल हो जाएँ। परन्तु इस सम्बन्ध में किसी पूर्व-निश्चित धारणा अथवा मतवादी दृष्टिकोण को लेकर आगे बढ़ना प्रतिक्रियात्मक होगा। नवीन आणविक युग में मनुष्य जिस तीव्र गति से पास आ रहा है और जिस शीघ्रता से उसका मन सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक संवेदनाओं को ग्रहण करने में समर्थ हो रहा है, उससे यह निश्चित है कि मानव-संस्कृति की भाँति मानव-साहित्य की भी एक सम्पूर्ण एवं अखण्डित इकाई भविष्य में सम्भव हो सकेगी। इस इकाई में भारतीय सर्जन और साहित्य-चिन्ता का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान होगा परन्तु उसका वैशिष्ट्य किसी का भी विरोधी न होकर सबका पूरक होगा। पूर्णता के इसी आदर्श को लेकर हम स्वतन्त्र आलोचना-शास्त्र की आवश्यकता पर विचार करें तो सम्भवतः हम अतिवाद से बचें। केन्द्र से परिधि की ओर निरंतर बढ़ते हुए वृत्तों के रूप में ही साहित्यिक मूल्य स्थापित किये जा सकते हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए हम साहित्यिक परिपाटियों के विकास को देश-काल की पृष्ठभूमि दे सकते हैं, परन्तु उनका महत्त्व सार्वभौमिक रहेगा और वे देशकालनिष्ठ मानव की अभिव्यक्ति न होकर अखिल मानव की अभिव्यक्ति होंगे। जीवन की भाँति साहित्य भी *विराट् की चिन्मय अभिव्यक्ति है। उसमें आवर्त-विवर्त हैं, भेद-प्रभेद हैं परन्तु उनके* नीचे अनन्त आनन्द की समरस भूमि है। उसी महानंद को हम अक्षर-जगत के चैतन्य, माधुर्य और सौन्दर्य में खोजें, परिभाषाओं के लौहपाश से मुक्त हों। तभी हमारा साहित्य-चिन्तन मानवीय बनकर सार्थक होगा और वह स्वतन्त्र शास्त्र की खोज पर समाप्त न होकर मनुष्य के निरन्तर वर्द्धमान सौंदर्य-बोध का प्रतीक बनेगा। हिन्दी का साहित्य-शास्त्र भारतीय साहित्य-शास्त्र से भिन्न नहीं हो सकता क्योंकि उसके मूल में भारतीय जीवन-दृष्टि और सौन्दर्य-बोध के भारतीय 'मान' रहेंगे। भारतीय विचारधारा जीवन की लोकोत्तरता के प्रति आग्रही है और भारतीय सौन्दर्य-बोध नैतिकता-मूलक तथा आदर्शोन्मुख है। इन मूलाधारों से जितने भी शास्त्रीय निष्कर्ष हम निकाल सकें, निकाल लें परन्तु इन कतिपय विधि-निषेधों के सहारे विभिन्न साहित्य विधाओं के लिए शास्त्र-कोटि की रचनाएँ हम तैयार नहीं कर सकते। विश्व-साहित्य में भारतीय साहित्य के योगदान के अनुरूप ही हमारे साहित्यिक मूल्य सार्वभौम साहित्य-चिन्ता का अंग बन सकेंगे। स्वतन्त्र मूल्यों का आग्रह हमारे योगदान में निश्चय ही बाधक होगा। साहित्य-सर्जन की भाँति साहित्य-चिन्ता के क्षेत्र में भी हमें राष्ट्र से बड़ी इकाई को ध्यान में रखना होगा। यह इकाई विश्व मानव की इकाई होगी।